244

जयप्रकाश नारायण

मेरी विचार-यात्रा

वीर पुरुष के रूप में तो जयप्रकाशजी को सभी लोग जानते हैं। स्वराज्य के संग्राम में सैनिक और सेनापति के रूप में जिस अतुल पराक्रम और साहसिकता का परिचय उन्होंने दिया, उसकी गाथा वीरकाव्य की तरह रोमांचकारी और हृदयस्पर्शी है। परन्तु सच्चा वीर तो वह है, जिसका हृदय करुणापीयूषपूर्ण और अतएव नवनीत-मृदुल होता है। जयप्रकाशजी के स्वभाव में ऐसी तरलता है जो चट्टानों को भी भेद सकती है।

बुद्धि और हृदय, ऋजुता और प्रांजलता का अद्भुत सामंजस्य उनके व्यक्तित्व में हुआ है। जिस समय जो सत्य देखते हैं, उसे अपने सम्पूर्ण चित से ग्रहण कर लेते हैं। ··· ··· उनके व्यक्तित्व को कोई मतवाद, कोई सम्प्रदाय, कोई संस्था या कोई संगठन अपनी सीमाओं में बाँध नहीं सकता है।

मेरी विचार-यात्रा

5/35
244
Autobiography

सादर भेंट

●

जयप्रकाश नारायण

●

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-१

प्रकाशक
मन्त्री, सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,
राजघाट, वाराणसी-१

लेखक
जयप्रकाश नारायण

सम्पादन-संकलन
कान्तिभाई शाह

विषय
लोकनीति

संस्करण
प्रथम, सितम्बर, १९७३

प्रतियाँ
३,०००

मुद्रक
ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय,
वाराणसी ७१६९-३०

मूल्य
साधारण संस्करण : रु० ४.००
पुस्तकालय संस्करण : रु० ६.००

MERI VICHAR-YATRA
•
JAYAPRAKASH NARAYAN

Price Rs. 4.00
Lib. Ed. Rs. 6.00

प्रकाशकीय

जयप्रकाशजी की 'मेरी विचार-यात्रा' हिन्दी पाठकों तक पहुँचाते हुए हमें सन्तोष और प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस रचना के संकलन, सम्पादन तथा उद्देश्य के विषय में भाई श्री कान्तिभाई शाह ने अपने सम्पादकीय में पर्याप्त स्पष्टीकरण कर दिया है, अतः उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

गुजराती में यह पुस्तक पिछले वर्ष श्री जयप्रकाशजी के ७१वें जन्म-दिन के अवसर पर प्रकाशित हो गयी थी। सम्पादक ने अधिकांश सामग्री जयप्रकाशजी द्वारा लिखित अथवा प्रसारित हिन्दी और अंग्रेजी से ही जुटायी है और हम चाहते थे कि यथासम्भव यह मूल हिन्दी सामग्री ही पाठकों तक पहुँचे। इस प्रयास में कुछ समय बीत गया और अनुवाद का सहारा लेना पड़ा। अनुवाद वाराणसी के श्री गोपालदास नागर से कराया गया और उसे विषय से सम्बद्ध तथा मूल के निकट लाने की दृष्टि से श्री रामचन्द्र राही ने पर्याप्त सामग्री जुटाने और मूल के निकट ले जाने में काफी श्रम किया है।

श्री कान्तिभाई शाह का इस प्रकार के सम्पादन-संकलन का यह दूसरा प्रयास है। इसके पूर्व 'गांधी : जैसा देखा-समझा' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है, जिसका खूब स्वागत हुआ है। विनोबाजी का आशीर्वाद तथा स्वीकृति पाकर कान्तिभाई ने यह संकलन प्रस्तुत कर भारतीय लोकनीति के वैचारिक क्षेत्र का बड़ा उपकार किया है। हम उनके हृदय से आभारी हैं।

जयप्रकाशजी की विचार-यात्रा विभूतिसम्पन्न है, निरन्तर विकासशील है और दुनियाभर की राजनीति के तथा मतवादों की मृगमरीचिका में भटकनेवालों के लिए प्रेरक और उद्बोधक है, सम्यक् मार्ग प्रशस्त करनेवाली है। साधारण हिन्दी जाननेवाला पाठक भी इस विचार-यात्रा के कतिपय पड़ावों पर समाधान की शीतलता तथा सम्यक्-बोध की मधुरता का अनुभव करता हुआ जयप्रकाशजी के साथ-साथ समरस होकर आगे बढ़ता जाता है—स्वच्छ निर्झर की भाँति !

सर्वोदय विज्ञान-युग की प्रशस्त और व्यापक विचार-प्रणाली है, जिसमें लोक-हित की सम्पूर्ण सम्भावनाएँ आज परिलक्षित हो रही हैं। इस दृष्टि से यह रचना सबके लिए उपयोगी, कल्याणप्रद और सबकी ध्येय-यात्रा के लिए पोषक पाथेय है, इसमें सन्देह नहीं।

आदरणीया दीदी प्रभावतीजी अब इस संसार में नहीं रहीं। गुजराती संस्करण तो उन्होंने पढ़ लिया था, किन्तु यह हिन्दी संस्करण उनके सामने प्रकाशित न हो सका, इसका हमें खेद है। फिर भी दिवंगत दीदी की आत्मा का स्नेहिल आशीर्वाद हमारे साथ है, यह हमारे लिए बड़ा सम्बल है।

आशा है, विभूतिकल्प व्यक्तित्व की इस समृद्ध विचार-यात्रा का सर्वत्र स्वागत होगा।

सम्पादकीय

सन् १९४२ के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय इस देश की जनता में जयप्रकाश का बोलबाला था। युवकों पर तो इनके नाम का जादू जैसा असर था। जेल की दीवालें फाँदीं, शस्त्र-भण्डारों पर छापे मारे, 'आजाद दस्ते' खड़े किये, अण्डर ग्राउण्ड (Under Ground) रहकर सरकार के नाकों दम कर दिया, इनका 'सिर' लाने के लिए इनाम घोषित करना पड़ा—इन सारी पराक्रमपूर्ण गाथाओं ने जनता का हृदय हर लिया था।

इसके बाद, एक समय इनका नाम जवाहरलाल नेहरू के अनुगामी के रूप में लिया जाता रहा। सन् १९४८ में एक बार स्वयं जवाहरलालजी ने कहा था कि "जयप्रकाश भारत के भावी प्रधानमन्त्री हैं।" स्वराज्य-प्राप्ति के बाद विविध समस्याओं में अपनी ज्वलन्त उत्कटता, सूक्ष्मता, निर्भीकता और विशाल दृष्टि के साथ दिलचस्पी लेकर जयप्रकाश जन-जीवन में एक अग्रगण्य नेता के रूप में उभरकर सामने आये। सन् १९५३ में नेहरूजी ने उन्हें केन्द्रीय सरकार में आने का निमन्त्रण भी दिया था।

इस तरह जब वे विनोबाजी के भूदान-आन्दोलन में दिलचस्पी लेने लगे और धीरे-धीरे उसीमें अधिक-से-अधिक हिस्सा लेने लगे, सन् १९५४ में अहिंसक क्रान्ति के लिए अपना जीवनदान घोषित किया और पार्टी तथा सत्ता की राजनीति को सदा के लिए तिलाञ्जलि दे दी, तब वह चीज जयप्रकाशजी की जो सर्वसाधारण लोकप्रिय 'इमेज' उस समय जनता के मन में खड़ी हुई थी, उससे बिलकुल भिन्न थी। तभी से, वर्षों तक, शायद आज भी, इस विषय में प्रश्न उठते रहते हैं कि आपने राजनीति क्यों छोड़ दी है? आप राजनीति में पुनः क्यों नहीं लौटते हैं? सचमुच ही क्या अब आपका राजनीति से छूने-छवाने का भी सम्बन्ध नहीं रहा?

ऐसे सवाल उठते रहे हैं। और, दूसरी ओर जयप्रकाशजी परम्परागत राजनीति से भिन्न लोकनीति के विकास के बुनियादी काम में लग गये हैं। साथ ही साथ इस लोकनीति के ही स्वाभाविक सिलसिले में स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए आम प्रश्नों के विषय में वे अपने मन्तव्य भी निरन्तर व्यक्त करते रहे हैं। अब, राजनीति और लोकनीति-विषयक अन्तर तुरन्त जनता की समझ में आया नहीं तथा पुरानी इमेज भी धुल-पुँछ नहीं गयी, इस कारण पर्याप्त गलतफहमी भी होती रही है और प्रश्न उठते रहे हैं: आपने राजनीति छोड़ दी है, फिर भी राजनैतिक प्रश्नों के बारे में आप बार-बार क्यों बोलते रहते हैं? क्या आप अब भी प्रधानमन्त्री बनने के सपने देखते हैं?

तो, कभी-कभी उनके अमुक मन्तव्य पारम्परिक खयालों से इतने भिन्न या स्वतन्त्र होते हैं कि जल्दी से लोगों के गले नहीं उतरते। और तब कभी-कभी

ऐसे प्रत्याघात भी उठते रहे हैं : जयप्रकाश तो सर्वस्व का दान कर देने की बात करते हैं ! जयप्रकाश देशद्रोही हैं ! जयप्रकाश को भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार करना चाहिए !

तदुपरान्त, राजपथ के बदले जनपथ पर मुड़े हुए जयप्रकाशजी के इस नये कार्य के विषय में भी समुचित समझ और कद्र देखने में नहीं आती । एक समय का उद्दाम क्रान्ति का यह मशालधारी भारत में धूल और गर्द से भरे गाँवों में अहिंसक क्रान्ति की आशा-चिनगारी की ऐसी किस खोज के पीछे पड़ा है—इस विषय में गलतफहमी नहीं तो अत्यन्त कुतूहल तो आज भी अनेक लोगों के मन में है । कुछ तो इन्हें 'पथभ्रष्ट क्रान्तिवीर' कहकर इतिहास की इस करुणता के प्रति अफसोस व्यक्त करते हैं । कुछ लोगों को यह 'पानी का मथना' लगता है और उन्होंने मान लिया है कि इसमें से कुछ निष्पन्न होनेवाला नहीं है । कुछ लोग पूछते हैं कि देश की 'मेन स्ट्रीम' से अलग होकर इस तरह एक कोने में क्या पड़े हो ? राज्य-सत्ता के बिना कहीं कुछ होनेवाला है ?

बार-बार उठते रहनेवाले ऐसे सारे सवालों का समाधान करने का प्रयत्न जयप्रकाशजी ने हमेशा किया है । इनका ऋजु हृदय हमेशा सामनेवाले की बात समझने तथा अपनी बात समझाने के लिए आतुर रहता है । परन्तु पाँच-दस मिनट की बातचीत में या एक-दो घण्टे के भाषण में अथवा एकाध लेख में यह सब शायद ही समझाया जा सकता है । इसीलिए जयप्रकाशजी ने स्वयं ही अनेक बार कहा है कि 'यह चीज ही इतनी नयी है कि सारी बात स्पष्टतापूर्वक समझाने के लिए एकाध पुस्तक ही लिखनी पड़े !' परन्तु खचाखच काम के बीच उनके पास इतना समय कहाँ ?

यह पुस्तक तैयार करने के पीछे यही मूल आशय और दृष्टि रही है । जयप्रकाशजी की पूरी बात समग्र रूप से एक छोटी-सी पुस्तक में समाज के समक्ष आ जाय, ऐसा प्रयत्न इसमें किया गया है । मानव-मुक्ति जयप्रकाशजी के जीवन का स्थायी ध्रुवतारा रहा है । इस मुक्ति के लिए ही वे ठेठ अंग्रेजों के समय से आज तक लगातार पुरुषार्थ करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं । मुक्ति की यह कल्पना समय के प्रवाह के साथ अधिक-से-अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म बनती जा रही है और इस मुक्ति की सिद्धि के लिए साधन भी शुद्धातिशुद्ध होते जा रहे हैं । मुक्ति की यह खोज ही इन्हें अन्ततः साम्यवाद और समाजवाद से सर्वोदय तक ले आयी है और आज उन्हें यह दृढ़ प्रतीति हो गयी है कि गांधी-विनोबा द्वारा इंगित सर्वांगीण मानवीय क्रान्ति के मार्फत ही अपनी यह मानव-मुक्ति की आकांक्षा सिद्ध हो सकती है—यह सारी बात समग्रतया सुग्रथित रूप में प्रस्तुत करने की यहाँ कोशिश की गयी है ।

जब कोई बात इन्हें सत्य लगती है, तब उसके विविध पहलुओं को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने की और उसके समर्थन में जितनी सम्भव हो उतनी दलीलें तर्कबद्ध रीति से पेश करने की कला जयप्रकाशजी में है । परन्तु इसका कारण यह नहीं है कि वे कोई प्रखर वकील या प्रचारक हैं, लेकिन वे एक सरल, सहृदय और अत्यन्त meticulously—सजगता और सूक्ष्मता से काम करनेवाले व्यक्ति हैं । अतः जब उन्हें कोई बात समझ में आ जाती है, तो उसके साथ वे एकरूप हो जाते हैं और फिर अपना समस्त चित्त और प्राण उँड़ेलकर उसका वे अनुशीलन

करते हैं तथा उद्‌बोधन करते हैं । इसलिए सर्वोदय-आन्दोलन का जो समग्र चित्र आज उनके मन में है, उसकी सुन्दर झलक भी इस पुस्तक में पाठकों को मिलेगी ।

× × ×

इस पुस्तक की रचना के विषय में दो शब्द कहना जरूरी है । इसमें जो कुछ है, वह सारा जयप्रकाशजी का ही है । सम्पूर्ण पुस्तक उनके अपने ही शब्दों में है । कहीं-कहीं एकाध दो शब्द या दो-एक वाक्य संकलन के खातिर जोड़े गये हैं । जयप्रकाशजी के लगभग डेढ़ सौ भाषणों, लेखों, वक्तव्यों, पुस्तकों आदि पर से सम्पादन करके यह पुस्तक तैयार की गयी है । फिर भी यह पुस्तक इन १५० वक्तव्यों का संकलन या समुच्चयमात्र नहीं है । प्रत्येक प्रकरण इस सामग्री में से तैयार हुआ परिपाकरूप है ।

सम्पादन के पीछे दृष्टि यह रही है कि अन्त में जो तैयार हो, वह मिश्रण जैसा नहीं, बल्कि रासायनिक संयोजन जैसा हो, जैसे कि आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर पानी बनता है । दाल और चावल को एक जगह इकट्ठा किया है ऐसा नहीं, बल्कि दोनों को एक साथ पकाकर उसमें से एकरस खिचड़ी बननी चाहिए ।

प्रत्येक प्रकरण किन-किन वक्तव्यों से तथा लिखित सामग्री से तैयार हुआ है, उसकी सन्दर्भ-तालिका पुस्तक के अन्त में जोड़ दी गयी है। वह केवल सूचीपत्र है। (प्रत्येक प्रकरण में कौन-कौन सा अंश कहाँ-कहाँ से लिया गया है, उसके अलग-अलग सन्दर्भ मेरे पास अवश्य हैं । किसी जिज्ञासु को आवश्यकतानुसार वे बताये जा सकते हैं । परन्तु पुस्तक में इसका ब्योरा देना उचित नहीं लगा, क्योंकि एक-एक प्रकरण में साधारण रूप से ४०-५० और ३-४ प्रकरणों में तो १००-१५० तक जोड़ बैठाये गये हैं । इन सब जोड़-स्थलों का सन्दर्भ यहाँ देने पर व्यर्थ विस्तार बढ़ता तथा सामान्य पाठकों के लिए यह चीज पढ़ने में बाधक बनती । इसीलिए यहाँ केवल तालिका ही दी गयी है ।)

अस्तु, इस प्रकार पुस्तक में जयप्रकाशजी के शब्दों में ही सारी सामग्री प्रस्तुत हुई है; लेकिन यह प्रस्तुतीकरण सम्पादक के चित्त में तैयार हुए नक्शे के अनुसार है । जयप्रकाशजी की अपनी भूमिका क्या है और उनका सर्वोदय-दर्शन कैसा है, इस विषय में सम्पादक के चित्त में जैसी छाप पड़ी, वैसा प्रस्तुतीकरण यहाँ हुआ है । इसलिए प्रस्तुतीकरण की सम्पूर्ण जवाबदारी सम्पादक की है । मूल वक्तव्य एवं लेख नये ही सन्दर्भ में तथा नये ही पूर्वापर सम्बन्ध के साथ यहाँ प्रस्तुत हुए हैं, इसके कारण सम्पादकीय कमी अथवा क्षति के लिए गुंजाइश हो सकती है । ऐसा कुछ प्रतीत हो तो विज्ञ पाठकों से उसकी ओर ध्यान खींचने की प्रार्थना है ।

इसमें अधिकृतता का प्रश्न भी उठता है । इस प्रकार के कुछ नवीन ढंग के सम्पादन का मेरा यह दूसरा प्रयोग है । इसके पूर्व मैंने 'गांधी : जैसा देखा-समझा विनोबा ने' का सम्पादन किया है । इसमें गांधीजी के विषय में विनोबाजी का समग्र रूप से जो कुछ कहना है, उसकी झलक है । इस पुस्तक के विषय में कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया था । उस बारे में विनोबाजी के साथ बात हुई । उन्होंने कहा : "सम्पादन का यह प्रयत्न बहुत ही अच्छा है, लाभदायी है । अधिकृतता का प्रश्न उठानेवाले से कहना कि बाबा इस पुस्तक को देख चुके हैं और उन्होंने

इसे अपनी स्वीकृति दी है, आशीर्वाद दिया है।" इसी प्रकार जयप्रकाशजी भी इस पुस्तक को देखकर इसे अपनी मान्यता प्रदान कर देंगे तो फिर अधिकृतता का प्रश्न नहीं रहेगा।

इस पुस्तका का स्वरूप Collected works—सर्वसंग्रह अथवा आत्म-कथा या जीवन-चरित्र जैसा नहीं है। इसलिए इसमें जयप्रकाशजी के सभी विचार नहीं आते हैं। फिर भी जयप्रकाशजी के आज के मुख्य-मुख्य सारे विचारों का समावेश हो जाता है, ऐसी धारणा है। तदुपरान्त इसमें पिछले बीसेक वर्षों के दरम्यान व्यक्त विचार ही मुख्य रूप से ग्रथित हैं। इसका कारण यह है कि जयप्रकाशजी के विचारों में निरन्तर विकास होता रहा है। और कुछ विषयों में तो इस हद तक परिवर्तन होता रहा है, जैसे रेशम के कीड़े का रूपान्तर पतिंगा में हो जाता है। अतः गांधीजी की तरह जयप्रकाशजी के भी अन्तिम विचार ही प्रमाण मानने पड़ेंगे।

यह (गुजराती) संस्करण जयप्रकाशजी के ७१वें जन्म-दिन ११ अक्तूबर '७२ को समाज के समक्ष रखते हुए आनन्द हो रहा है। उन्होंने अब एक वर्ष तक सम्पूर्ण विश्राम तथा सार्वजनिक कार्यों से कामचलाऊ निवृत्ति लेना तय किया है। इस बीच कुछ लिखने का उनका इरादा है। तब इस समय के उनके विचारों का ऐसा एक संक्षिप्त संकलन Brief के रूप में भी शायद उपयोगी होगा।

इस पुस्तक के सम्पादन के निमित्त जयप्रकाशजी के तथा सर्वोदय-आन्दोलन के विचारों का स्वयं मुझे काफी निकट से परिचय हुआ है और इससे मुझे काफी लाभ हुआ है। इसलिए आशा है कि जयप्रकाशजी तथा सर्वोदय-आन्दोलन को और अच्छी तरह समझने में यह पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी साबित होगी।

वडोदरा
५-१०-'७२

–कान्ति शाह

विभूतिसम्पन्न विचार-यात्रा

इस छोटी-सी पुस्तक में हमारे देश के एक अनुपम व्यक्तित्व की आभा प्रकट हुई है। श्री जयप्रकाश नारायण का व्यक्तित्व विभूतिकल्प है। यह एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसमें विभूति के अनेक आयाम या परिमाण विद्यमान हैं। अद्भुत रम्यता के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व में इन्द्रधनुष-सी लुभावनी विविधता है। जयप्रकाशबाबू केवल जनता के बसीठ (दूत) ही नहीं हैं, उस हैसियत से भी आज हमारे देश में उनका व्यक्तित्व अद्वितीय है। वे केवल अ-पक्ष नागरिक ही नहीं हैं, अपितु निष्पक्ष लोकनिष्ठ व्यक्ति हैं। प्रचण्ड समूह या विशाल समुदाय के उपासक मात्र नहीं, लोकात्मा के जागृत प्रहरी हैं। इधर कुछ वर्षों से लोकात्मा और विश्वात्मा के अभेद का साक्षात्कार प्रत्यक्ष लोक-जीवन में करने की साधना उन्होंने की है। इसीलिए वे भारतीय नागरिक के साथ-साथ विश्व-नागरिक हैं और विश्व-मानव भी हैं। उनका निज देश अब क्षितिजव्यापी हो गया है। इसी कारण आज वे लोगों के अनिर्वाचित, स्वयंसिद्ध प्रतिनिधि माने जाते हैं। श्री चिन्तामणिराव देशमुख ने ठीक ही कहा है कि जयप्रकाशजी लोकात्मा के अभिभावक हैं। एमर्सन ने कहा है कि जो बड़े होते हैं, उनके विषय में हमेशा गलतफहमी हुआ करती है। इस अर्थ में जयप्रकाशजी का व्यक्तित्व जितना विवादग्रस्त है, उतना ही मनोरम भी है। उनका विरोधी या शत्रु कोई विरला ही होगा। अधिकतर विरोधियों की यही आकांक्षा होती है कि ये हमारे साथ होते तो अच्छा होता। ऐसे विरोध में भी गर्भित प्रशंसा रहती है, ऐसी आलोचना में भी गौरव निहित होता है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने उन्हें पहले-पहल १९३३ या '३४ में नागपुर में श्री पी० वाई० देशपाण्डे के यहाँ देखा। पहली ही भेट में प्रभावित करने का गुण उनके व्यक्तित्व में है। यों वे शास्त्रीय अर्थ में रूपवान् नहीं कहे जा सकते; लेकिन कुल मिलाकर उनकी मुखमुद्रा में एक मधुरता है, एक सुभगता का भाव है। नीलोत्पलवत्श्यामवर्ण–नील कमल जैसा साँवला रूप उस सुभगता को बढ़ाता है। उसके बाद जब-जब उनसे मिलने का सुयोग हुआ, मेरे चित्त पर यह जो प्रथम प्रभाव पड़ा था, वह दृढ़ होता गया।

पी० वाई० देशपाण्डे के यहाँ समाजवाद का विवेचन करते हुए उन्होंने जो विश्लेषणात्मक भाषण किया, उसमें उनकी प्रतिभा की झाँकी मुझे दिखाई दी। अंग्रेजी में जिसे 'प्री-पझेसिंग प्रेजेंस' (मन्त्रमुग्ध करनेवाला अस्तित्व) कहते हैं, उस तरह का कुछ प्रभाव उनकी पहली ही भेट में मेरे चित्त पर पड़ा।

वीर पुरुष के रूप में तो उन्हें इस देश के सभी लोग जानते और मानते हैं। स्वराज्य-संग्राम में सैनिक और सेनापति के रूप में जिस अतुल पराक्रम और साहसिकता का परिचय उन्होंने दिया, उसकी गाथा वीर-काव्य की तरह रोमांचकारी और हृदयस्पर्शी है। परन्तु सच्चा वीर तो वह है, जिसका हृदय करुणापीयूष से छलकता है और इसी तरह जो नवनीत जैसा अतीव मृदुल होता है। जयप्रकाशजी के स्वभाव में ऐसी सरलता है, जो चट्टानों को भी भेद सकती है। प्रसंग आने पर उनमें आवेश और रोष भी जाग्रत होता है। लेकिन उसके मूल में करुणा की ही सहज प्रेरणा होती है। इसीलिए वस्तुतः उनके आवेश या रोष में से प्रायः अशुभ परिणाम नहीं निकलते। बुद्धि और हृदय, ऋजुता और प्रांजलता का अद्भुत सामंजस्य उनके व्यक्तित्व में हुआ है। जिस समय जो सत्य वे देखते हैं, उसे अपने सम्पूर्ण चित्त से ग्रहण कर लेते हैं। उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्राणपण से जुट जाते हैं। लेकिन दूसरे की बात समझने के लिए नित्य तत्पर रहते हैं। इसीका यह परिणाम है कि उनके व्यक्तित्व को कोई मतवाद, कोई सम्प्रदाय, कोई संस्था या कोई संगठन अपनी सीमाओं में बाँध नहीं सका है। वे पुरानी कांग्रेस में रहे, समाजवादी और साम्यवादी भी रह चुके हैं और अब सर्वोदयी हैं। लेकिन उनका व्यक्तित्व इनमें से किसी विचार-धारा से सीमित नहीं हो सका। आज भी वे सर्वोदय का प्रतिनिधित्व करते हैं, फिर भी उनका व्यक्तित्व वहीं तक परिमित नहीं है। वे सर्वोदय के प्रतिनिधि तो हैं ही, लेकिन उससे बहुत कुछ अधिक भी हैं। इसीलिए नये विचारों को ग्रहण करने में और पुरानी विचार की शृंखला तोड़ने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। उनके व्यक्तित्व की सजीवता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है।

समाजवाद के अग्रगण्य भाष्यकार इंग्लैण्ड के मेकडोनाल्ड ने समाजवाद-विषयक अपनी प्रथम पुस्तक में एक जगह लिखा है कि राष्ट्र के महापुरुषों का इतिहास रोमांचक इतिहास है। हमारे देश में समाजवाद के विकास के इतिहास का परिशीलन करने के लिए जिन चरित्रों का अवलोकन करना होगा, उनमें जयप्रकाशजी का स्थान अग्रगण्य है।

रंगून में समाजवादी परिषद् के मंच पर से जयप्रकाशजी ने कहा था : "भावी समाजवादी क्रान्ति की विभूति मजदूर नहीं, किसान होगा।" परम्परागत समाजवादी विचार में यह बहुत बड़ा फर्क है।

वैज्ञानिक समाजवाद की प्रगति में अब हिंसा को कोई स्थान नहीं, यह घोषणा करने में जयप्रकाशजी सर्वप्रथम थे। लोकतान्त्रिक समाजवाद के नेताओं ने भी इस प्रकार घोषणा की थी। परन्तु वैज्ञानिक क्रान्तिकारी समाजवादी के नाते यह महत्त्वपूर्ण घोषणा करने में जयप्रकाशजी प्रथम थे। समाजवादी आन्दोलन के अध्वर्यु की हैसियत से उन्होंने कहा भी था कि भौतिक कारणों में से सदाचार की प्रेरणा (इन्सेन्टिव टु गुडनेस) नहीं मिल सकती। भौतिक प्रेरणा से परे, अन्य मूलभूत मानवीय प्रेरणा की ओर कदम बढ़ाने होंगे। इसमें समाजवाद का आधुनिकतम वैज्ञानिक स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

भारतीय समाजवादी पक्ष स्थापित करते समय जयप्रकाशजी ने 'ह्वाय सोशलिज्म' (समाजवाद क्यों?) पुस्तक लिखी। उसमें गांधीवाद की कड़ी आलोचना के साथ समाजवाद पर किये गये आक्षेपों के उत्तर भी थे। एक आक्षेप था, समाजवाद को मनुष्य में विश्वास नहीं है। उत्तर में जयप्रकाशजी ने लिखा था कि समाजवाद की बुनियादी मान्यता की जड़ में यदि मनुष्य में विश्वास न होता, तो पूरी सत्ता और सम्पत्ति थोड़े लोगों के हाथों सौंपने की बात वह कर ही कैसे सकता? मजदूर और किसानों की तानाशाही में, सत्ता और सम्पत्ति उनके नेताओं के हाथों में ही रहेगी। मनुष्य की मूलभूत सत्प्रवृत्ति में यदि विश्वास न होता, तो यह कैसे सम्भव होता? इसी मतलब का उत्तर उन्होंने दिया था। अर्थात् उस समय भी उनके विश्वास का आधार केवल भौतिक प्रेरणाएँ नहीं थीं।

इस तरह, जयप्रकाशजी के व्यक्तित्व के विकास में हमारे देश के समाजवाद के विकास का दर्शन होता है। उनके पदार्पण से सर्वोदय-विचार अधिक वैज्ञानिक, अधिक समृद्ध और मानवीय दृष्टि से अधिक आध्यात्मिक बना है।

उनके एक गण्यमान्य मित्र ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि जयप्रकाश का जीवन खोये हुए अवसरों की कहानी है। सच तो यह है कि वे कभी अवसरों की खोज में रहे ही नहीं। परिस्थिति में अपने-आप अवसर पर अवसर सामने से चलकर उपस्थित होते रहे। उनसे अपने लिए लाभ उठाने की नीयत ही इनमें कभी पैदा नहीं हुई। ईसा ने कहा है : "जो अपने जीवन का उत्सर्ग करता है, उसीको जीवन की यथार्थ में उपलब्धि होती है।" कुछ

लोगों ने यह भी कहा है कि "जे० पी० हमेशा बस चूकते ही गये हैं।" हकीकत तो यह है कि उन्होंने किसी बस (Bus) की प्रतीक्षा ही नहीं की ! तिब्बत, कश्मीर, नागालैण्ड, बांगलादेश, भारत-पाकिस्तान-सम्बन्ध आदि कई समस्याओं के समाधान के लिए उन्होंने केवल अपने प्राण ही संकट में नहीं डाले, अपितु अपनी सारी प्रतिष्ठा और राजनैतिक कार्यकलाप को भी दाँव पर लगा दिया। जहाँ किसी प्रकार के स्वार्थ का भान ही नहीं, वहाँ अवसर खोने का भय भला कैसे हो सकता था ?

जयप्रकाशजी की पराक्रम-यात्रा जितनी उदात्त, रम्य और मनोज्ञ है, उतनी ही उनकी विचार-यात्रा भी है। पराक्रम-यात्रा में क्रान्तिकारी जयप्रकाशजी की वृत्ति सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग का अनुसरण करने में जिस प्रकार कहीं कुण्ठित नहीं हुई, उसी प्रकार जब से उन्होंने शान्तिमय क्रान्ति की प्रक्रिया को बुद्धिपूर्वक अंगीकार किया, तब से उस मार्ग में उनकी वीर-वृत्ति की गति अकुण्ठित ही रही है। अकुतोभय-वृत्ति वीरता का अन्यतम लक्षण है। जब वे कश्मीर के मामले में और अक्साई चीन के मामले में लोकमत के प्रवाह के विरोध में अपना मत व्यक्त करने लगे, उस वक्त दिल्ली की एक सार्वजनिक सभा में कुछ लोगों ने उनको सबक सिखाना चाहा। उस सभा में जो आतंक का वातावरण था, उसे देखकर कुछ तथाकथित शान्ति-सैनिकों ने अपने पीले दुपट्टे भी छिपा लिये थे ! परन्तु जयप्रकाशजी तनिक भी विचलित नहीं हुए। इससे ठीक दूसरी तरह का प्रसंग श्रीनगर में था, जब उन्होंने शेख अब्दुल्ला की उपस्थिति में कश्मीर की जनता से कहा कि कश्मीर की समस्या का हल भारतीय संघ-राज्य से बाहर किसी हालत में सोचा नहीं जा सकता।

इस तरह अकुतोभय-वृत्ति उनकी कर्म-यात्रा की तरह उनकी विचार-यात्रा के लिए भी उतनी ही लागू होती है। वे जिस विचार को पकड़ते हैं, उसे सम्पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण करते हैं। परन्तु उनकी निष्ठा जिज्ञासा का अन्त नहीं कर पाती है। उनकी जिज्ञासा तो अबाधित ही रहती है। इसलिए अपने मत का अभिनिवेश होते हुए भी उनकी बुद्धि में आग्रह ठहर नहीं पाता। अनाग्रह ही तो बुद्धिमत्ता का अनन्य लक्षण है। दूसरे की भूमिका समझने की तत्परता जयप्रकाशजी की बुद्धिनिष्ठा का स्थायी भाव है। फलतः उनके स्वभाव में उत्कटता होते हुए भी असहिष्णुता नहीं है। इसीका शुभ परिणाम निकला है कि नये विचार ग्रहण करने की क्षमता उनकी बुद्धि में से कभी तिरोहित ही नहीं हुई।

अनाग्रह के कारण ही उनका सौहार्द और सहृदयता मतभेदों को चीरकर प्रतिपक्षी के भी हृदय का स्पर्श करती है। जयप्रकाशजी के स्वमत प्रतिपादन का आवेश कभी-कभी असहिष्णुता की सीमा का स्पर्श करता-सा प्रतीत होता है, लेकिन उनके हृदय की उदारता सारे मतभेदों को लाँघकर मानवीय सम्बन्धों को ही परिपुष्ट करती रहती है। डॉ० लोहिया से उनके कई बार वाद-विवाद हुए। काफी कटुता भी पैदा हुई, लेकिन चित्त की गहराई में जो सौहार्द था, वह तो अक्षुण्ण ही रहा। डॉक्टर लोहिया की मृत्यु के समय वह प्रकट हुआ। किसी भी प्रकरण में तथ्यों की खोज करने की एक अदम्य आकांक्षा भी उनको क्षुद्र मताग्रह से हमेशा बचाती रही है। साधारणतः साम्यवादियों के लिए उनके मन में बहुत श्रद्धा या विश्वास नहीं है। फिर भी पिछले चुनावों के बाद ज्योति बसु ने जब कुछ गम्भीर आरोप सत्तारूढ़ पक्ष पर किये, तब जयप्रकाशजी वास्तविक परिस्थिति की खोजबीन के लिए बिना किसी हिचकिचाहट के तैयार हो गये।

परम्परागत अर्थ में जयप्रकाशजी उन व्यक्तियों में से नहीं हैं, जिन्होंने सत्य की खोज को अपने जीवन का प्रयोजन माना हो। लेकिन वस्तुनिष्ठा और सत्यनिष्ठा के विषय में उनकी भूमिका सराहनीय रही है। नतीजा यह है कि बुद्धि ने जिस समय जिस सत्य का ग्रहण किया, उसमें उनकी अहंता कभी आड़े नहीं आयी। चाण्डिल के सर्वोदय-सम्मेलन (१९५३) में विनोबा का अविस्मरणीय प्रवचन सुनने के बाद उन्होंने भरी सभा में घोषणा की कि मेरे सारे सन्देह अशेष हो गये हैं। मैं अपने को विनोबा का शिष्य कहलाने के लिए तैयार हूँ। इस प्रकार की निरहंकारिता के कई उदाहरण उनके जीवन में से दिये जा सकते हैं।

परिस्थिति में जब चुनौती उपस्थित होती है, तो वे सहज प्रेरणा से उसको स्वीकार कर लेते हैं। उसमें उत्तेजना नहीं होती। उनके जीवन में जो स्थित्यंतर आये, उन सभी प्रसंगों में उन्होंने दूरगामी निर्णय भी सहज प्रेरणा या अन्तर्सूझ से ही लिये हैं। विनोबा के आन्दोलन में शामिल होने के बाद पार्टी छोड़ने की बात जब उनसे बार-बार कही जाने लगी, तब उन्होंने कहा : "मैंने अपने जीवन में कोई महान् निर्णय, कोई स्थित्यंतरकारी संकल्प इस प्रकार नहीं किया है। सारे निर्णय सहज प्रेरणा से हुए हैं।" बोधगया के सर्वोदय-सम्मेलन (१९५४) में उन्होंने जब जीवनदान के संकल्प की घोषणा की, तो उससे एक क्षण पहले स्वयं उन्हें भी पता नहीं था कि उनके मुँह से ऐसी किसी घोषणा का उच्चारण होनेवाला है। उन्होंने

मुसहरी जाने का संकल्प भी इसी सहजस्फूर्ति से किया। उनके निर्णय के पीछे कोई नफा-नुकसान का हिसाब या हानि-लाभ का नाप-तौल नहीं था।

उसी प्रकार किसी सामाजिक या राष्ट्रीय संकट के समय जब उन्होंने कुछ निर्णय किये तो वे भी अन्तःस्फूर्ति से किये। जिसे दानवृत्ति या उदारता कहते हैं, उसका विकास उन्हें प्रयत्नपूर्वक नहीं करना पड़ा। दान या उदारता के विचार से पहले उनकी सहानुभूति प्रवृत्त हो जाती है। उनके स्वभाव की इस विशेषता को लक्ष्य करके ही शायद 'इलस्ट्रेटेड वीकली' के सम्पादक ने उनके विषय में लिखा कि "यह शख्स देना ही देना जानता है, लेने या पाने पर दृष्टि ही नहीं जाती।"

बँगलोर में एक दिन एक साधु पुरुष के दर्शनों के लिए उनके साथ जाने का सुयोग मिला, उन महात्मा ने जयप्रकाशजी से बार-बार एक ही बात कही : "आपका हृदय अत्यन्त शुद्ध है।" उन महात्मा की यह बात त्रिवार सत्य है। समाज में ऐसे कई साधुवेशधारी व्यक्ति हैं, जिनका हृदय पालिटिशियन और डिप्लोमेट का होता है। जयप्रकाशजी एक ऐसे गृहस्थ हैं, जिनका हृदय सन्त का है।

जयप्रकाशजी के हृदय में जैसे सन्ततुल्य शुचिता है, उसी प्रकार बाल-सुलभ ऋजुता और सरलता भी है। वे सर्वोदय-आन्दोलन में पहले-पहल आये, तब उन्हें अपने रहन-सहन के कारण बड़ा संकोच होता था। उनके रहन-सहन में विलासिता या प्रसाधनप्रियता नहीं है, लेकिन सदभिरुचि और रसिकता पर्याप्त है। इसलिए उनके रहन-सहन में एक 'एरिस्टोक्रेटिक' ढंग का आभास होता है। यह देखकर कुछ सर्वोदय-कार्यकर्ता कानाफूसी करने लगे। धीरेन्द्रभाई ने 'हजूर-मजूर' शब्द चलाये थे। कार्यकर्ता आपस में कहने लगे कि जयप्रकाशजी का रहन-सहन हजूरों का है। बेचारे जयप्रकाशजी बड़े परेशान हुए। कहने लगे : "तब तो इस जमात में रहने के लायक नहीं हूँ।" बड़ी मुश्किल से उनकी यह परेशानी दूर हुई। वे खुशामद-पसन्द व्यक्ति नहीं हैं। लेकिन शीघ्र प्रसन्न हो सकते हैं। बालक की तरह प्रसन्न भी शीघ्र होते हैं और रूठते भी शीघ्र हैं। उनकी स्फटिक जैसी प्रांजलता के कारण ऐसा होता है। उनके व्यवहार की सुन्दरता और सभ्यता अनुकरणीय है। लेकिन उनके स्वभाव में औपचारिकता का अभाव है। इसलिए उनके स्वभाव-दोष भी बहुत चोट नहीं पहुँचाते।

अदम्य पराक्रमशीलता होते हुए भी महत्त्वाकांक्षा जयप्रकाशजी को छू तक नहीं गयी है। शायद इसीलिए उनके उस विद्वान् मित्र ने उनके जीवन

को 'खोये हुए अवसरों की कहानी' कहा है। ऐसे कम-से-कम दो या तीन अवसरों का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। जब लोगों ने और ऐसे लोगों ने, जिनका लोक-जीवन में प्रभाव है, उनसे साग्रह अनुरोध किया कि वे प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति-पद के लिए खड़े हों, तब उन्होंने बहुत नम्रतापूर्वक और दृढ़तापूर्वक इससे इनकार कर दिया। उस वक्त यह भी कहा कि अहिंसा के लिए जिस हद तक मेरे चित्त में निष्ठा पैदा हुई है, उसका ध्यान रखते हुए मैं इन पदों को स्वीकार नहीं कर सकता। उन्हीं जयप्रकाशजी ने बांगला-देश-प्रकरण के सन्दर्भ में यह भी बिना संकोच के कहा कि शायद मेरी अहिंसा उतनी सम्पूर्ण नहीं है, जितनी कि एक शान्ति-सैनिक की होनी चाहिए। इसलिए मैं शान्ति-सेना से प्रणामपूर्वक हटने को तैयार हूँ। उनके एक बहुत पुराने प्रतिष्ठित समाजवादी मित्र ने उनसे यहाँ तक कहा था कि "आप परिस्थिति के नाप के नहीं साबित हो रहे हैं।" फिर भी उन्होंने बहुत शान्ति से यह समझाने की कोशिश की थी कि उनका सत्ता से बाहर रहना भी क्यों उपयुक्त था। अन्तर्बाह्य प्रामाणिकता वीरवृत्ति की अभिन्न सहचारिणी है। जे० पी० का व्यक्तित्व इस प्रामाणिकता से लबालब भरा है।

जयप्रकाशजी के हृदय की शुद्धता, असीम व्यापकता और अबाधित उदारता का अनूठा परिचय चम्बल-घाटी और बुन्देलखण्ड के बागियों के आत्मसमर्पण प्रकरण में विशद हुआ है। बागियों को मनाने या समझाने के लिए जयप्रकाशजी नहीं गये थे। बागी स्वयंस्फूर्ति से ही उनके पास आत्मसमर्पण करने पहुँचे थे। जब पिछली ३१ मई (१९७२) को बुन्देलखण्ड के बागियों को यह पता चला कि जयप्रकाशजी अस्वास्थ्य के कारण आ नहीं सकेंगे, तो यह विचार हुआ कि किसी अन्य समादरणीय व्यक्ति से उनकी जगह विधि-सम्पन्न करने के लिए कहा जाय, तब बागियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जयप्रकाशबाबू का विकल्प कोई नहीं हो सकता। अगर वे नहीं आ सकते हैं, तो वहाँ जाकर उनके चरणों में आत्मसमर्पण करेंगे। सच तो यह है कि जयप्रकाशजी का व्यक्तित्व लुभावना ही नहीं, अपितु अनुपम है। उनका न कोई विकल्प हो सकता है और न ही प्रति-हस्तक। जहाँ प्रत्यक्ष मानवीय सम्बन्ध का प्रश्न होता है, वहाँ जयप्रकाशजी ही अपना विकल्प और पर्याय हैं।

जयप्रकाशजी जिस काम को स्वीकारते हैं, उसमें अपने को बिना किन्तु-परन्तु के पूरी तरह झोंक देते हैं। उस कार्य को सम्पन्न करने में वे कुछ उठा नहीं रखते। लेकिन उनकी एकाग्रता एकांतिकता में कभी खो नहीं जाती।

एकनिष्ठता के साथ-साथ उनमें निरन्तर सार्वत्रिक सावधानता भी होती ही है। इसलिए देश में या जगत् में घटित होनेवाली किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना के विषय में वे अपना मत बिना भय और संकोच के स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं। उस विषय में कोई सक्रिय कदम उठाना पड़े, तो प्रायः चूकते नहीं हैं।

कुछ लोग उन पर यह आरोप लगाते हैं कि राजनीति में इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से हस्तक्षेप करने में जे० पी० को मजा आता है। वस्तु-स्थिति यह है कि जयप्रकाश ने सत्ता की राजनीति के संकीर्ण क्षेत्र में से लोक-नीति के या लोक-कारण के क्षितिजव्यापी क्षेत्र में पदार्पण किया है, तालाब से निकलकर विशाल समुद्र में अपनी नौका छोड़ दी है। प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति-पद की परिधि और दायरा बहुत ऊँचा और महान् अवश्य है, लेकिन निरुपाधिक नागरिकता का क्षेत्र असीम है। इस दृष्टि से जयप्रकाश-जी का व्यक्तित्व भी व्यापक बनता चला गया है।

जयप्रकाशजी की जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं। उनके पढ़ने से पता चलता है कि उनका जीवन रोमहर्षक घटनाओं से सम्पन्न रहा है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार स्वर्गीय रामवृक्ष बेनीपुरी ने उनकी जो जीवनी लिखी है, वह उपन्यास से भी अधिक रोचक है। परन्तु जयप्रकाशजी कहते हैं कि बेनीपुरीजी ने बहुत अत्युक्ति की है। बातों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। असल में मैं वैसा अद्भुत पराक्रमी वीर नहीं हूँ। यह उनकी नम्रता या विनयशीलता नहीं है। उनकी वास्तविक आत्ममर्यादा है और यही उनके व्यक्तित्व का मेरुदण्ड है, जिसमें उनकी मानवता अविकल रूप से अक्षुण्ण विलसित हो रही है।

जयप्रकाशजी के जीवन में व्रत और संकल्प का कोई विशेष स्थान नहीं है। उन्होंने शायद ही कभी कोई व्रत लिया हो। ब्रह्मचर्य का व्रत तो स्यात् उनके सपने में भी नहीं था। लेकिन प्रभावतीजी ने ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया। जयप्रकाशजी प्रभावतीजी के सहयोगी जो ठहरे। इसलिए प्रभा-वतीजी के व्रत को अंगीकार करने में उन्हें कोई आयास-प्रयास नहीं करना पड़ा। सहजस्फूर्त दाम्पत्य-ब्रह्मचर्य में जय-प्रभा की जोड़ी लासानी है। जयप्रकाशजी के कुछ घनिष्ठ मित्रों की यह धारणा है कि प्रभावतीजी का व्यक्तित्व आकार में उतना भव्य भले ही न हो, लेकिन गुणात्मकता में शायद कुछ श्रेष्ठ ही सिद्ध होगा। जहाँ तक अदम्य सत्यनिष्ठा और अन्तर्बाह्य शुचिता का भावनात्मक सम्बन्ध है, प्रभावतीजी के मुकाबले के व्यक्ति बहुत

विरले होंगे। भय तो उन्हें छू तक नहीं गया है। यह कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है कि जय-प्रभा एक-दूसरे से बढ़कर हैं। इस प्रकार का दूसरा कोई उदाहरण मुझे मालूम नहीं है।

ऐसे एक विभूतिसम्पन्न व्यक्ति की विचार-यात्रा का मनोज्ञ दर्शन इस पुस्तक में कान्तिभाई ने कराया है। वह जितना आकर्षक है, उतना ही उद्‌बोधक और उदात्त है। कान्तिभाई एक कुशल सम्पादक और सिद्धहस्त लेखक हैं। उन्होंने इस पुस्तक का सम्पादन भी अपनी नित्य की कुशलता के साथ किया है। वे अभिनन्दन तथा धन्यवाद के पात्र हैं।

नागपुर
२५-८-'७२

–दादा धर्माधिकारी

सरल हृदय का स्वच्छ चित्र

जयप्रकाशजी के साथ जब से मेरा परिचय हुआ, उनके अनेक गुणों का मुझ पर असर हुआ है। उन सबमें उनके हृदय की सरलता मुझे अधिक खींचती है। उसी सरलता के कारण उनके बारे में काफी गलतफहमियाँ भी होती हैं और उसी सरलता के कारण वे स्वयं गलतियाँ कर भी सकते हैं। गांधीजी ने स्वराज्य की एक व्याख्या की थी, 'गलतियाँ करने का हक'। जो गलतियाँ नहीं कर सकता, वह कुछ भी नहीं कर सकता। जयप्रकाशजी के निवेदन में पाठकों को एक सरल हृदय का स्वच्छ चित्र देखने को मिलेगा।

जो वाद प्रतिक्रियारूप होते हैं, यद्यपि उस-उस जमाने में उनका कुछ उपयोग हो जाता है, अस्थायी होते हैं। याने उनका चिरन्तन मूल्य नहीं होता। व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के तौर पर तरह-तरह के समूहवाद इन दिनों दुनिया में प्रचलित हुए हैं। ये वाद तत्काल बहुत ही आकर्षक हुए। लेकिन उनमें से बहुत सारे अब पिछड़ रहे हैं, फीके पड़ रहे हैं या विकृत हो नयी प्रतिक्रियाओं को जन्म दे रहे हैं।

सर्वोदय किसी वाद की प्रतिक्रिया नहीं। वह भारत का अपना शब्द है और भारत की अपनी वस्तु है; पर ऐसा

शब्द और ऐसी वस्तु नहीं, जो दूसरे किसी देश या काल को लागू न हो सके। देश-काल-परिस्थिति के भेदानुसार उसकी बाह्य पद्धति में फर्क होता रहेगा। (विशिष्ट पद्धति के विषय में अनाग्रह सर्वोदय-विचार का एक मूलभूत तत्त्व ही है।) लेकिन उसका आन्तरिक रूप शाश्वत रहेगा। इस बारे में 'स्वराज्य-शास्त्र' में मैंने विवरण किया ही है।

मेरा तो निश्चित मानना है कि अनेकविध एकांगी सद्‌विचारधाराएँ, परिपूर्णता की तलाश करती हुई, आखिर सर्वोदय-समुद्र में विलीन होनेवाली हैं। जो भी हो, यह निवेदन पाठकों को सर्वोदय-विचार का गहराई से चिन्तन करने की प्रेरणा देगा, ऐसा मुझे विश्वास है।*

* 'समाजवाद से सर्वोदय की ओर' पुस्तक की प्रस्तावना से।

अनुक्रम

१. नम्र निवेदन — १
२. मेरी विचार-यात्रा — ७
३. एक कसक, जो दिल में रह गयी — १५
४. गांधी-विचार और कार्य-पद्धति — २३
५. भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन — ३१
६. शान्ति-पथ की जागतिक खोज — ४१
७. तीसरी शक्ति — ४८
८. हमारा देशीय समाजवाद — ५५
९. सही अर्थ में जनता का राज — ६६
१०. लोकशाही की मर्यादाएँ — ८३
११. हिंसक पद्धति की निरर्थकता — ९२
१२. गांधी का क्रान्तिकारी रचनात्मक मार्ग — १००
१३. दीर्घं पश्य, मा ह्रस्वम् ! — १०७
१४. मुसहरी के प्रत्यक्ष काम का अनुभव — ११७
१५. साथी कार्यकर्ताओं से — १२८
१६. एक बुनियादी क्रान्ति की देहलीज पर — १३५
१७. एक अनुपम व्यक्तित्व — १४०
१८. स्वस्थ लोकमत का शिक्षण — १४६
१९. व्यापार-उद्योग का सामाजिक दायित्व — १६७
२०. चम्बल के बागियों का आत्मसमर्पण — १७५
२१. कुछ सवाल — १८६
२२. लोकनीति का विशाल सागर — १९०
सन्दर्भ-तालिका — १९५

नम्र निवेदन १

बहुत लोग यह मानते हैं कि मेरा जीवन खोये हुए अवसरों की कहानी है। मेरे कई मित्र बहुत दफे कहते हैं कि 'जयप्रकाश तो जब-तब बस चूक जाता है।' एक बार एक मित्र ने तो यहाँ तक कहा था : "सर्वोच्च पद की घुड़दौड़ में जयप्रकाश हमेशा गलत घोड़े का चुनाव करता आया है।" राजनीति छोड़कर मैं सर्वोदय के काम में किसलिए लगा, आज तक यह प्रश्न भी मुझसे किया जाता है। कोई पूछता है कि आप देश की मध्य-धारा (main stream) से किसलिए भाग गये ?

अब, इन सब लोगों को कैसे समझाऊँ ? पहली बात तो यह है कि मैं कभी भी ऐसी घुड़दौड़ में पड़ा ही नहीं। मेरे दिल में देश का या दूसरे किसीका भी मार्गदर्शन करने की लेशमात्र महत्त्वाकांक्षा नहीं है। किसी भी पद का, वह चाहे जितना भी ऊँचा हो, मुझे जरा भी आकर्षण नहीं है। और यों तो १९३० से ही मैं प्रत्यक्ष राजनीति के क्षेत्र में रहा, लेकिन आज तक मैं एक भी चुनाव में खड़ा नहीं हुआ, चाहे वह ग्राम-पंचायत का चुनाव हो, नगरपालिका का हो, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का हो या असेम्बली अथवा पार्लियामेण्ट का हो। जब मैं कांग्रेस में था, तब चुनाव में दूसरों के लिए भाषण देने जाता था। जब सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस से अलग हुई तो उसमें टिकट बाँटने का काम भी मेरे ही जिम्मे था। पार्टी के प्रधान-मन्त्री की हैसियत से मैंने दूसरों को चुनाव में खड़ा किया, लेकिन खुद चुनाव में खड़े होने की तरफ मेरा ध्यान कभी नहीं गया। यह मेरे स्वभाव में ही नहीं है। मैं कभी भी अतिवादी नहीं रहा हूँ—जब मार्क्सवादी था तब भी नहीं और १९४२ में भूमिगत कार्य करता था, तब भी नहीं।

'मास-वर्क' ही मेरा क्रान्ति-धर्म

यह कोई आकस्मिक घटना नहीं कि मुझे कभी चुनाव लड़ने का विचार तक नहीं आया। एक क्रान्तिकारी के रूप में मेरा दिल, मार्क्सवादी जिसे 'मास-वर्क' (जनता के बीच रहकर काम करना) कहते हैं, उसीसे जुड़ा रहा है। एक सर्वोदय-कार्यकर्ता के रूप में आज भी मेरा दिल उसीसे जुड़ा हुआ है। वस्तुतः

एक सही क्रान्ति-धर्म के तौर पर सर्वोदय में, जनता के बीच काम करने के सिवा किसी दूसरे तरह के काम करने की कल्पना ही मुझे नहीं होती।

और मैं किसी भी प्रकार से हताश होकर राजनीति से अलग नहीं हुआ हूँ। फिलहाल मैं जो कार्य कर रहा हूँ उस कार्य को मैं किसी भी दूसरे कार्य से कम महत्त्व-पूर्ण नहीं मानता। मैंने राजनीति का तथा सारी दुनिया की क्रान्तियों का अच्छी तरह अध्ययन करने के बाद तथा इस देश में समाजवादी पक्ष आदि में रहकर जो अनुभव प्राप्त किया, उन सबको ध्यान में रखते हुए अत्यन्त चिन्तन-मनन के बाद इस मार्ग को अपनाया है। मैं समझता हूँ कि आज संसार में जितने बड़े-बड़े काम, प्रवृत्तियाँ आदि हैं, उन सबमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण काम हमारे देश में विनोबाजी के नेतृत्व में चल रहा है।

इस आन्दोलन में पड़ने का जो निर्णय मैंने किया, वह कोई क्षणिक आवेश का नहीं था। इस आन्दोलन के सम्पूर्ण स्वरूप का एक ऐसा स्पष्ट दर्शन मेरे सामने प्रकट हुआ कि राजनीति सहित दूसरी सारी प्रवृत्तियों को छोड़कर इसके लिए अपने-आपको समर्पण कर देने की हद तक मैं अन्दर से हिल उठा। मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि जिस श्रद्धा से मैं इस आन्दोलन में पड़ा था, वह दिनोदिन दृढ़ होती गयी है।

गहरे अर्थोंवाला आन्दोलन

इस हद तक हिल उठने जैसा मुझे इस आन्दोलन में क्या दिखाई दिया? ऊपरी दृष्टि से देखनेवालों को तो यह केवल दान-धर्म की प्रवृत्ति या भूमि-व्यवस्था में सुधार लानेवाला एक आन्दोलन लगता है। बहुतों ने ऐसा भी कहा है कि जय-प्रकाश तो सुधारवादी हो गये, अब वह क्रान्तिकारी नहीं रहे। किन्तु गहराई से देखनेवालों को लगेगा कि यह अपने में बहुत गहरा अर्थ रखनेवाला आन्दोलन है। आज के सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे में समग्र और सम्पूर्ण परिवर्तन इस आन्दोलन का लक्ष्य है। यह आन्दोलन एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है, जो सभी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संगठनों में आमूलाग्र क्रान्ति लाये। समाज और मनुष्य के जीवन में सर्वांगीण क्रान्ति की शुरुआत करने की ख्वाहिश इस आन्दोलन की है। प्यारेलालजी के शब्दों में कहें तो "अत्यन्त दूरगामी और अत्यन्त विशाल प्रभावकारी अहिंसक क्रान्ति के त्रिशूल की यह नोक है।" भारतीय समाज का नवनिर्माण करने की और अहिंसक समाज-क्रान्ति लाने की दिशा में यह प्रथम सोपान है। गांधीजी के अहिंसक समाज-रचना के अधूरे काम को यह आन्दोलन आगे बढ़ा रहा है।

परन्तु भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन की शोहरत बाजारों में नहीं है, अखबारों

में नहीं है, धारा-सभाओं में नहीं है। आज तो सर्वत्र राजनीति का बोलबाला है। और यह राजनीति, यानी पार्टी और सत्ता; बस, इतने में ही इसकी इतिश्री हो जाती है। राजसत्ता हस्तगत करने के लिए राजनीतिक दलों के बीच जो स्पर्धा चलती है, उसे ही लोग राजनीति मानते हैं, इसीलिए जनता में ऐसा भ्रम फैला है कि जो कुछ होगा, वह राज्य द्वारा ही होगा, जनता स्वयं कुछ नहीं कर सकती।

राजनीति का यह तो बहुत संकीर्ण अर्थ हुआ

मैं मानता हूँ कि राजसत्ता और राजनीति का यह तो बहुत संकीर्ण अर्थ हुआ। Party and Power—राजनीतिक दल और राजसत्ता में ही Politics—राजनीति की इतिश्री नहीं हो जाती। एरिस्टोटल ने कहा है: Man is a political animal—मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। हमारे रहन-सहन और हमारे खानपान आदि का भी राजनीति के साथ सम्बन्ध है। समाज के बीच जीना, यह भी राजनीति है। अर्थात् यह जो सर्वोदय-आन्दोलन चल रहा है, वह किसी दल या सत्ता के संकीर्ण अर्थ में नहीं, बल्कि विशाल अर्थ में राजनीति है। यह आन्दोलन सफल हुआ, तो इसके आगे दुनिया की दूसरी सभी क्रान्तियाँ फीकी लगेंगी। संकीर्ण राजनीति का ध्येय है सत्ता प्राप्त करना और सत्ता के द्वारा ही सब कुछ करना। जब कि सर्वोदय की राजनीति सत्ता द्वारा नहीं, लोगों की शक्ति द्वारा काम करना चाहती है। विनोबा ने उसे 'लोकनीति' कहा है।

दुनिया का नक्शा बदलने में 'पावर' (सत्ता) 'पावरलेस' (असमर्थ) सिद्ध हुई है। समाजवादी और आदर्शवादी युग-युगान्तरों से जिस नवसमाज की रचना करने का सुनहला सपना देखते रहे हैं, वह तो जब तक स्वयं मनुष्य में परिवर्तन नहीं आयेगा, तब तक किसी काल में भी सिद्ध नहीं होगा। केवल एक आर्थिक और राजनीतिक तन्त्र का ही नाम समाजवाद नहीं। समाजवाद का सम्बन्ध समाजवादी सभ्यता और समाजवादी मनुष्य से है। मेरे मन में यह बात दृढ़ है कि यदि समाजवादी संस्कृति का निर्माण करना है, समाजवादी मानव का निर्माण करना है, तो वह काम कानून के जरिये नहीं हो सकता। इसलिए केवल सत्ता को हाथ में लेकर कानून और प्रशासन के जरिये समाजवादी समाज-रचना की कोशिश करने से नहीं होगा। न यह हुआ है और न हो सकता है। भूतकाल का इतिहास और वर्तमान की विविध क्रान्तियाँ पुकार-पुकारकर कह रही हैं कि सत्ता द्वारा यह मूल्य-परिवर्तन का काम आप नहीं कर सकेंगे।

व्यापक अर्थ में एक गहरा और तीव्र राजनैतिक आन्दोलन

सर्वोदय का यह जो आन्दोलन विकसित हो रहा है, उसे सत्ता प्राप्त करने में

या राष्ट्र की समस्याओं के प्रति दलीय दृष्टिकोण रखने में कोई दिलचस्पी नहीं है। यह आन्दोलन अपने उद्देश्य पूरे करने के लिए राजसत्ता पर कब्जा करना नहीं चाहता। और न ऐसा करने के लिए कोई राजकीय पक्ष बनना या बनाना चाहता है। इसका तो ध्येय यह है कि सरकार चाहे या न चाहे तो भी लोगों को समझाकर, उनके जीवन में क्रान्ति लाकर उनके द्वारा समाज में क्रान्ति करना। बल्कि इससे भी आगे बढ़कर इसका लक्ष्य है, दल और संसद् को माध्यम बनाये बिना ही लोग अपनी व्यवस्था स्वयं सँभालें, यह स्थिति पैदा करना। लोग अपने-आप पर अधिक-से-अधिक भरोसा रखने लगें और सरकार का आधार उत्तरोत्तर कम करते जायँ।

बेशक, जो आन्दोलन मनुष्य और समाज को इस हद तक बदलने का लक्ष्य रखता हो, वह जनता की विशाल राजनीति से अलिप्त नहीं रह सकता। अर्थात् इस व्यापक अर्थ में यह आन्दोलन स्वयं ही एक गहरा और तीव्र राजनीतिक आन्दोलन है। परन्तु यह दल, चुनाव, संसद् और सरकार की राजनीति नहीं, बल्कि लोगों की राजनीति है। राजनीति नहीं, बल्कि लोकनीति है।

मैं कोई शास्त्री नहीं कि इसका पूरा शास्त्र प्रस्तुत कर सकूँ। मैं इन दोनों के बीच का सीधा-सादा अन्तर बता दूँ—'राजनीति' कहती है कि मैं राज्य करूँ, हम राज्य करेंगे, हमें सत्ता दो, हम कायदा-कानून बनायेंगे, कारखाने खोलेंगे, सड़कें बनवायेंगे। संक्षेप में, राजनीति स्वयं राज्य करना चाहती है, तब 'लोकनीति' कहती है कि लोग राज्य करें, हम आपके साथ रहेंगे, सेवा करेंगे, मदद करेंगे।

लोकसभा में नहीं, लोगों के बीच जाना है

इस लोकनीति के विकास के लिए लोकसभा में नहीं, लोगों के बीच जाना है। लोकसभा जिनके द्वारा बनती है उन लोगों के बीच हमें जाना है, उन्हें समझाना है, उनकी शक्ति निर्माण करनी है। यही तो मुख्य धारा है। मुख्य धारा लोकसभा में नहीं, जनता के बीच है। यह सर्वोदय का आन्दोलन जो जनता के बीच चल रहा है, वही बुनियादी आन्दोलन है और यही देश की मुख्य धारा है। इस मुख्य धारा को पुष्ट करना, यही हमारा काम है।

समाजवाद को राज्यवाद से किस तरह बचाया जा सकेगा, यह प्रश्न आज हरएक विचारशील समाजवादी के सामने है। इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर गांधी के विचारों में और विनोबाजी के इस क्रान्तिकारी आन्दोलन में मुझे मिला। मुझे विश्वास हुआ कि समाजवाद का सही उद्देश्य और सही दर्शन सर्वोदय में है। सर्वोदय की स्थापना राजशक्ति द्वारा नहीं हो सकेगी, बल्कि भूदान-ग्रामदान

आन्दोलन तथा उसी प्रकार की दूसरी प्रक्रियाओं द्वारा नैतिक, वैचारिक एवं जीवन-मूल्यों में क्रान्ति करके ही हो सकेगी। यह बात जब पूरी तरह मेरे गले उतर गयी, तभी मैंने अपने-आपको दूसरे सब कामों से खींचकर इस अहिंसक क्रान्ति द्वारा सर्वोदय-निर्माण के काम में लगाया। विचार को एक बार अच्छी तरह समझ लेने के बाद मेरे लिए ऐसा निश्चय करने के सिवा दूसरा कोई चारा ही नहीं था। मेरे लिए यह कदम स्वाभाविक था।

मुझे यह देखकर दया आती है!

इतने पर भी लोगों को यह बात अच्छी तरह समझ में नहीं आती। और कितनों को यह भी लगता है कि ऐसा करके मैंने अपने-आपको, समाजवादी आन्दोलन को और देश को क्षति पहुँचायी है। लेकिन लोग ऐसा इसलिए समझते हैं कि आज की प्रचलित दलगत और सत्ता की राजनीति पर ही उनका सारा विश्वास टिका हुआ है। यह देखकर मुझे तो दया आती है। क्योंकि मैंने समझ लिया है कि जिस जगह हमें जाना है, मानव-कल्याण का जो ध्येय हमें सिद्ध करना है, जैसा मानवीय समाज हमें बनाना है, वह आज की संकीर्ण राजनीति के द्वारा सम्भव नहीं है। यह राजनीति उसमें शायद सहायक हो सकती है, लेकिन इसका असली काम तो गांधी-विनोबा के ढंग से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में मेरे लिए राजनीति का स्थान गौण बन जाता है। यदि जनता भी इस विचार को अच्छी तरह समझ ले तो उसकी दृष्टि भी आज जो राजनैतिक पक्षों तथा राज-केन्द्रों की ओर लगी हुई है, वहाँ से हट जायगी और वह स्वयं पर भरोसा करने लगेगी। ऐसी हालत में राजनीति के पीछे जनता नहीं, बल्कि जनता के पीछे राजनीति भागेगी। जनशक्ति का निर्माण होगा, जन-क्रान्ति जगेगी और नये समाज का निर्माण गाँव-गाँव, घर-घर से, बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति से शुरू होगा। इसलिए लोकनीति के इस नये विचार को, इस नयी क्रान्ति को निकट से और गहराई से सबको समझना चाहिए, ऐसा मेरा नम्र निवेदन है।

संक्षेप में मुझे यह कहना है कि आज मैं बुनियादी काम में लगा हूँ। पार्टी और सत्ता की राजनीति मैंने छोड़ी है, वह संतुलित मन से अच्छी तरह सोच-समझकर छोड़ी है। आज भी उन विचारों में जरा भी फर्क नहीं आया है, बल्कि वे विचार अधिक दृढ़ बने हैं। पार्टी और सत्ता की राजनीति में वापस लौटने का विचार मुझे कभी सपने में भी नहीं आता। अब तो लोकनीति ही एक मार्ग है। लोगों की सही राजनीति यही है। यही सही दिशा है, इस विषय में मेरे मन में कोई शंका नहीं।

अतः लोगों को भले ऐसा लगे कि मैं अवसर खोता रहता हूँ, बस चूक जाता रहा हूँ, किन्तु बात यह है कि जिसे सामान्य रूप से अवसर माना जाता है, उसके पीछे मैं कभी पड़ा ही नहीं, नहीं तो शायद उसे न खोता। इसलिए जिन लोगों के मन में मेरे प्रति इस तरह का कोई भ्रम या ममता अभी भी रह गयी है, वह अब सम्पूर्ण रूप से खत्म हो जाय तो अच्छा है। वे लोग जिस रूप में जयप्रकाश को देखना चाहते हैं, वह भावना मर जाय, तो वह मेरे लिए और साथ-ही-साथ उनके लिए भी कल्याणकारी बात होगी। ●

मेरी विचार-यात्रा २

मेरे पिछले जीवन का रास्ता बाहर के लोगों को भले ही टेढ़ा-मेढ़ा और पेचीदा लगे, वे उसे अनिश्चित और अन्धकार में टटोलना समझें, किन्तु जब मैं अपने अतीत पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे उसमें विकास की एक अटूट रेखा दिखाई देती है। उसमें राह खोजने का प्रयत्न था, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वह अन्धकारमय हरगिज नहीं था। उसमें एक ऐसी पूर्ण ज्योति थी, जो शुरू से ही न कभी धुँधली पड़ी, न बदली और जो बराबर इस पेचीदा दीखनेवाले मेरे रास्ते पर मेरा मार्ग-दर्शन करती रही है। कम से-कम मैं तो इस टेढ़े-मेढ़े रास्ते के लिए दुःखी नहीं हूँ, क्योंकि जिस रास्ते पर अब चलने का मैंने निश्चय किया है, उसके सम्बन्ध में मैं निश्चिन्त हूँ।

तरुण-हृदय की मुग्ध उड़ान

शुरू में मैं एक कट्टर राष्ट्रवादी था। मेरा झुकाव क्रान्तिकारी तरीकों की ओर था। उस समय बंगाल इसमें सबसे आगे था। तो भी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास ने मेरे तरुण हृदय को मुग्ध कर लिया था। मेरे क्रान्तिकारी विचार अभी पक्के नहीं हो पाये थे कि गांधीजी का प्रथम सत्याग्रह-आन्दोलन एक चढ़ते हुए तूफान की तरह सारे देश में छा गया। उस जमाने के उन हजारों नौजवानों में से मैं भी एक था, जो सूखी पत्तियों की तरह उस तूफान में उड़कर कुछ देर के लिए आकाश में पहुँच गये थे। एक ऊँचे विचार की उड़ान में बहुत ऊँचे उड़ जाने का वह अल्प अनुभव अन्तस्तल में कुछ ऐसी छाप छोड़ गया, जिसे काल और वस्तु-स्थिति की भयंकरता भी मिटा नहीं सकी।

यही वह समय था, जब स्वतन्त्रता मेरे जीवन का एक आकाशदीप बनी, जो आज तक वैसी ही बनी हुई है। कालान्तर में वह स्वतन्त्रता अपने देश की स्वतन्त्रता मात्र के भाव का अतिक्रमण करके मनुष्य की सब जगह और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति ही नहीं, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर मानवीय व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता, विचार की स्वतन्त्रता, आत्मा की स्वतन्त्रता की अर्थदात्री बन गयी।

यह स्वतन्त्रता जीवन की एक निष्ठा बन गयी है । मैं रोटी के लिए, सत्ता के लिए, सुरक्षा के लिए, समृद्धि के लिए, राज्य की प्रतिष्ठा के लिए या किसी अन्य वस्तु के लिए इसके साथ समझौता नहीं कर सकता ।

मार्क्सवाद का जादू

सन् १६२२ से १६२६ तक मैं अमेरिका में रहा । वहाँ मैंने मार्क्सवाद का गहरा अध्ययन किया । फिर भी स्वतन्त्रता के मेरे लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । किन्तु उसकी पूर्ति के लिए क्रान्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त गांधीजी का सविनय अवज्ञा और असहयोग-पद्धति की अपेक्षा अधिक निश्चित और शीघ्रगामी मालूम हुआ । महान् नेता लेनिन की रोमांचकारी सफलता का वर्णन पढ़कर हम कभी अघाते नहीं थे, हमें लगता था कि क्रान्ति के लिए मार्क्सवादी मार्ग ही श्रेष्ठ है और वह रूस के उदाहरण से सिद्ध हो चुका है ।

मार्क्सवाद ने समानता और भाईचारे की एक और ज्योति मेरे लिए जगा दी । केवल स्वतन्त्रता पर्याप्त नहीं थी । इसका अर्थ होना चाहिए सबकी यानी जो लोग निम्न स्तर पर हैं, उनकी भी स्वतन्त्रता । इस स्वतन्त्रता में शोषण से, भुखमरी और दरिद्रता से मुक्ति भी शामिल होनी चाहिए । उस समय मैं यह नहीं जानता था कि सामाजिक क्रान्ति के सम्बन्ध में गांधीजी के अपने भी कोई विचार हैं, साथ ही उसके लिए उनके अपने तरीके भी हैं ।

सन् १६२६ में जब मैं अमेरिका से अपने देश वापस आया, तब यहाँ राष्ट्रीय भावना अपनी चरमसीमा पर थी । दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में ही महात्मा गांधी ने अपना सुविख्यात नमक-सत्याग्रह शुरू कर दिया था । स्वाभाविक ही था, मैं अपने पूरे उत्साह के साथ इस संघर्ष में कूद पड़ा । लेकिन मुझे भारत के साम्यवादी लोग इस आन्दोलन में कहीं दिखाई नहीं दिये । उलटे वे लोग राष्ट्रीय आन्दोलन को बूर्जुआ आन्दोलन और गांधी को भारतीय बूर्जुआ-वर्ग का पिट्ठू कहकर निन्दा कर रहे थे । मुझे लगा कि कम्युनिस्ट पार्टी रूस के हाथ की कठपुतली मात्र है और उसका सूत्र-संचालन वहीं से होता है । लगभग उसी समय सोवियत रूस में भी कुछ ऐसी दूसरी क्षोभ और घुटन पैदा करनेवाली घटनाएँ घटित हो रही थीं । फौलादी पर्दे की दरार में से भी स्टालिन के त्रासवाद के समाचार आने लगे थे ।

पुनर्विचार के लिए मजबूर

इन सब घटनाओं और अनुभवों ने मुझे मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की पुनः जाँच करने के लिए मजबूर कर दिया । मेरे मन में एक गम्भीर प्रश्न खड़ा हो गया, मार्क्सवाद-लेनिनवाद का कुछ भी अर्थ किया जाय, फिर भी क्या वह

सामाजिक क्रान्ति और समाजवाद की स्थापना के लिए एक स्वयंपूर्ण और सुरक्षित मार्गदर्शक बन सकता है ? उस बीच रूस में जो भयंकर-से-भयंकर जुल्म ढाये गये, जिनके कारण मार्क्सवादी क्रान्तिकारी नीति के विरुद्ध मेरा मन बगावत कर उठा और मैं यह सोचने के लिए विवश हो गया कि क्या अशुद्ध साधनों से कभी भी शुद्ध साध्य की प्राप्ति हो सकती है ?

मेरे मन में बहुत सारे प्रश्न उठते रहे। मैं जैसी क्रान्ति चाहता था, इन प्रश्नों का उससे गहरा सम्बन्ध था। एक लम्बी प्रक्रिया से मुझे गुजरना पड़ा। धीरे-धीरे मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि लोकशाही के बिना कोई भी समाजवाद सम्भव नहीं। समाजवाद का रास्ता किसी भी प्रकार की तानाशाही से नहीं गुजरता। सामाजिक क्रान्ति में लोकेच्छा क्या है, इसका पता लगाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जनता की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदैव स्वतन्त्रता और लोकशाही के पक्ष में ही होती है। जान-बूझकर तानाशाही स्वीकार करने की वृत्ति जनता में हरगिज नहीं होती।

सोवियत अनुभव ने मेरे लिए यह बात और भी स्पष्ट कर दी कि समाजवाद पूंजीवाद का अभावमात्र नहीं है। यह संभव है कि पूँजीवाद नष्ट हो जाय, उद्योग, वाणिज्य, बैंक-व्यवस्था, कृषि आदि का राष्ट्रीयकरण और सामूहीकरण हो जाय और फिर भी समाजवाद बहुत दूर ही रह जाय। समाजवाद बहुत दूर रह जाय, इतना ही नहीं, बल्कि यह भी सम्भव है कि बिलकुल अपने ध्येय के विरुद्ध ही चला जाय। सोवियत रूस में हमने न केवल 'औपचारिक' स्वतन्त्रता का निषेध ही देखा, बल्कि सामाजिक न्याय और समता का भी निषेध देखा। अफसरशाही शासकों के एक नये वर्ग की वृद्धि तथा शोषण के नये-नये रूप भी हमने देखे। यह सब समाजवाद का अभावमात्र ही नहीं, बल्कि उसका निषेध भी है।

मुझे लगा कि रूस में जो यह सब हुआ, वह मात्र किसी सिरफिरे मनुष्य के दुष्ट कर्मों का परिणाम नहीं, बल्कि वहाँ जिस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था खड़ी की गयी, वह उसीकी अन्तिम निष्पत्ति है। राजनैतिक और आर्थिक सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीयकरण और सम्पूर्ण राज्यवाद ही स्पष्ट रूप से इस बुराई की जड़ में था।

जैसे-जैसे इनमें से कुछ चीजों को मैंने देखना और समझना आरम्भ किया, मेरा दिमाग स्वतः विकेन्द्रीकरण के विचारों की ओर मुड़ने लगा। मैं राज्यसत्ता के क्रमिक ह्रास, विलीनीकरण और सामूहिक आचार-व्यवहार तथा सामाजिक नियन्त्रण की वैकल्पिक रूपरेखा बनाने की बात सोचने लगा।

पाठक देख सकेंगे कि यह सब शंका-समाधान और पुनर्चिन्तन धीरे-धीरे मुझे

गांधीजी के नजदीक ला रहा था। किन्तु मैं अभी भी पूरी तरह से गांधीनिष्ठ नहीं हुआ था। अभी भी मेरी आस्था लोकतान्त्रिक समाजवाद में थी। मैं सोचता था, मेरा समाजवाद अब भी क्रान्तिकारी समाजवाद होगा, जो समाज में आमूल परिवर्तन लायेगा और साथ-साथ स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के उच्च मानवीय मूल्यों को भी सुरक्षित रखेगा।

प्रत्यक्ष अनुभवों के पदार्थ-पाठ

किन्तु मैंने देखा कि यूरोप में साम्यवाद असफल हुआ है, तो उधर लोकतान्त्रिक समाजवाद को भी कोई खास सफलता नहीं मिली है। कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त समाजवाद का एक बहुत ही कमजोर स्वरूप सिद्ध हुआ है। सबके सामूहिक पुरुषार्थ से जो अच्छी चीजें उपलब्ध हों, उन्हें सबके साथ बाँटकर खाने का तरीका ही समाजवादी जीवन-मार्ग है। जिस अनुपात में स्वेच्छा और सहमति से बाँट लेने की यह प्रक्रिया बढ़ेगी, समाज में उतना ही तनाव और दबाव बढ़ेगा और उतना ही अधिक समाजवाद सधेगा। अन्यथा अनुशासन करनेवालों पर अनुशासन कौन रखेगा, राज्य करनेवालों पर राज्य कौन करेगा? उन पर कौन नियन्त्रण रखेगा? साम्यवादी देशों के उदाहरण और समाजवादी सरकारों के अनुभव से यह स्पष्ट हो चुका है कि यक्ष-प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन है। इसका एक ही हल मालूम होता है और वह यह कि ऊपर से अनुशासन करने की आवश्यकता और उस क्षेत्र का कम-से-कम और मर्यादित होते जाना चाहिए। किन्तु समाजवादी लोगों ने आज तक इस तरफ बहुत कम ध्यान दिया है। उनका एकमात्र ध्येय सत्ता प्राप्त करना रहा है।

इसके अलावे दलीय राजनीति का भी मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। दलीय राजनीति का परम्परागत स्वभाव है, सत्ता के लिए उसमें सब तरह से निर्बल और दूषित कर देनेवाले होते ही हैं, यही बात मुझे और अधिक चिन्तित करने लगी। मैंने देखा कि धन, संगठन और प्रचार के साधनों के बल पर विभिन्न दल कैसे अपने को जनता से ऊपर लाद देते हैं, कैसे जन-तन्त्र यथार्थ में दलीय तन्त्र बन जाता है, कैसे दलीय तन्त्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव-समितियों और निहित स्वार्थों से सम्बद्ध गुटों का राज्य बन जाता है, किस प्रकार जनतन्त्र केवल मतदान में सिमट और सिकुड़कर रह जाता है, किस प्रकार मत देने का यह अधिकार तक, उन शक्तिशाली दलों के द्वारा अपना उम्मीदवार खड़ा करने की पद्धति के कारण, बुरी तरह सीमित हो जाता है, क्योंकि काम चलाने के लिए मतदाताओं को केवल उन्हीं-में से किसीको चुनना पड़ता है। इस प्रकार यह सीमित निर्वाचनाधिकार तक

अवास्तविक हो जाता है, क्योंकि मतदाताओं के समक्ष जो मुद्दे रखे जाते हैं, वे बहुत अधिक तो उनकी समझ के बाहर के होते हैं ।

फिर मैंने देखा कि दलीय पद्धति लोगों को डरपोक और नपुंसक बना रही थी। इसने इस तरह से काम नहीं किया कि जनता की शक्ति और अभिक्रम (इनिशियेटिव) बढ़े या उन्हें स्वराज्य स्थापित करने और अपनी व्यवस्था अपने-आप सँभालने में सहायता मिले । दलों को तो केवल इससे मतलब था कि सत्ता उनके हाथ में आये और वे जनता पर राज्य कर सकें । मैंने ऐसा अनुभव किया कि दलीय पद्धति लोगों को भेड़ों की स्थिति में ला देना चाहती है, जिनका एकमात्र अधिकार केवल नियत समय पर गड़ेरियों को चुन लेना है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करेंगे। मुझे इसमें स्वतन्त्रता का दर्शन नहीं हुआ––उस स्वतन्त्रता या स्वराज्य का, जिसके लिए मैं लड़ा था और इस देश के लोग लड़े थे ।

विकल्प की खोज

अतः फिर से इस विकल्प की खोज के लिए मैं मजबूर हो गया । क्या इसका कोई विकल्प है ? क्या राज्य के माध्यम को छोड़कर समाज को बदलने का और उसके पुनर्निर्माण का और भी कोई उपाय हो सकता है ?

एक विकल्प था । उसे महात्मा गांधी ने हमारे सामने रखा था । समाज को बदलने और उसके पुनर्निर्माण की अपनी अहिंसक पद्धति के सम्बन्ध में गांधीजी ने काफी कहा और लिखा है । किन्तु इसके पूर्व कि इस पर वे अमल करते, बड़ी क्रूरता के साथ उन्हें हमारे बीच से छीन लिया गया । मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि गांधीजी के जीवन-काल में मैं उनकी बात समझ नहीं सका था । बराबर उनकी ओर खिंचते हुए भी मैं पूरी तरह समझ नहीं सका था कि इस अहिंसक पद्धति से सामाजिक क्रान्ति कैसे होगी ।

खैर, दलीय राजनीति के लिए मेरी विरक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जा रही थी, वैसे-वैसे विकल्प के लिए मेरी खोज तीव्र होती जाती थी । मैं ऐसी किसी पद्धति की खोज में था, जिससे राजसत्ता को इस्तेमाल करके समाजवाद कायम करने के बजाय जनता के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा समाजवादी जीवन के स्वरूपों की सृष्टि और विकास किया जाय । दूसरे शब्दों में पद्धति यह है कि राज्यवादी समाजवाद के बदले जनता का समाजवाद स्थापित किया जाय ।

अब पाठक समझ सकते हैं कि किसी तरह मैं सर्वोदय और समाजवाद, दल और सत्ता से बँधी हुई राजनीति तथा दल और सत्ता से मुक्त राजनीति या जिसे विनोबा केवल 'लोकनीति' कहते हैं, इस विकल्प की तह तक पहुँच गया ।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण महान् घटना

जिन दिनों मेरे मन में यह ऊहापोह चल रहा था, एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना घटी। तेलंगाना के एक सुदूर देहात में भूदान-आन्दोलन का जन्म हुआ था। इस घटना के प्रति मेरी प्रतिक्रिया यह थी। मैंने सोचा कि देशभर की सारी जमीनों के पुर्नवितरण में इस प्रकार सैकड़ों वर्ष लगेंगे। किन्तु इस घटना से सम्बद्ध दो ऐसी बातें थीं, जिनके कारण मेरा ध्यान उस ओर गया और मैं गम्भीरतापूर्वक उस पर विचार करने के लिए मजबूर हो गया। मैं विनोबाजी को वर्षों से जानता था। मैंने सोचा, जब विनोबा जैसे व्यक्ति ने कुछ शुरू किया है, तो केवल एक शिगूफा या दिखावे की चीज कहकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दूसरी बात थी, आन्दोलन का उत्तरोत्तर विकास। यह देखा गया कि जब कभी और जहाँ कहीं कुछ सच्चे कार्यकर्ताओं ने इस काम को उठा लिया, इसके अच्छे परिणाम निकले। तरीका भी अव्यावहारिक नहीं था। ऐसा लगता, यदि जितनी शक्ति सामान्य राजनीतिक आन्दोलन में लगती है, उतनी शक्ति इसके पीछे लगायी जाय तो इसके परिणाम अधिक ठोस और शीघ्रगामी होंगे।

अत: मैं विनोबाजी से मिलने गया। वे उस समय उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में थे। मैंने देखा, इस प्रश्न पर वे गम्भीरता से चिन्तन कर रहे हैं और उनका आर्थिक दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर क्रान्तिकारी था। मैंने विनोवा के आन्दोलन में शामिल होने का निश्चय कर लिया। लेकिन मेरे तीन सप्ताह के उपवास की अवधि निकट आ गयी थी, उसे पूरा किया और तब बिहार के गया जिले में भूदान की गंगा में कूद पड़ा। मेरा थोड़ा-सा अनुभव ही आशातीत रूप में प्रेरणादायी मालूम पड़ा।

जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता गया, उसके नये-नये स्वरूप प्रकट होते गये। सन् १९५२ में ही उसका एक पहलू सामने आ गया था। उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले में 'मँगरौठ' नामक ग्राम का ग्रामदान घोषित हो चुका था। वहाँ जो कुछ हुआ, उसे अपनी आँखों देखने के लिए मैंने उस गाँव का एक विशेष दौरा किया। मैंने जो कुछ देखा, उसमें भविष्य की एक सुन्दर झाँकी थी।

मेरे प्रश्न का जवाब

विनोबाजी के आन्दोलन ने इस प्रकार बहुत दिनों से जो प्रश्न मैं पूछ रहा था, उसका जवाब मुहैया कर दिया। प्रश्न था, क्या गांधीजी के तत्त्वज्ञान में सामाजिक क्रान्ति को पूरा करने के लिए कोई व्यावहारिक तरीका उपलब्ध है? गांधीजी के कार्य को अपनी असाधारण प्रतिभा के साथ फैलाकर और विकसित करके

विनोबाजी ने प्रमाणित कर दिया कि गांधी-तत्त्वज्ञान में वैसा तरीका है। सर्वोदय जनता का समाजवाद है। प्रत्येक समाजवादी को इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जितना जनता का अथवा स्वैच्छिक समाजवाद अधिक होगा और राज्य से लादा हुआ समाजवाद कम होगा, उतना ही समाजवाद अधिक पूर्ण और यथार्थ बनेगा।

इस तरह मेरी खोज मुझे राजनीति से और भी दूर खींचकर सर्वोदय की ओर ले आयी। मुझे आशा है, अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि मैंने राजनीति क्यों छोड़ी। मुझे यह भी आशा है कि लोगों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि यह निर्णय नकारात्मक नहीं था। मैंने दल और सत्ता की राजनीति से अलग होने का निश्चय इसलिए नहीं किया कि मैं उससे ऊब गया था, निराश हो गया था, बल्कि इसलिए किया कि मुझे यह स्पष्ट हो गया था कि राजनीति से काम नहीं चलेगा। फिर, यहाँ यह भी समझ लेना जरूरी है कि राजनीति की विकृति ने मुझे विचलित नहीं किया, बल्कि सर्वोदय की नयी राजनीति के आकर्षण ने मुझे खींच लिया। सर्वोदय की भी एक राजनीति है, किन्तु यह राजनीति भिन्न प्रकार की है। मैं इसको 'जनता की राजनीति' कहता हूँ, जो सत्ता और दल की राजनीति से सर्वथा पृथक् है। विनोबा ने इसे 'लोकनीति' जैसा उपयुक्त और यथार्थ नाम दिया है।

बोधगया-सर्वोदय-सम्मेलन में मैंने जो जीवनदान जाहिर किया, वह इस 'लोकनीति' के लिए ही। मेरे लिए जीवनदान का अर्थ दल और सत्ता की राजनीति छोड़कर अपना शेष जीवन इस सर्वोदय-आन्दोलन में लगाना है। अभी भी मेरा ध्येय वही समानता, बन्धुत्व, स्वतन्त्रता और शान्ति स्थापित करने का है। मेरा यह अटल विश्वास है कि इस ध्येय की पूर्णता के लिए समाजवाद को आखिरकार सर्वोदय में विलीन होना ही पड़ेगा।

यद्यपि आज की परम्परागत राजनीति ने लोगों के दिमागों को इस तरह जकड़ रखा है और फिर इसका विकल्प भी अभी प्रारम्भिक स्थिति में है, इसलिए इस सम्बन्ध में स्वयं जितना पक्का भरोसा मैं कितनों को दिला सकूँगा, यह नहीं जानता। किन्तु जिन अनभवों से गुजरकर मैं आज की स्थिति में पहुँचा हूँ, उसकी अखण्ड प्रक्रिया पाठकों के ख्याल में जरूर आयेगी।

फिर, मेरा यह संकेत हरगिज नहीं है कि मैंने सामाजिक समस्याओं का कोई सर्वथा निर्दोष हल ढूंढ़ लिया है या सर्वोदय ही समाज-दर्शन की इति है। मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है, इसलिए वह निरन्तर सत्य की ओर बढ़ रहा है। वह पूर्ण सत्य तक शायद कभी नहीं पहुँच सकता, किन्तु क्रमशः असत्य को कम करते-करते सत्य के पथ पर आगे बढ़ सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्वोदय-

विचार और आचार की अनेक त्रुटियों का भविष्य में पता चलेगा और उनमें सुधार होगा। मानव-मस्तिष्क इस प्रकार बराबर सत्य की ओर बढ़ता ही जायगा। लेकिन मैं यह जरूर मानता हूँ कि सर्वोदय आज के वर्तमान सामाजिक तत्त्वज्ञान और प्रणालियों से स्पष्टतया आगे बढ़ा हुआ और उन्नत विचार है। मैं जिस प्रक्रिया से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, उस प्रक्रिया की एक झलक पाठकों के सामने रखने की मैंने कोशिश की है। मैं अपनी उस विचार-सरणी के विकास को ही प्रस्तुत कर पाया हूँ, जिससे प्रेरित होकर मैंने राजनीति को छोड़ा है और इस सर्वोदय-आन्दोलन में लगा हूँ।

एक कसक, जो दिल में रह गयी 3

मानव-कल्याण-पथ के अविरत अनुसन्धान में मैं सर्वोदय की इस मंजिल पर आज पहुँचा हूँ । स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की जो ज्योति मुझे आज तक राह दिखलाती रही थी, वही ज्योति आखिर मुझे इस सर्वोदय की मंजिल तक ले आयी है । इस ध्रुवतारे को ही अपनी निगाहों के समक्ष रखकर मैं अपना मार्ग तय कर रहा हूँ । सर्वोदय की मंजिल तक मेरा रास्ता कुछ टेढ़ा-मेढ़ा रहा, किन्तु उसका मुझे कोई दुःख नहीं । मुझे यही खेद है कि मैं अपनी जीवन-यात्रा में, जब गांधीजी हमारे बीच विद्यमान थे, तब इस मंजिल तक नहीं पहुँच सका ।

गांधीजी के जीवनकाल में तो उनके बहुत सारे कार्यों और विचारों का मैं आलोचक ही रहा हूँ । राजनैतिक अस्त्र के रूप में अहिंसा कितनी सफल हो सकती है, इस वाद-विवाद में जेलों में हमने कई रातें बितायी हैं । उन दिनों मेरे मन में यह बात जम चुकी थी कि घोर निद्रा में डूबे हमारे बदनसीब राष्ट्र को जागृत करने और उसे क्रियाशील बनाने के लिए सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन तथा जेलों को भर देने का कार्यक्रम एक अच्छी व्यूह-रचना हो सकती है, किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति की अन्तिम लड़ाई में तो हिंसा का सहारा लिये बिना कोई चारा नहीं है । लेकिन बाद में जो घटनाएँ घटित होती गयीं, उन्होंने मेरी इस मान्यता को गलत ठहराया, इतना ही नहीं, बल्कि राजनैतिक अस्त्र और समाज-परिवर्तन के साधन के रूप में अहिंसा की सफलता के सम्बन्ध में मुझे एक नयी प्रतीति हुई ।

हमारा मार्ग तब सुविधाजनक था

अन्य दूसरे बहुत से लोगों की तरह उस समय मैं भी गांधीजी की कितनी ही बातों का मूल आशय नहीं समझ पाया था । मुझे ऐसा लगता है, इसका मुख्य कारण यह था कि हम सब गांधीजी के राजनैतिक साथी उनके पीछे-पीछे तो चले, किन्तु हम लोगों ने गांधीजी की अहिंसा के दर्शन को स्वीकार नहीं किया था । अहिंसा को हमने मात्र अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध लड़ने के लिए एक सुलभ मार्ग के रूप में अपनाया था । अहिंसा हमारे लिए एक तात्कालिक सुविधा थी । स्वराज्य-प्राप्ति

के लिए उसे गांधीजी ने सशस्त्र संघर्ष का एक विकल्प बताया ग्रौर व्यवहार में वह सफल होता दिखायी दिया, इसीलिए हमने उनका ग्रनुकरण किया। लेकिन उनकी बातों पर हमारा दृढ़ विश्वास नहीं था। यदि हम लोगों ने गांधीजी के समग्र दर्शन को स्वीकार किया होता, तो हम उनकी कई बातों पर ग्रवश्य ही गम्भीरता से विचार करते।

ग्राज हमें यह बात ग्रच्छी तरह समझ में ग्राती है कि गांधीजी पहले से ही हिंसा की व्यर्थता ग्रौर लोकतान्त्रिक राज्य की स्वभावगत सीमाग्रों से परिचित थे। ग्रन्य राष्ट्रीय नेता जहाँ राष्ट्र-निर्माण के कार्यों की सफलता के लिए केवल राज्य-शक्ति पर ही भरोसा करते थे, वहाँ गांधीजी के दिमाग में यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि उनके सपनों का भारत बनाने के लिए राज्य ही एकमात्र साधन नहीं हो सकता। इतना निश्चित है कि राज्य के काम के महत्त्व को वे कम नहीं ग्राँकते थे ग्रौर वह समुचित एवं प्रभावकारी ढंग से कार्य करे, इसमें उनकी दिलचस्पी समाप्त नहीं हो गयी थी। वास्तव में वे इस बात के लिए चिन्तित थे कि राज्य यथासंभव सर्वोत्तम लोगों के हाथों में रहे ग्रौर वह उचित नीतियों, कार्यक्रमों एवं योजनाग्रों का ग्रनुसरण करे। फिर भी उनको यह स्पष्ट दीखता था कि चाहे कितनी ही ग्रच्छी नीतियाँ हों ग्रौर कितने ही ग्रच्छे लोगों के हाथों में शासन-सूत्र हो, राज्य स्वतः ग्रभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसीलिए जब स्वराज्य मिला, तब वे स्वयं राज्यसत्ता से बिलकुल ग्रलग रहे। उन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम में इतनी ग्रद्भुत सफलता प्राप्त की, किन्तु जब ग्रपने ग्रादर्श के ग्रनुरूप देश के पुनर्निर्माण का ग्रवसर ग्राया, तब उसके लिए उन्होंने सत्ता ग्रपने हाथ में नहीं ली।

इतनी महत्त्वपूर्ण घटना मेरी निगाहों से ओझल रह गयी

इस घटना का महत्त्व उस समय मेरी समझ में बिलकुल नहीं ग्राया, किन्तु ग्राज मुझे लगता है कि दुनिया के इतिहास में यह एक ग्रनोखा उदाहरण था। दुनिया में बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हुईं, इनकलाब हुए। फ्रांस में क्रान्ति हुई, रूस में क्रान्ति हुई, ग्रमेरिका स्वतन्त्र हुग्रा, वह भी एक क्रान्ति हुई, चीन में क्रान्ति हुई। दुनिया की ये सभी क्रान्तियाँ सफल हुईं. उसके बाद क्या हुग्रा? हरएक क्रान्ति में हमें यह देखने को मिलता है कि उस क्रान्ति का सबसे बड़ा नेता ग्रपने देश के सर्वोच्च सिंहासन पर जा बैठा, उसने सरकार की बागडोर ग्रपने हाथ में ले ली। क्रान्ति का उद्देश्य पूरा करने के लिए, परिवर्तन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, नये समाज का निर्माण करने के लिए हरएक ने सत्ता ग्रहण की। ग्रमेरिका में जॉर्ज वाशिंगटन ने ऐसा किया। फ्रांस में एक-के-बाद एक नेता सत्ता ग्रपने हाथ में

लेते रहे। रूस में लेनिन ने भी सत्ता ग्रहण की। चीन, तुर्की, अल्जीरिया, क्यूबा सभी जगह ऐसा ही हुआ। केवल गांधीजी ही एक ऐसे नेता निकले, जिन्होंने अपने हाथ में सत्ता नहीं ली।

अब, गांधीजी कोई संन्यासी तो नहीं थे। वह राजनीति से भी अलग नहीं रहते थे। इस देश की राजनीति को उन्होंने २५ वर्षों तक अपनी उँगलियों पर नचाया था। इसके बावजूद जब स्वराज्य प्राप्त हुआ, तब उन्होंने सत्ता की तरफ आँख उठाकर देखा तक नहीं। सत्ता लेकर राष्ट्र का उत्थान हो सकेगा, यदि उनकी यह मान्यता होती, तो उन्होंने राज्य-सत्ता अवश्य हाथ में ली होती। ऐसा करने में उन्हें कौन रोक सकता था? इस देश के ऊँचे-से-ऊँचे पद पर अगर वह बैठना और शासन की बागडोर अपने हाथ में लेना चाहते तो आसानी से ऐसा कर सकते थे।

लेकिन गांधीजी ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने सारी दुनिया से निराला ही मार्ग अपनाया। न तो उन्होंने कोई पद स्वीकार किया, न विधानसभा या लोकसभा में ही गये। उस समय इस बात का महत्त्व मेरी समझ में नहीं आया था। परन्तु आज ऐसा लगता है कि गांधीजी के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान खींचनेवाली है। इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि अन्य लोगों की अपेक्षा गांधीजी कुछ भिन्न प्रकार से ही सोचते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि उनके उद्देश्यों की पूर्ति सत्ता द्वारा नहीं हो सकेगी। यह उनके चिन्तन का सार था। समझ-बूझकर वह इस निश्चय पर पहुँचे थे।

फिर भी, गांधीजी के सम्बन्ध में, जिन्होंने अपना सारा जीवन राजनीति में बिताया, यह बात दोनों के ध्यान में जल्दी नहीं आती। किन्तु सोचने की बात यह है कि गांधीजी ने जिस राजनीति में भाग लिया, वह कैसी राजनीति थी! उन्होंने जो आन्दोलन चलाया, वह इसी अर्थ में राजनीतिक था कि उसका लक्ष्य भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता था, किन्तु वह किसी दलविशेष के लिए सत्ता का आन्दोलन हो, इस अर्थ में 'राजनीति' नहीं था। भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन एक सर्वोत्तम जन-आन्दोलन था। वह राजनीति यानी राज्य की राजनीति नहीं थी, बल्कि लोकनीति यानी जनता की राजनीति थी। ऐसी जनता की राजनीति के लिए ही गांधीजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन बिताया और आखिर-आखिर में जनता की यह राजनीति विकसित तथा लोकशक्ति सुदृढ़ होती रहे, इसके लिए देश के समक्ष योजना भी पेश करते गये।

गांधीजी की विलक्षण प्रतिभा एक अनोखा प्रस्ताव

उनकी हत्या के एक दिन पूर्व, यानी २९ जनवरी को, गांधीजी ने कांग्रेस के

२

संविधान में सुधार करने के लिए एक मसविदा तैयार किया था। उनके हाथों का लिखा वह मसविदा आज भी मौजूद है। उसमें आगे के काम के लिए उनकी दृष्टि स्पष्ट है। उन्होंने लिखा है कि "कांग्रेस ने देश को स्वाधीनता दिलाकर एक बहुत बड़ा काम किया है। किन्तु अभी उसे बहुत बड़े-बड़े काम करने हैं। देश को राजकीय स्वतन्त्रता मिली है, किन्तु अभी जनता की और खासकर गाँवों की आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी बाकी है। भारत लोकतन्त्र की दिशा में जैसे-जैसे आगे बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे नागरिक शक्ति और सैनिक शक्ति के बीच संघर्ष खड़ा होने की संभावना है। इसलिए सैनिक शक्ति नागरिक शक्ति के नियन्त्रण में रहे, ऐसी समाज-रचना हमें खड़ी करनी है।"

और इसके लिए उन्होंने तरीका क्या बताया है? उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि इसके लिए विधानसभा या संविधान सभा में जाकर ऐसा संविधान बनाओ अथवा भारत-सरकार की नीति इस-इस प्रकार से गढ़ो। उन्होंने यह भी नहीं कहा कि इसके लिए कांग्रेस को फलाँ-फलाँ काम करने होंगे। उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा। उलटे उन्होंने तो कहा कि इसके लिए आज की कांग्रेस को तोड़कर 'लोकसेवक संघ' नाम का नया संगठन खड़ा करना चाहिए।

ऐसा गांधीजी ही कह सकते थे, दूसरा कौन कहता? उन्हींकी यह शक्ति थी। यद्यपि उनके इस अद्वितीय प्रस्ताव का तात्पर्य उस समय मेरी समझ में नहीं आया था, किन्तु आज मुझे लगता है कि गांधीजी का वह अनोखा प्रस्ताव निःसन्देह उनकी विलक्षण प्रतिभा का एक रोमांचकारी उदाहरण है।

गांधीजी सत्ता और संगठन का महत्त्व नहीं समझते थे, ऐसी बात नहीं। वे यथार्थवादी थे। और फिर भी उन्होंने ऐसा कहा! उस समय देश में आग लगी हुई थी और पता नहीं था कि देश बचेगा या नहीं? ऐसे नाजुक मौके पर भी उन्होंने यह प्रस्ताव जारी किया! जिस कांग्रेस ने आन्दोलन चलाकर आजादी प्राप्त की थी, जो कांग्रेस इस देश की एकता की गारण्टी-सी थी, जिसके हाथ में देश की हुकूमत थी, उस कांग्रेस के लिए गांधीजी ने कहा कि उसका विसर्जन करो और उसकी जगह लोकसेवकों का संघ बनाओ।

उन्हें जीर्ण-जर्जर मार्ग नहीं चाहिए था

गांधीजी ने यह प्रस्ताव इसीलिए रखा था, क्योंकि वे जानते थे कि केवल सरकारी शक्ति से, राज्य-सत्ता से नये भारत का निर्माण होना सम्भव नहीं। वे यह नहीं चाहते थे कि राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद कांग्रेस संसदीय मशीन बनकर रह जाय। वे चाहते थे कि कांग्रेस एक नये क्रान्तिकारी संगठन के

रूप में परिवर्तित हो। वे चाहते थे कि वह अधूरी क्रान्ति, जिसे हमें पूरा करना है, वह इस प्रकार परिवर्तित कांग्रेस के माध्यम से पूरी हो। कांग्रेस अब गाँव-गाँव फैला हुआ एक लोकसेवक संघ का रूप ले। इस लोकसेवक संघ का जो संविधान गांधीजी ने बनाया था, उसे देखने से पता चलता है कि वह किसी राजनीतिक दल का संविधान नहीं है। इस लोकसेवक संघ को तो वे एक नया राष्ट्रीय संगठन, एक नयी सामाजिक क्रान्ति का वाहन बनाना चाहते थे। वे एक चिन्तक थे, द्रष्टा थे। इसीलिए उन्होंने देश के नवनिर्माण के लिए सत्ता का परम्परागत, जीर्ण-जर्जर अतिप्राचीन मार्ग अपनाने के बदले हमें नया रास्ता दिखलाया।

गांधीजी की यह बात हमें समझनी होगी और उस पर अमल करना होगा। इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं। गांधीजी का अन्तिम सन्देश मैं तो इसी रूप में समझा हूँ। प्यारेलालजी ने इसे गांधीजी की 'लास्ट विल एण्ड टेस्टामेण्ट' (अन्तिम वसीयत) कहा है, यह उचित ही है। यदि किसीने इस देश की नब्ज ठीक तरह पकड़ी है, तो वह गांधीजी ने ही। इसलिए उन्होंने हमें यह जो अन्तिम सन्देश दिया है, उसे अच्छी तरह समझकर उस पर अमल करने की जरूरत है।

स्वयं गांधीजी को तो लोकसेवकों का देशव्यापी संगठन बनाकर देश की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्वतन्त्रता के लिए अपनी अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया आगे बढ़ाने का अवसर नहीं ही मिला, उनकी आँखें बन्द होने के बाद उनके साथियों ने भी उनकी इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। कांग्रेस और देश के लिए यह एक दुर्घटना ही समझी जायगी। गांधीजी के साथियों ने उनकी बातों की अवहेलना की, जिसके फलस्वरूप कांग्रेस का आखिर क्या हाल हुआ, वह हमने अपनी आँखों से देखा। गांधीजी के विचारों पर यदि अमल किया गया होता, तो क्रान्तिकारी गांधी के जीवन का वह सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कदम सिद्ध होता।

हम तो प्रचलित लीक पर ही चले

गांधीजी के बाद उनके साथियों ने इस भ्रम में पड़कर कि नयी-नयी हाथ में आयी हुई राजनीतिक सत्ता के सहारे ही देश की समस्याओं को हल करने में वे समर्थ हो जायेंगे, गांधीजी द्वारा दिखाये गये मार्ग पर दुबारा विचार तक नहीं किया। मुझे लगता है कि गांधीजी द्वारा बताया गया मार्ग परम्परागत मार्ग से मूलतः इतना भिन्न था कि वह उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता था और न वह उन्हें रुचता ही था। सफल क्रान्तिकारियों द्वारा सत्ता से अलग रहने तथा जनता के स्वैच्छिक संगठन द्वारा क्रान्ति के लक्ष्यों को प्राप्त करने की कोशिश की बात कब किसने सुनी थी?

इसलिए हम गांधीजी का मार्ग छोड़ दुनिया की प्रचलित लीक पर चले।

हमने गांधीजी को राष्ट्रपिता माना । जगह-जगह हमने उनके चित्र लगवाये, मूर्तियाँ बनवायीं, उनकी जय बुलवायी । परन्तु विचारणीय बात यह है कि क्या हमने अपने जीवन में, राष्ट्र की योजनाओं में, शिक्षण-पद्धति में, अर्थनीति में, राजनीति में गांधीजी के विचारों को कार्यान्वित किया है ?

स्वराज्य के बाद हमारे देश की गाड़ी विपरीत दिशा में कैसे मुड़ गयी, इसके कारण तलाशने की आवश्यकता है । गांधीजी चाहते थे कि भारतीय राज्य की इमारत ग्राम-स्वराज्य की बुनियाद पर खड़ी की जाय । किन्तु स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाते समय हमने कहीं अमेरिका की नकल की, कहीं इंग्लैण्ड के संविधान के अंश ज्यों-के-त्यों ले लिये और कहीं दूसरे देशों की कल्पना के चिथड़े जोड़कर आज के अपने संविधान की गुदड़ी तैयार कर ली ।

और ऐसा होना स्वाभाविक भी था । क्योंकि संविधान बनाने का काम हमने मुख्य रूप से देश के सर्वोच्च विधि-वेत्ताओं के सिर पर डाल दिया था । उनमें से बहुतेरों ने शायद ही कभी स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लिया था । शायद यह सोचा गया कि संविधान बनाने का काम कानून के निष्णातों का है । यों देखा जाय, तो हर महान् क्रान्ति के बाद नया संविधान क्रान्तिकारियों ने स्वयं बनाया है । कानून के निष्णात लोग तो मात्र उसे योग्य परिभाषा देने में मदद करते रहे हैं । किन्तु हमारे यहाँ तो संविधान बनाने में मुख्य हाथ इन कानून-निष्णातों का ही रहा है । परिणाम यह हुआ कि स्वाधीनता-आन्दोलन के दरमियान हमने जिन भावनाओं और आदर्शों की कल्पना की थी, संविधान को उनकी हवा तक का स्पर्श नहीं हुआ ।

परिणामस्वरूप देश की गाड़ी विपरीत दिशा में मुड़ गयी

एक उदाहरण दूं । जब संविधान का सम्पूर्ण मसविदा तैयार हो गया, तब किसीने—श्री संतानम् ने या श्री टी० प्रकाशम् ने—ध्यान खींचा कि गांधीजी ने ग्राम-स्वराज्य की कल्पना को स्वराज्य के ढाँचे की बुनियाद माना था, किन्तु हमारे संविधान में तो उसका जिक्र तक नहीं दीखता । हमारा संविधान तो उससे सर्वथा विपरीत बन गया है । उन्होंने संविधान-सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से बात की । डॉ० राजेन्द्रप्रसाद को धक्का लगा । उन्होंने तुरन्त संविधान-सभा के कानून-निष्णात डॉ० राव को बुलवाया और उनके सामने यह बात रखी । डॉ० राव ने कहा कि अब यदि हम ग्राम-स्वराज्य को बुनियाद बनाकर यह संविधान सुधारने बैठेंगे, तो उसका सारा स्वरूप ही बदल जायगा । चुनाव की पद्धति भी बदलनी पड़ेगी । बहुत समय लग जायगा । नेहरू और सरदार के कानों तक यह बात पहुँचायी गयी । उन्हें भी लगा कि अब संविधान सुधारने में बहुत समय लग

जायगा। इस सम्बन्ध में कुछ आवेशपूर्ण चर्चाएँ भी हुईं, किन्तु इन सबसे अन्त में मात्र इतना ही निष्कर्ष निकला कि संविधान में एक धारा बढ़ी, जिसमें राज्यों को यह निर्देश दिया गया कि 'संविधान के मूल मार्गदर्शक सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर ग्राम-पंचायत को स्वशासन की इकाई माना जाय।' राष्ट्रीय क्रान्ति के केन्द्ररूप गांधीजी के इस राजनीतिक विचार को हमारे संविधान में मात्र इतना ही स्थान मिल सका। मैं ऐसा मानता हूँ कि उलटी दिशा में जाने की यह पहली महत्त्वपूर्ण शुरुआत थी।

वर्षों बाद १९५९ में पंचायती राज का कार्यक्रम लागू किया गया। किन्तु उसके पीछे प्रेरणा गांधीजी की विचारधारा के अनुसरण की नहीं, बल्कि सामुदायिक विकास-योजना के लिए ग्राम-स्तर पर एक सरकारी ढाँचा खड़ी करने की थी। इसीलिए आज पंचायत स्थानीय स्व-शासन की इकाई बनने के बदले राज्य-सरकार की इकाई बनकर रह गयी है। यह सारा इतिहास मैंने यह बतलाने के लिए दुहराया कि किस तरह शुरू से ही हमने ग्राम-स्वराज की बात भुला दी और अभी तक उससे दूर ही दूर हैं।

सामुदायिक विकास-योजना इस उलटी दिशा में दूसरी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय यात्रा थी। स्वराज्य-आन्दोलन के दरमियान ग्राम-विकास के क्षेत्र में गांधीजी की अपेक्षा अधिक प्रयोग और चिन्तन दूसरे किसीने नहीं किया। उन्होंने हजारों निष्ठावान् रचनात्मक कार्यकर्ता, अनेक संस्थाएँ और ग्राम-सेवा के केन्द्र तैयार किये। किन्तु जब सामुदायिक विकास-योजना का काम शुरू किया गया, तब उसके पीछे प्रेरणा गांधीजी के आजीवन रचनात्मक कार्य की नहीं थी, चेस्टर बाउल्स की और पश्चिम की थी। और, इस योजना को अमल में लाने का काम भी, ग्राम-सेवा में अपना जीवन अर्पित कर चुके निष्ठावान् कार्यकर्ताओं को नहीं, बल्कि सर्वज्ञ और सर्वव्यापी सरकारी नौकरों को सौंपा गया! इसलिए आज जो परिणाम हम देखते हैं, उसके सिवा और दूसरा आता भी क्या?

पंचवर्षीय योजना की बात है। जब पहली पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा बनी, तब श्री आर के० पाटिल को विनोबा के पास भेजा गया। उस समय वे योजना-आयोग के सदस्य थे। (अभी वे ग्रामदान-आन्दोलन में एक अग्रणी सेवक हैं।) विनोबा ने योजना के उस प्रारूप को देखकर अपना अभिप्राय देते हुए कहा कि यह तो कूड़े की टोकरी में फेंक देने लायक है, क्योंकि इसमें सबको काम और सबको अन्न देने की व्यवस्था ही नहीं है। बाद में पण्डितजी के बुलावे पर विनोबा दिल्ली गये और योजना-आयोग के साथ बैठकर चर्चा की। किन्तु विनोबा की सलाह किसीके गले उतरी हो, ऐसा नहीं लगता। नहीं तो इतनी पंचवर्षीय

योजनाओं के पूरी होने के बावजूद गरीबों की गरीबी और बेकारों की बेकारी यों बढ़ती न जाती । अभी भी हमारे देश में नित्य लाखों माताएँ अपने अधभूखे बच्चों को छाती से चिपकाकर सो जाती हैं । उन माताओं का किसीको खयाल भी है ? गांधीजी कभी ऐसी योजना बनाते ? कभी ऐसी योजना को स्वीकार करते ?

गांधी-विचार के बारे में घोर अज्ञान एवं उपेक्षा

ऐसा क्यों हुआ ? सोचने-विचारने पर मुझे ऐसा लगा कि स्वराज्य-आन्दोलन में भाग लेनेवालों का अपना एक वर्ग था और वह गांधी-विचार से प्रभावित था । किन्तु इस दायरे से बाहर गांधीजी के विचारों का अधिक असर नहीं था । उदाहरण के लिए हमारे विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती थी और जो राज्य-शास्त्र और अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता था, वह कोई गांधी-विचार के अनुसार नहीं था । वह सब तो पाश्चात्य ढंग का ही था । सरकार का कारोबार जिसके हाथों में था, उस नौकरशाही तन्त्र का सम्बन्ध स्वराज्य-आन्दोलन से जरा भी नहीं था । और उसका मानस भी राष्ट्रीय रंग में नहीं रँगा था । स्वराज्य मिला । किन्तु सरकार का सारा कारोबार तो इस नौकरशाही के ही हाथ में था । वही मन्त्रियों के सलाहकार थे । वही नीति बनाते, विवरण तैयार करते और मन्त्रियों के सामने रखते । यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत फेरबदल होता और उस नीति पर अमल करने का काम पुनः इस नौकरशाही के ही हाथ में आ जाता । इस तरह, शिक्षित भद्र-वर्ग का गांधी-विचार के प्रति बौद्धिक अलगाव और नौकरशाही का अराष्ट्रीय स्वरूप, मुख्य रूप से इन दो चीजों के कारण हमारी गाड़ी उल्टी दिशा में मुड़ गयी और अभी आज भी इस परिस्थिति में कोई फर्क नहीं आया है । इसीलिए स्वराज्य-आन्दोलन के समय के हमारे सपने साकार नहीं हो सके हैं ।

मुझे अपने स्वयं के अनुभव से ऐसा लगता है कि हम विदेशी तत्त्वज्ञान और विचारधारा का अध्ययन करते हैं, किन्तु हमारी ही पुण्यभूमि में पैदा हुए नवीनतम तत्त्वज्ञान के विषय में हम घोर अज्ञान रखते हैं । गांधीजी के विचारों का जितना अध्ययन होना चाहिए, उतना हमारे देश में नहीं हुआ । मैं भी गांधीजी के जीवन-काल में उनके विचार अच्छी तरह समझ नहीं सका था । किन्तु आज मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि गांधीजी के विचार हमारे लिए ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया के लिए हैं । मैं तो देखता हूँ कि आज नव वामपंथी (न्यू लेफ्टिस्ट) कहलानेवाले क्रान्तिकारी तरुण भी जैसे गांधीजी के ही विचार भिन्न शब्दों में अथवा भिन्न भाषा में प्रस्तुत कर रहे हैं । फिर भी हमारे देश में गांधीजी की विचारधारा के सम्बन्ध में भारी अज्ञान और उपेक्षा बरती जा रही है । गांधीजी का नाम बहुत लिया जाता है, किन्तु उनके बिचारों का अध्ययन नहीं होता ।

गांधी-विचार और कार्य-पद्धति ४

गांधीजी की विचारधारा के विषय में संक्षेप में कुछ कहना सरल नहीं है। गांधीजी के विचार एक साथ सरल और गम्भीर, सीधे और सूक्ष्म, स्पष्ट एवं उलझे हुए थे। इसके अतिरिक्त 'सत्य के प्रयोगों' के साथ-साथ उनके विचारों में संवर्धन एवं परिवर्धन होता गया। एक बार गांधीजी से यह प्रार्थना की गयी थी कि वे अपने विचारों को एक सर्वांगीण 'पाठ्य-पुस्तक' के रूप में लिख दें। तब गांधीजी ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा था कि उनके पास केवल कुछ मूलभूत सिद्धान्त ही हैं, जिन्हें उन्होंने व्यावहारिक समस्याओं पर लागू किया। इसलिए वे ऐसी कोई चीज लिख सकने में असमर्थ हैं, जो उनके विचारों की पाठ्य-पुस्तक कही जा सके।

इस बात से ही पता चलता है कि गांधीजी की लिखी या कही चीजों के विशाल समूह तथा तीन महाद्वीपों में आधी शताब्दी से भी अधिक समय के उनके कार्यों के बीच से उनके विचारों की छानबीन करने और निचोड़ निकालने में कितनी कठिनाई है। साथ ही गांधीजी के मस्तिष्क की चिरस्थायी ताजगी का तथा उनके कार्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है, जो उनके अनुयायियों को कभी-कभी विरोधाभास तथा ढोंग प्रतीत होते थे तथा अक्सर आश्चर्य में डाल दिया करते थे।

तीन मूलभूत सिद्धान्त

इन सबके बावजूद गांधीजी की विचारधारा को थोड़ी-बहुत रूपरेखा देने की कोशिश की जा सकती है। अपनी समग्र विचारधारा को व्यक्त करने के लिए गांधीजी 'सर्वोदय' शब्द का उपयोग करते थे। अपनी आत्मकथा में 'सर्वोदय' की शिक्षाओं को उन्होंने निम्न तीन मूलभूत सिद्धान्तों में समन्वित किया है :

१. व्यक्ति का हित सबके हित में निहित है,

२. जहाँ तक काम द्वारा आजीविका प्राप्त करने का सवाल है, नाई के काम का भी वही मूल्य है, जो वकील के काम का है तथा

३. श्रम का जीवन यानी कृषक और कारीगर का जीवन ही वास्तविक जीवन है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के समाजवाद-साम्यवाद के इस युग में गांधीजी के इन मूलभूत सिद्धान्तों को इन वादों के मूलभूत सिद्धान्तों के मुकाबले में रखना रुचिकर होगा। पहला सिद्धान्त समाजवाद-साम्यवाद के समष्टिवाद का—जिसमें भी समष्टि में ही व्यक्ति के हित की बात कही जाती है—समान प्रतीत होगा। किन्तु इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति की—निपट व्यक्ति की—एक परिकल्पना यानी समष्टि की वेदी पर सदैव बलि चढ़ी है। दूसरी ओर गांधीजी की अहिंसा के प्रति निष्ठा इस बात की गारण्टी थी कि किसी भी परिकल्पना की पूर्ति के लिए व्यक्ति पर सिवा नैतिक दबाव के अन्य कोई दबाव नहीं डाला जा सकता। वास्तव में, गांधीजी के चिन्तन के अनुसार 'सर्व' का हित भी व्यक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा, जब व्यक्ति 'सबके सर्वाधिक हित' के लिए प्रयत्नशील होगा। गांधीजी के लिए 'सर्व' किसी दल या राज्य में समाहित होनेवाली परिकल्पना नहीं थी। उनके लिए 'सर्व' का वास्तविक अर्थ था, समाज में रहनेवाले व्यक्तियों का सामूहिक जोड़ और 'सर्व' का हित था प्रत्येक व्यक्ति का हित। इसीलिए जब वे कहते थे कि व्यक्ति का हित भी सर्व के हित में ही सम्मिलित है, तो वे उसका अर्थ समष्टिवादी लोगों के अर्थ से भिन्न करते थे।

दूसरे सिद्धान्त के सन्दर्भ में हमें स्मरण रखना चाहिए कि वह कार्ल मार्क्स ही था, जिसने 'प्रत्येक से उसका शक्ति के अनुसार' और 'प्रत्येक को उसकी शक्ति के अनुसार' के ऊँचे सिद्धान्त का उद्घोष किया था। मार्क्सवाद के इस महान् मानवतावादी सिद्धान्त की, कम-से-कम उस मनीषी की, अन्य मानवतावादी अन्त-र्दृष्टियों की भाँति ही (यदि अधिक न कहें तो) स्वयं मार्क्सवादियों द्वारा ही व्यवहार में अवहेलना हुई है। अपने को समाजवादी कहनेवाले सभी समाजों में, साम्यवादी समाज में भी, मूल्य चुकाने की पद्धति, न्यूनाधिक वही है, जो पूंजीवाद में यानी 'काम के अनुरूप ही मजदूरी' तथा कुछ विशिष्ट प्रकार के कामों का 'अन्य कामों से अधिक मूल्य'। गांधीजी के मानववाद से इसका मेल नहीं बैठता। वे नहीं चाहते थे कि काम करनेवाले व्यक्ति को एक व्यापारिक वस्तु के रूप में देखा जाय, बल्कि इसके विपरीत उसे मानव समझा जाय, जिसकी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ वही हैं, जो पार्टी के नेताओं, अफसरों, व्यवस्थापकों, वैज्ञानिकों, कलाकारों आदि की हैं।

जहाँ तक तीसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध है, केवल कुछ साम्यवादी समाजों में, शरीरश्रम को प्रतिष्ठा देने के कुछ अधकचरे प्रयास हुए हैं। लेकिन इसे व्यवहार में लाने की कहीं वास्तविक चेष्टा नहीं हुई है। परिणाम यह आया है कि शरीरश्रम-प्रधान तथा मानसिकश्रम-प्रधान—इन दो प्रकार के लोगों के बीच

समाज का कृत्रिम एवं कठोर विभाजन--जिसमें मानसिक श्रम करनेवाले साधारणतः अधिक ऊँचा स्थान ग्रहण करते हैं--होता जा रहा है। मानसशास्त्र-वेत्ताओं के अनुसार कष्ट से और इसलिए शरीरश्रम से बचना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। लेकिन इससे यह भी ठीक-ठीक पता चल जाता है कि श्रमिक-उत्थान की समस्या की जड़ में क्या है। समस्या यह है कि शरीरश्रम में निहित, मनुष्य को शारीरिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से क्षीण करनेवाली, ऊब और नीरसता का निरसन कैसे हो? दूसरे, श्रम का कार्य से जो सम्बन्ध है, उसे इस तरह विकसित तथा परिवर्तित कर देना है कि श्रमिक के लिए कार्य सोद्देश्य और रुचिकर बन जाय। तीसरे, समाज की रुझान इस तरह बदल देना है कि शरीरश्रम की एक नयी प्रतिष्ठा प्रस्थापित हो जाय। यही कुछ उद्देश्य थे। विशेषतः यह अन्तिम यानी शरीरश्रम की प्रतिष्ठा, जिसने समाज में प्रत्येक के लिए कुछ-न-कुछ उत्पादक श्रम या जैसा कि वह कहते थे, 'जीविका श्रम' की आवश्यकता पर इतना बल देने के लिए गांधीजी को प्रेरित किया।

गांधीजी का अपना जीवन-दर्शन !

उपर्युक्त बातों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि गांधीजी का अपना एक जीवन-दर्शन था, उनके कुछ सामाजिक सिद्धान्त थे और राज्य-व्यवस्था-विषयक उनकी एक अद्भुत कल्पना थी। इसलिए जब आजादी मिली, तब हमें विदेशी लोककल्याणवादी राज्य अथवा समाजवाद या साम्यवाद की नकल करने की कोई जरूरत नहीं थी। आजादी के बाद के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने इन सबसे सर्वथा भिन्न और नया सर्वोदय का विचार प्रस्तुत किया था।

हम चारों ओर से भले ही सब-कुछ लें। समाज-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान आदि सभी में से जो कुछ अच्छा हो, वह जरूर ग्रहण करें। ज्ञान की कभी उपेक्षा न करें और सत्य की खोज में कभी पीछे न हटें। किन्तु जो कुछ भी लें, उसका अपनी परिस्थिति तथा अपने वातावरण के साथ तालमेल बैठाने की कोशिश करें। वह किसी विदेशी तत्त्व के रूप में नहीं रहना चाहिए, बल्कि हमारे स्वाभाविक विकास का एक अंगरूप बन जाना चाहिए। उसकी बुनियादें भारत-भूमि में, भारत के इतिहास में, भारतीय संस्कृति में और भारत की आत्मा में होनी चाहिए। इसीलिए गांधीजी ने कहा है कि मैं अपने घर की सभी खिड़कियाँ खुली रखना चाहता हूँ और चारों तरफ की हवा उसमें आ सके, ऐसी मेरी इच्छा है, किन्तु वह हवा ऐसी नहीं होनी चाहिए कि घर को ही उखाड़कर फेंक दे।

गांधीजी के साथ अन्याय

किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। गांधीजी के विचारों की तरफ पूरा

ध्यान देने के बदले हम पश्चिम की नकल करने की तरफ बढ़े। जवाहरलाल गांधीजी की छत्रछाया में रहे, फिर भी उन्होंने कहा कि "हम तो छोटे आदमी हैं। सर्वोदय हम कैसे सँभाल पायेंगे ?" अब, मैं यह पूछता हूँ कि क्या यह कहकर जवाहरलालजी ने गांधीजी के साथ अन्याय नहीं किया ? क्या गांधीजी ने ऐसी कोई शर्त रखी थी कि 'सर्वोदय' लाने के लिए देश के हर व्यक्ति को सन्त बनना पड़ेगा ? आजादी की लड़ाई में गांधीजी ने तो स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध तथा शिक्षित-अशिक्षित सभी को साथ लिया था। किन्तु जवाहरलालजी ने गांधीजी के साथ न्याय करने के बदले आवड़ी की कांग्रेस में समाजवाद का प्रस्ताव स्वीकार करा लिया। किन्तु क्या आज खेती, व्यापार, उद्योग, शिक्षा, किसी भी क्षेत्र में समाजवाद का कोई दर्शन होता है ? इसके बदले यदि सरकार में रहकर काम करनेवालों ने तथा समाज-सेवकों ने, सबने मिलकर सर्वोदय के लिए काम किया होता, तो आज देश की तस्वीर ही बदल गयी होती !

'...काम की सही शुरुआत तो अब हो रही है !'

गांधीजी ने स्वयं सर्वोदय-पद्धति का अभिनव प्रयोग आजादी की लड़ाई में करके दिखाया। और, वे यदि अधिक जीवित रहे होते, तो उन्होंने आजादी के बाद राष्ट्र-निर्माण के काम को सर्वोदय के रास्ते पर आगे बढ़ाया होता। इस सर्वोदय-पद्धति का विकास करने और समाज-परिवर्तन के काम में उसका उपयोग करने का काम उन्होंने जरूर अपने हाथ में लिया होता। अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व गांधीजी ने कहा था कि 'मेरे काम की सही शुरुआत तो अब हो रही है और अपना ध्येय पूरा करने के लिए मैं सवा सौ वर्ष जीना चाहता हूँ।' इस कथन में उनका युवकोचित उत्साह तो प्रकट होता ही है, यह भी कि उन्होंने अपने सामने कितना व्यापक ध्येय रखा था और उसके लिए वे कितना पुरुषार्थ करना चाहते थे।

स्वराज्य के बाद गांधीजी के मानस में क्या चल रहा था, उसकी झाँकी हमें प्यारेलालजी की पुस्तक 'लास्ट फेज' (पूर्णाहुति) में मिलती है। उसमें एक प्रकरण है—'सेटिंग डेमोक्रेसी ऑन द मार्च।' इसको पढ़ने से यह पता चलता है कि गांधीजी आगे के कार्यक्रम के बारे में कैसी कल्पना कर रहे थे। गांधीजी अपनी प्रक्रिया का प्रयोग किस तरह करते और उनके कार्यक्रम का स्वरूप कैसा होता, यह तो कौन बता सकता है ? लेकिन इतना जरूर लगता है कि उसमें 'ग्रामस्वराज्य' और 'ट्रस्टीशिप', इन दो महत्त्वपूर्ण मुद्दों का समावेश अवश्य हुआ होता। अपनी कल्पना के लोकतन्त्र की बुनियाद डालने के लिए उन्होंने पहले मुद्दे पर अपना ध्यान केन्द्रित किया होता और आज की सामन्तवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था को एक सर्वोदयी समाज-व्यवस्था में परिवर्तित करने के लिए वे दूसरे मुद्दे का उपयोग करते।

विनोबाजी ने गांधी-विचार को पुनर्जीवित किया

मेरा यह मानना है कि विनोबाजी ने अपने ढंग से गांधीजी के उद्देश्य को पूरा करने का भारी पुरुषार्थ शुरू किया है। भूदान-आन्दोलन शुरू हुआ, तब प्यारेलालजी ने कहा था : "गांधीजी का विचार आज पुनर्जीवित हुआ है। विनोबा उसका अनुवर्तन कर रहे हैं। बापू भविष्यवाणी की तरह जिस मूलगामी सामाजिक जागृति की चर्चा किया करते थे, उसकी ही शुरुआत आज हम देख रहे हैं।"

यों देखें, तो विनोबाजी को कोई प्रेरणा हुई और उन्होंने भूदान का कार्यक्रम देश के सामने रखा। पहले से बहुत चिन्तन-मनन करके विनोबाजी ने यह काम शुरू किया हो, ऐसा नहीं लगता, बल्कि एक विशेष प्रेरणा हुई और उन्होंने यह काम शुरू कर दिया।

किन्तु किसे कौन-सी बात कब सूझती है, यह नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक अनुसन्धानशाला में प्रयोग करते रहते हैं। एक ही वस्तु के लिए अनेक लोग प्रयोग करते हैं। उनमें से एकाएक किसीको कुछ प्रेरणा होती है और स्वाभाविक रूप से कोई खास खोज सामने आ जाती है। यह खोज उन अनेक प्रयोगों के परिपाकस्वरूप होती है। ऐसा ही समाज की अनुसन्धानशाला में भी होता है।

विनोबा गांधीजी के बहुत निकटवर्ती रहे हैं। उनकी सारी तालीम गांधीजी के पास हुई। गांधी-विचारधारा के साथ वह एकरस थे। अतएव 'गांधीजी का अधूरा काम पूरा करने के लिए भूदान-आन्दोलन का यह काम मैं योजनापूर्वक उठा रहा हूँ', इस रूप में भले ही भूदान का काम शुरू न हुआ हो, फिर भी वास्तव में हो ऐसा ही गया है।

भूदान-आन्दोलन द्वारा विनोबाजी ने न सिर्फ भू-समस्या का हल हमारे सामने रखा है, बल्कि यह भी स्पष्ट हो गया है कि भूदान-आन्दोलन अहिंसक तरीके से सामाजिक क्रान्ति तथा समाज के नव-निर्माण का पहला कदम है। गांधीजी ने अहिंसक क्रान्ति और नव-समाज निर्माण के सैद्धान्तिक विचार देश तथा दुनिया के सामने रखे थे, लेकिन उनके जाने के बाद धीरे-धीरे यह चीज आँखों से ओझल होने लगी थी—और दिखाई नहीं दे रहा था कि उन विचारों पर कहीं अमल भी हो रहा है। बल्कि होने यह लगा था कि राजसत्ता हाथ में आने के बाद गांधीजी के अनुयायियों ने उनका रास्ता छोड़कर पाश्चात्य ढंग के राजतन्त्र का रास्ता अख्तियार कर लिया। राज्यशक्ति के द्वारा ही समाज-परिवर्तन का काम वे करना चाहते थे। यह भी दीख रहा था कि समाज-रचना का कोई स्पष्ट रूप भी उनके सामने नहीं था। ऐसा लगता था कि वे वर्तमान समाज में थोड़ा-बहुत फेर-बदल

करके उसे कायम रखना चाहते हैं, जैसे किसी जर्जर मकान को इधर-उधर चिप्पी लगाकर खड़ा रखा जाय ! ऐसी परिस्थिति में विनोबाजी ने भूदान-आन्दोलन शुरू करके गांधीजी के विचारों को पुनर्जीवित किया ।

और अब तो भूदान का विचार ग्रामदान और ग्रामस्वराज्य के एक समग्र कार्यक्रम के रूप में विकसित हो चुका है । मुझे ऐसा लगता है कि विनोबाजी ने एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया है, जिसमें गांधीजी के ग्रामस्वराज्य का सपना साकार करने की सम्भावना दीखती है । गांधीजी का अधूरा काम इसके सिवा किसी दूसरे तरीके से आगे बढ़ सकेगा, ऐसा मैं नहीं मानता । आजादी मिलने के बाद गांधीजी देश की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक आजादी के लिए अहिंसक आन्दोलन चलाने की सोच रहे थे । यह कदम उसी दिशा में है । ग्रामदान-आन्दोलन ने सामाजिक क्रान्ति. आर्थिक क्रान्ति और नैतिक क्रान्ति का सन्देश भारत के गाँवों तक पहुँचाया है । इसलिए आज पहली बार ऐसा लगता है कि गाँवों में गांधी-विचार के अनुसार ग्रामीण विकास का समग्र ढाँचा खड़ा किया जा सकता है । इस आन्दोलन में गांधीजी की अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया का सार्वजनिक रूप में प्रयोग चल रहा है ।

दण्ड-शक्ति के बदले जन-शक्ति का ही आधार

गांधीजी की प्रक्रिया मत-परिवर्तन की प्रक्रिया थी । वे न केवल नयी सभ्यता के निर्माण में हिंसा को वर्जित करना चाहते थे, वरन् प्राथमिक साधन के रूप में कानून का भरोसा भी नहीं करना चाहते थे । आगाखाँ महल में उन्होंने प्यारेलालजी से कहा : "जब तक हमारे हाथ में सत्ता नहीं है, तब तक तो विवशता के कारण मत-परिवर्तन हमारा साधन है । लेकिन जब हमें सत्ता प्राप्त हो जायगी, तब मैं चाहूँगा कि मत-परिवर्तन हमारा स्वेच्छा से स्वीकृत साधन हो । कानून से पहले मत-परिवर्तन, यह क्रम होना चाहिए ।"

इसीलिए आज विनोबाजी जनता के पुरुषार्थ पर इतना अधिक जोर दे रहे हैं । ग्रामदान-आन्दोलन व्यापक रूप में मत-परिवर्तन और नये मूल्य तथा नये वैचारिक वातावरण का निर्माण करनेवाला एक जन-आन्दोलन है । वह लोगों के चित्त में और उनके पारस्परिक व्यवहार में दीर्घकालिक और तात्कालिक परिवर्तन लाता है । अपने पास जो है, उसमें दूसरों को सम्मिलित करने का शिक्षण वह दे रहा है ।

गांधीजी का तरीका भी यही था—लोगों को समझाना, उनकी सेवा करना, उन्हें आत्मनिर्भर बनाना । उन्होंने दण्ड-शक्ति के बदले जन-शक्ति को ही आधार माना । वे जानते थे कि भारत बहुत लम्बी अवधि तक गुलाम रहा है, इसलिए

लोग सरकार के अधीन हो गये हैं। अंग्रेजों ने जनता के पराक्रम की, स्वावलम्बन की, अभिक्रम की भावना नष्ट कर दी है और 'सरकार हमारी माँ-बाप' की पंगु-स्थिति पैदा कर दी है। इसलिए अब जनता का अभिक्रम जगाना ही मुख्य काम है, यह बात गांधीजी समझ चुके थे।

शासकों की नहीं, सेवकों की जमात चाहिए

एक बार मोटर-दुर्घटना में मेरे हाथ की हड्डी टूट गयी। डॉक्टरों ने उस हाथ पर प्लास्टर चढ़ा दिया। तीन महीनों के बाद जब प्लास्टर खोला, तो देखा कि हाथ एकदम सूख गया है। फिर मुझे उसकी सेवा करनी पड़ी। महीनों तक उसकी अच्छी तरह देखरेख करनी पड़ी। डॉक्टरों ने उस हाथ की सेवा के लिए कुछ कसरत बतलायी। उससे धीरे-धीरे रुधिराभिसरण शुरू हुआ और हाथ में पुनः चेतना लौट आयी।

इसी तरह हमारे देश में जो लोक-शक्ति थी, उसकी सुगन्ध आज कपूर की तरह उड़ गयी लगती है। कारण यह है कि वह शक्ति सौ-डेढ़ सौ वर्षों तक गुलामी के प्लास्टर में बन्द थी। उससे पहले भी दूसरे राजाओं ने भारत पर आक्रमण किया था, लेकिन वे भारतीय बनकर यहीं रह गये थे। उनमें और अंग्रेजों में अन्तर यह था कि अंग्रेज भारत के नहीं बने थे। इन अंग्रेजों ने हमारी लोक-शक्ति की रीढ़ ही तोड़ डाली।

भारत की काया पर लगा पराधीनता का प्लास्टर १५ अगस्त १६४७ को कट गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि प्लास्टर कटने के साथ ही जनता अपने-आप एकदम सचेत होकर काम में लग जाय। प्लास्टर से मुक्त हुई काया में अभी चेतना का लौटना बाकी है। उसके लिए दीर्घ धैर्य और प्रेमपूर्ण सेवा की जरूरत है। काफी लम्बी गुलामी ने हमारी जनता का पराक्रम और शौर्य छीन लिया है, उसकी कमर तोड़ दी है और उसे पंगु तथा परावलम्बी बना दिया है।

इसीलिए गांधीजी ने 'लोकसेवक संघ' की बात कही थी। उन्होंने कहा था कि कांग्रेस का रूपान्तर किया जाय और वह सेवकों की, खिदमतगारों की जमात बने। सेवकों की जमात, शासकों की और हाकिमों की जमात नहीं, जो यह कहती है कि 'हमें सत्ता सौंपो, हमें गद्दी पर बैठाओ, तो हम आपके आँसू पोंछ देंगे, आपका पेट भर देंगे, आपका तन ढँक देंगे और आपकी टूटी-फूटी झोंपड़ी आबाद कर देंगे। आप हमें केवल अपना वोट दे दीजिये। और फिर आपके सारे काम हम कर देंगे।' जनता को अधिक दीन-हीन और पराधीन बनाने के लिए इससे अधिक और किसी चीज की जरूरत नहीं। इसीलिए गांधीजी ने कहा था कि अब शासकों की नहीं, सेवकों की जमात चाहिए।

सरकार तो बेचारी है !

श्रौर, गांधीजी जानते थे कि सरकार तो बेचारी है, उसमें शक्ति ही कितनी है ? जिस जमात के हाथ में सत्ता होगी, सरकार होगी, वह क्या कर सकेगी ? सरकार के पास कितनी दौलत है, कितने लोग हैं ? इतने बड़े देश का निर्माण करना क्या उसके लिए कभी भी सम्भव है ? जब कि जनता के पास तो श्रपार शक्ति है । उस शक्ति को प्रकट करने के लिए जरूरत है सामुदायिक रचनात्मक कार्यों की । जनता को काम में लगाने की जरूरत है श्रौर वह भी विरोधी-श्रान्दोलन चलाने के लिए नहीं, बल्कि ठोस रचनात्मक लक्ष्य सिद्ध करने के लिए । किसीके विरोध में श्रान्दोलन करने के लिए जनता को उभाड़ देना एक सरल काम है, किन्तु उसे कुछ नया सिखलाने के लिए, पुरानी मान्यताश्रों को बदलने के लिए, मिल-जुलकर कोई ठोस काम करने के लिए उसे तैयार करना बड़ा कठिन काम है । इसके लिए जनता के बीच जाना पड़ेगा, वहीं जीना पड़ेगा श्रौर जो कुछ करना उपयुक्त हो, उसे करने का प्रशिक्षण धैर्यपूर्वक देना होगा ।

इसीलिए गांधी-विचार उन्नत हुआ है !

गांधीजी इस तरह जनता को जगाना चाहते थे, राज्य-शक्ति के विकल्प में लोक-शक्ति खड़ी करना चाहते थे । उनका सक्रिय कार्यक्रम क्या होता, यह श्राज नहीं कहा जा सकता । उनमें मौलिक प्रतिभा भी । समाज-परिवर्तन के लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम उन्होंने प्रस्तुत किया होता ।

विनोबाजी ने ऐसा ही एक व्यापक लोक-श्रान्दोलन का तथा लोक-शिक्षण का कार्यक्रम देश के लिए प्रस्तुत किया है । उन्होंने गांधीजी के ही श्रधूरे काम को श्रागे बढ़ाया है । गांधीजी के हाथ की मशाल लेकर वे श्रागे बढ़े हैं । गांधीजी के कार्य को श्रसाधारण प्रतिभा के साथ व्यापक तथा विकसित करके विनोबाजी ने सिद्ध कर दिया है कि गांधी-तत्त्वज्ञान में सामाजिक क्रान्ति को पूर्णता तक ले जाने का कोई व्यावहारिक तरीका है ।

भूदान पहला चरण था, ग्रामदान दूसरा । श्रौर श्रब तीसरा चरण उठाया जा रहा है—ग्रामस्वराज्य का । गांधीजी ने गाँवों पर विशेष जोर दिया है । यह उनके चिन्तन की बुनियाद थी । श्रागे का कार्यक्रम गाँवों से ही शुरू करने की श्रौर ग्रामस्वराज्य की बात उन्होंने कही थी । वे स्वराज्य की बुनियाद ग्रामस्वराज्य को ही मानते थे । विनोबाजी ने इस ग्रामस्वराज्य के चिन्तन को बहुत श्रागे बढ़ाया है । विनोबाजी के श्रान्दोलन के कारण गांधीजी का श्रहिंसक क्रान्ति श्रौर श्रामूल समाज-परिवर्तन का विचार श्राज उन्नत हुश्रा है ।

भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन ५

भूदान-आन्दोलन शुरू हुआ, तब पहले तो दूसरे लोगों की तरह मुझे भी यह एक मजाक जैसा लगा। इससे भूमि-समस्या कैसे सुलझेगी? इस तरह दान माँगते फिरेंगे, तब तो सैकड़ों वर्ष लग जायेंगे। किन्तु मैं बारीकी से देखता रहा। विनोबाजी से भी मिला। उनके साथ चर्चाएँ कीं। इसके पीछे उनकी मूल कल्पना क्या है, वह सब समझ लिया। और मुझे उसके प्रति आकर्षण हुआ। मुझे महसूस हुआ कि स्वयं अनुभव करना चाहिए। इसलिए मैं गया जिले में घूमा। सात दिनों में साढ़े सात हजार एकड़ भूमि मुझे भूदान में मिली। मेरी समझ में आ गया और मैं इस आन्दोलन में कूद पड़ा।

भूदान-यज्ञ काफी बड़ी आलोचनाओं का शिकार रहा है। बहुतों ने इसके माथे असफलता का टीका लगाया, बहुतों ने उसका मखौल उड़ाया। मुझे इन पर कुछ नहीं कहना है। लेकिन मैं यह जरूर कहना चाहता हूँ कि भूदान-आन्दोलन की करामात उसकी सारी भूलों और असफलताओं के बावजूद भी निःसन्देह उल्लेखनीय है। सामाजिक जीवन के दायरे में उसने अहिंसा के सक्षम तरीके को प्रकट किया है। यह ठीक है कि न तो इसके द्वारा देश की भूमि-समस्या जैसा बड़ा प्रश्न हल हो पाया है और न उसकी तुलना में भूमिहीनों का छोटा मसला हल हुआ है। भूदान ने भूमिहीनों के लिए जो कुछ भी किया है, वैसा और कोई नहीं कर सका है। आन्दोलन ने भूमिहीनों के लिए दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक ही किया है।

जमीन के पुनर्वितरण का काम कितना महत्त्वपूर्ण है, इसका बोध दूसरों को है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु मेरे लिए तो इसका बहुत महत्त्व था और आज भी है। आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति के सम्बन्ध में अगर कोई भी सोचेगा, उसका ध्यान जमीन के प्रश्न की तरफ जरूर जायगा।

ये बोलते आँकड़े

और, परिणाम के सम्बन्ध में ठोस वास्तविकता क्या है, उसकी खोज किसीने की है? भारत जैसे देश में, जहाँ भूमि की समस्या विकट है और प्रति मनुष्य

जमीन का प्रमाण अत्यन्त अल्प है, वहाँ भी लगभग ४२ लाख एकड़ भूमि स्वैच्छिक दान द्वारा प्राप्त हुई है और उसमें से १२ लाख एकड़ भूमि का देशभर में फैले ४ लाख ६० हजार भूमिहीन परिवारों में वितरण भी हुआ है।

इसका तो यही अर्थ हुआ न कि जमीन बाँटने के मामले में जितना भूदान सफल हुआ, उतना कानून सफल नहीं हुआ। नेहरूजी जैसे प्रधानमन्त्री थे! उन्होंने हदबन्दी-कानून के सम्बन्ध में राज्यों के मुख्य मन्त्रियों को कितने-कितने पत्र लिखे! योजना-आयोग की तरफ से कितने परिपत्र गये! समाजवादियों और साम्यवादियों के कितने आन्दोलन चलते रहे! उनके भी दबाव पड़ते रहे। फिर भी स्वराज्य के २५ वर्षों में भूमिहीनों को कानून द्वारा जितनी जमीन बाँटी गयी, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक जमीन भूदान द्वारा बाँटी गयी है।

क्या आपने कभी पूछा है कि हदबन्दी के कानून से भूमिहीनों को कितनी जमीन मिली है? मैं सरकारी परती जमीन के बँटवारे की बात नहीं करता, किन्तु हदबन्दी के कानून के अन्तर्गत भूमि-मालिकों से लेकर भूमिहीनों को कितनी जमीन दी गयी, इसकी बात करता हूँ। इस तरह देखेंगे तो गुजरात में कानून द्वारा मात्र आठ हजार एकड़ जमीन मिली है और उसमें से छह हजार के लगभग बाँटी गयी है, जब कि भूदान द्वारा गुजरात में ५० हजार एकड़ के लगभग जमीन बाँटी जा चुकी है। महाराष्ट्र में हदबन्दी के कानून के अन्तर्गत लगभग सवा लाख एकड़ जमीन प्राप्त घोषित हुई है, किन्तु उसमें से मात्र २५ हजार एकड़ जमीन ही बाँटी जा सकी है, जब कि वहाँ भूदान द्वारा एक लाख छह हजार एकड़ भूमि बाँटी जा चुकी है। बिहार में हदबन्दी के कानून के अन्तर्गत एक एकड़ जमीन भी नहीं बाँटी गयी है, जब कि भूदान द्वारा वहाँ तीन लाख साठ हजार एकड़ भूमि भूमिहीनों को मिली है। लोग कहते फिरते हैं कि विनोबा को तो भूदान में मात्र रेतीली, पथरीली और बंजर जमीन ही मिली है, किन्तु किसीने यह आँकड़े देखने का और उसकी तुलना करने का भी कष्ट किया है? जो जमीन बाँटी जाती है, वह खेती के योग्य होने पर ही बाँटी जाती है।

दूसरी तरफ कतल के रास्ते कितनी जमीन बाँटी गयी, यह भी देखिये। तेलंगाना में इतना सब हुआ, फिर भी एक एकड़ जमीन तक किसीको नहीं मिली। नक्सलवाडी में इतनी खून-खराबी हुई, फिर भी किसीके हाथ में जमीन नहीं आयी। इस तरह जमीन के बँटवारे में कानून और कतल की अपेक्षा करुणा का मार्ग अधिक सफल हुआ है। भूदान-आन्दोलन ने इस देश में बारह लाख एकड़ भूमि भूमिहीनों में बाँटी है। और यह सब हृदयपूर्वक तथा स्वेच्छा से हुआ।

इससे नैतिक ताकत पैदा होती है। देश में चारों ओर तोड़नेवाली ताकतें काम कर रही हैं, तब यह एक जोड़नेवाली ताकत बनती है।

अहिंसक क्रांति का अग्रचरण

भूदान इस आन्दोलन का पहला चरण है। ऊपर-ऊपर से देखनेवालों को तो यह महज भूमि बाँटने का ही एक आन्दोलन लगेगा। लेकिन यह आन्दोलन केवल भूमिहीनों को भूमि बाँटने का आन्दोलन नहीं है। यह मानव को ऊपर उठाने का एक प्रयोग है। यह इस बात को समझाने का एक प्रयोग है कि आपके पास कुछ है तो उसमें अपने उस भाई को भी हिस्सेदार बनाइये, जिसके पास कुछ भी नहीं है। यानी भूदान एक समग्र अहिंसक क्रान्ति का प्रथम चरण था। प्यारेलालजी के शब्दों में वह अहिंसक क्रान्ति के लिए व्यूहभेद करनेवाला एक अग्रचरण है। भूदान ने हमारे देश में मौजूद सामन्तवादी और पूँजीवादी समाज-रचना के मर्म पर चोट की है।

समाज-परिवर्तन का ठोस कार्यक्रम

दूसरा चरण है, ग्रामदान। वह समाज-परिवर्तन का एक ठोस कार्यक्रम समाज के सामने रखता है। वह गाँव में सामूहिकता और परस्पर सहयोग की भावना जगाकर ग्राम-स्वराज्य की स्थापना के लिए नींव डालता है। ग्रामदान का पहला स्वरूप बहुत क्रान्तिकारी था। उसका स्वरूप था—भूमि का स्वामित्व छोड़ने के साथ गाँव की सारी जमीन का लगभग समानता से पुनर्वितरण। ऐसे भी चार-पाँच हजार ग्रामदान हुए। किन्तु व्यापकता के बिना क्रान्ति नहीं होती। क्रान्तिकारी बनने के लिए समाज में कोई भी आदर्श व्यापक रूप से मान्य होना चाहिए। इसलिए विनोबाजी ने ग्रामदान का नया स्वरूप प्रस्तुत किया।

जब तक गाँव में कोई मानसिक परिवर्तन नहीं होगा, सामाजिक परिवर्तन नहीं होगा, पारस्परिक सम्बन्धों में कोई फर्क नहीं पड़ेगा, तब तक कोई उन्नति नहीं होगी। इसलिए ग्रामदान में मुख्य रूप से इन परिवर्तनों पर जोर दिया जाता है। सबसे पहले तो हम ग्रामदान द्वारा लोगों के मानस में ऐसा परिवर्तन लाना चाहते हैं कि भूमि का मालिक भगवान् है, इसलिए भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहना चाहिए। भूमि का पूरा स्वामित्व ग्रामसभा को समर्पित करना है। फिर भी भूमि पर खेती करने, उत्पादन का उपभोग करने और विरासत में देने का हक़ भूमिवान् के पास ही रहेगा। जमीन ग्रामसभा के नाम हो जाती है और सरकारी खाते में पूरे गाँव का एक खाता हो जाता है तो इससे लोगों के मानस में परिवर्तन होता है और साथ-साथ सरकार के राजस्व-विभाग का काम भी बहुत सरल हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि भूमिवान् को अपनी जमीन का बीसवाँ हिस्सा भूमिहीनों के लिए दान देना है। आज प्रत्येक व्यक्ति गाँव में चाहे जैसे भी अधिक-से-अधिक जमीन हड़प लेने के चक्कर में पड़ा है। इसकी हड़प लें, उसकी हड़प लें, इसे पचा लें, उसे पचा लें, स्कूल की जमीन, श्मशान की जमीन, गाँव की परती जमीन में से कुछ हड़प कर लें। इन सबके सामने यह एक नया ही कदम होगा, कुछ देने का। गरीब को भी लगेगा कि इन लोगों ने हमारे लिए कुछ किया। इससे गाँव में पारस्परिक सम्बन्ध भी कुछ सुधरेंगे।

तीसरी बात यह है कि प्रत्येक आदमी अपने खेत में जो कुछ पैदा करेगा, अथवा नकद कमाई करेगा, उसका ४०वाँ हिस्सा ग्रामकोष में देगा। किसानों को छोड़कर दूसरे अपनी मासिक कमाई में से एक दिन की कमाई देंगे। श्रमजीवी महीने में एक दिन का श्रमदान करेंगे। इस तरह बाँटने की, छोड़ने की, त्याग की प्रक्रिया सतत चलती रहेगी। इस तरह जो ग्रामकोष खड़ा होगा, उससे गाँव में उद्योग-धंधे खड़े हो सकेंगे और जरूरतमंदों की सहायता की जा सकेगी। गाँववाले धीरे-धीरे महाजनों के कर्ज से भी छुटकारा पा सकेंगे।

चौथी बात यह है कि गाँव की एक ग्रामसभा बनेगी, जो पूरे गाँव के हित को ध्यान में रखते हुए सर्वानुमति से काम करेगी।

ग्राम-स्वराज्य पुनर्स्थापित करना है

ये चारों बातें ग्राम-स्वराज्य के चारों पाये जैसी हैं। इस प्रकार देखें तो ग्रामदान द्वारा जमीन का सामाजिक स्वामित्व होता है, ग्राम-समाज में बाँटकर जीने की आदत पड़ती है और गाँव का काम-काज सर्वानुमति से चलना आरम्भ होता है। भूमि-व्यवस्था ग्रामसभा के हाथ में आती है। इस तरह सरकारी-विभाग के हस्तक्षेप से गाँव मुक्त बनता है। ग्रामसभा नशाबंदी का प्रस्ताव कर सकती है और उसके अमल के लिए भी व्यवस्था कर सकती है। ग्रामसभा यह प्रयत्न भी कर सकती है कि गाँव का कोई भी झगड़ा अब कचहरी में नहीं जायगा। ग्रामसभा साहूकारों को अधिक ब्याज लेने से रोक सकती है। इस प्रकार ग्राम-समाज की समस्याएँ ग्राम-समाज के स्तर पर ही हल करने की एक भूमिका ग्रामदान द्वारा तैयार होती है। गाँव में एक नयी चेतना, नयी भावना जगती है।

भारत का हजारों वर्षों का एक इतिहास है। यहाँ अनेक साम्राज्य बने और उनका पतन भी हुआ। फिर भी भारत जीवित रहा। इसका क्या कारण है? एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है कि जैसे आँधी में भीमकाय वृक्ष भी उखड़ जाते हैं, किन्तु क्षीणकाय घास अपनी जगह बनी रहती है, उसी तरह यहाँ साम्राज्य

बदलते और टूटते रहे, किन्तु गाँवों में जो ग्रामराज्य कायम थे, वे जीवित रहे और इसीसे भारत जीवित रहा। अंग्रेजी शासन आया, तब जान-बूझकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यह ग्रामराज्य-संस्था तोड़ दी, क्योंकि वही हमारे समाज को बाँधनेवाली शक्ति थी और वह कायम रहती तो उनकी (अंग्रेजों की) जड़ें इस देश में बहुत गहराई तक नहीं जा सकती थीं। इसीलिए उन्होंने गाँव के संगठन को तोड़ा। इस तरह हमारे समाज का अंग्रेजों ने 'एटमाइजेशन'—विदीर्णीकरण किया। उनके कारण गाँवों की दुर्दशा हुई। इन गाँवों को उठाने के लिए फिर से उनका संगठन खड़ा करना होगा और ग्रामदान द्वारा यही काम करना है।

लोक-शक्ति का प्रभाव

उदाहरण के लिए मँगरौठ की बात लें। मँगरौठ हमारे देश का पहला ग्रामदान है। जब ग्रामदान हुआ, तब गाँव के लोगों ने कहा कि अब हमारा गाँव एक परिवार बन गया। इसलिए पूरे गाँव की मालगुजारी ग्रामसभा चुका देगी, फिर वह गाँववालों से हिसाब कर लेगी। किन्तु गाँव के पटवारी ने कहा कि वह ग्रामदान को नहीं मानता। तो गाँववाले इकट्ठे होकर पूरे गाँव की मालगुजारी देने गये। तब राजस्व-अधिकारी ने कहा कि मुझे इस तरह मालगुजारी लेने का कोई अधिकार नहीं है। पण्डित गोविन्दवल्लभ पंत उस समय उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री थे। बात उन तक पहुँची। वे दूरदर्शी थे। समझ गये कि इतनी अच्छी बात को इनकार करेंगे, तो सरकार की कितनी बदनामी होगी। उन्होंने तुरन्त आदेश दिया कि पूरे गाँव की इकट्ठी मालगुजारी ले ली जाय।

तो, यह लोकशक्ति का चमत्कार है। मात्र एक गाँव के लिए जब ऐसा आदेश देना पड़ा, सरकारी रीति-नीति में फेरबदल करना पड़ा, तो अधिक ग्रामदान हों, तब तो इस तरह बहुत से फेरबदल हो सकते हैं। जनता में ऐसी शक्ति आनी चाहिए जिससे राज्य पर उसका प्रभाव पड़ सके। जनता अपनी शक्ति से अपनी समस्याएँ सुलझा सके और राज्य की भी मदद कर सके। ग्रामदान होने से गाँव में एक संगठन बनता है, आपस में मेल होता है, सामूहिकता की भावना जगती है, कुछ चेतना प्रकट होती है और इस तरह गाँव की शक्ति पनपती है।

सरकार को सही दिशा में अगर मोड़ा जा सकता है, तो जनता की संगठित शक्ति द्वारा ही। और ऐसी लोकशक्ति जिसके द्वारा निर्मित हो सकती है, वही क्रान्तिकारी कार्यक्रम है। जब मैं राजनैतिक दल में था, तब दो बार बड़े-बड़े प्रदर्शन आयोजित किये थे। हजारों लोग आये थे, सचिवालय की तरफ कूच किया था। लेकिन इन सबसे आखिर होता क्या है? क्या जनता की कोई शक्ति पनपती है? जब इन प्रदर्शनों में गोली आदि चलती है, तो लोग परास्त हो जाते

हैं। इसलिए जनता की शक्ति तो ग्रामदान जैसे रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा ही सुदृढ़ हो सकती है। लोकसभा के समक्ष एक लाख की भीड़ इकट्ठी कर देने से ऐसी लोकशक्ति नहीं पैदा हो सकती। यह भी लोकशक्ति का एक स्वरूप हो सकता है, किन्तु लोकशक्ति द्वारा निर्माण का विधायक काम करना हो, सच्चे अर्थ में जिम्मेदार लोकशक्ति जगानी हो, तो वह ग्रामदान जैसे बुनियादी कार्यक्रम द्वारा ही हो सकेगा।

और, ऐसी शक्ति जगाये बिना कोई चारा नहीं। स्वराज्य का हमारा अनुभव यह कहता है कि केवल राज्य द्वारा कोई काम पूरा नहीं होता। मुख्य जिम्मेदारी तो जनता को ही उठानी है। इतनी पंचवर्षीय योजनाओं के अनुभव से हमने देखा कि लोक-जागृति और लोक-संगठन के बिना निर्माण-कार्यों और विकास-योजनाओं के पीछे करोड़ों रुपये खर्च करने के बावजूद कुछ नहीं हुआ। जब तक जनता का अभिक्रम नहीं जगता, तब तक इन कामों में प्राण नहीं आ सकता।

राज्यशक्ति या लोकशक्ति ?

सरकार के पास बहुत अधिक धन है और उस धन से वह बड़े-बड़े काम कर सकने में समर्थ है, ऐसा मानना भी एक भ्रम है। सरकार के पास जो शक्ति है, वह जनता की शक्ति की तुलना में बहुत कम है। एक उदाहरण दूँ। अभी मैं बिहार के मुसहरी-प्रखण्ड में काम कर रहा हूँ। वहाँ मैंने देखा कि चालू वर्ष में इस प्रखण्ड के लिए सरकार की तरफ से मात्र रुपया १५,००० ही आवंटित किये गये हैं, किन्तु ग्रामदान के कार्यक्रमानुसार यदि प्रत्येक गाँव अपनी पैदावार का ४०वाँ हिस्सा ग्रामकोष में जमा करे और इस प्रकार यदि एक हजार रुपये भी एकत्र करे, तो पूरे प्रखण्ड में १२१ गाँव होने के कारण कुल १,२१,००० रुपये इनके हाथ आ सकते हैं। इसके अलावा भूमिहीन मजदूरों के श्रमदान से हजारों मनुष्य-दिन प्राप्त हो सकते हैं। यानी कि एक प्रखण्ड के विकास के लिए जहाँ राज्य-शक्ति जब मात्र १५,००० रुपये ही खर्च कर सकती है, वहाँ लोक-शक्ति १,२१,००० रुपये खर्च कर सकती है। ग्रामदान गाँव की कितनी अधिक बिखरी हुई साधन-शक्ति को इकट्ठी कर सकता है, इस बात का कुछ खयाल इससे आयेगा।

लोक-कल्याणकारी राज्य का नाम लेना तो आजकल एक फैशन हो गया है। लेकिन वह आयेगा कितने वर्षों में, वह तो भगवान् ही जाने। योजना-आयोग पंचवर्षीय योजनाओं के बाद भी देश की क्या स्थिति रहेगी, उसका जो चित्र प्रस्तुत करता है, वह भयानक है, जब कि ग्रामदानी गाँव में तो आज से ही लोक-कल्याण-कारी राज्य का आरम्भ हो सकता है। गाँव में कोई भूखा न रहे, नंगा न रहे, बेकार न रहे, इसके लिए पूरा गाँव विचार करने लगे और सामूहिक प्रयत्न शुरू कर दे तो

गाँव में कल्याणकारी ग्रामराज्य की शुरुग्रात हो जाय। यह सब गाँव-गाँव में लोकशक्ति जगाये बिना सम्भव नहीं है।

किन्तु ग्राज हमारे देश में लोकशक्ति का नितान्त ग्रभाव है। मिल-जुलकर काम करने की मनोवृत्ति नहीं है। यदि पाँच ग्रादमी कोई काम करते होंगे, तो उसे बिगाड़ने के लिए दूसरे पाँच तैयार हो जाते हैं। जब तक इस मनोवृत्ति को नहीं छोड़ेंगे ग्रौर मिल-जुलकर ग्रपना काम स्वयं करने की शक्ति नहीं खड़ी करेंगे, तब तक दिल्ली की गद्दी पर ग्राप चाहे जिसे बैठा दें, तो भी देश ग्रागे नहीं बढ़ सकेगा। ग्रामदान द्वारा जनता का ग्रभिक्रम पैदा होता है, गाँव में एक सगठन बनता है, ग्रामभावना जगती है। इससे गाँव के निर्माण के लिए, ग्रामस्वराज्य की स्थापना के लिए एक शक्ति प्रकट होती है। यह बहुत बड़ी बात है। इसके बिना साढ़े पाँच लाख गाँवों का उत्थान कैसे हो सकता है?

त्याग की दीक्षा का कार्यक्रम

स्वराज्य की लड़ाई में हमें त्याग की दीक्षा मिली थी। किन्तु स्वराज्य मिल जाने के बाद हम उसे भूल गये ग्रौर भोग के पीछे पड़ गये। बस, लेना ही लेना है, जितना मिल सके उतना लाभ लेना है, देना कुछ नहीं है, ऐसा एक मानस देश में बन गया है। इस मानस को, इस विपरीत प्रवाह को बदलना पड़ेगा। कुछ देना शुरू करें। त्याग की शक्ति की महिमा तो वेदकाल से गायी जाती रही है। किन्तु यहाँ तो त्याग की बात को एक स्थूल कार्यक्रम बनाकर ग्रामदान के रूप में विनोबाजी ने हमारे समक्ष रखा है: मालिकी छोड़ने की बात, भूमि का बीसवाँ भाग देने की बात, वर्ष में उपज का चालीसवाँ भाग देने की बात। इससे देनेवाले के मानस में कुछ परिवर्तन होगा। लेने की जगह देने की बात! गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल ग्रादि को ग्राचरण में उतारने का एक स्थूल कार्यक्रम! हमारे देश में बड़े-से-बड़े चिन्तकों का भी सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि उन्होंने महान् विचार तो रखे, किन्तु उसे व्यवहार में लाने का मार्ग नहीं बताया। महापुरुषों ने सारी बातें कही ही हैं, फिर भी ग्राज समाज की कैसी हालत है? कौन बुद्ध के रास्ते चल रहा है? कौन ईसा के बताये रास्ते से चल रहा है? कौन मोहम्मद के मार्ग पर चल रहा है? यानी ये सब केवल बातें ही बातें रह जाती हैं। ग्रतः इन सब बातों को हमें ग्रपने जीवन में, ग्रपने पड़ोसी के जीवन में, गाँव के जीवन में दाखिल करना होगा। इसके लिए ही यह ग्रामदान-ग्रामस्वराज्य का कार्यक्रम है, यह एक नैतिक उत्थान का बहुत बड़ा व्यापक ग्रौर गहरा कार्यक्रम है। जो वस्तु बहुत प्यारी है, मालिकी, उसे छोड़ना। जो भूमि प्यारी है, उसका कुछ भाग छोड़ना। मेहनत से जो पैदा किया जाता है, उसमें से नियमित देते रहना। ये

कुछ छोटी बातें नहीं हैं। इनसे जो शक्ति पैदा होती है, वह शक्ति नया समाज-निर्माण कर सकती है। एक अच्छा समाज बनाने की अनुकूलता गाँव में पैदा होती है।

रोग की जड़ में जाना पड़ेगा

यों देखने जायेंगे, तो देश में अनेक प्रश्न हैं, अनेक तरह की समस्याएँ हैं। हजार जगह हजार तरह की परिस्थितियाँ हैं। तो क्या अलग-अलग प्रश्न लेकर उसे सुलझाने का प्रयत्न करेंगे? उससे क्या कोई शक्ति पैदा होगी? अनेक प्रकार की समस्याएँ हैं, उनके मूल में जाना होगा। रोग के भिन्न-भिन्न लक्षण दीखते हैं, उसे लेकर कब तक इलाज करते रहेंगे? मूल रोग को ही समझना चाहिए। और मूल में जाकर इलाज करना चाहिए। उसका जड़-मूल से नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इसलिए बुनियाद से ही ग्रामदान जैसा कोई रचनात्मक कार्यक्रम शुरू करना पड़ेगा। जनता को यह समझाना पड़ेगा कि वास्तव में देश की समस्याओं का हल आपके और मेरे हाथ में है। कोई दूसरा आकर हमारा उद्धार नहीं कर सकेगा। लोगों में आत्मविश्वास पैदा करना होगा, उन्हें अपने कार्य अपने-आप पूरे करने के अवसर और साधन उपलब्ध कराने होंगे। उन्हें अपने गाँव की व्यवस्था सँभालने के लिए तैयार कर लोकतन्त्र की नींव मजबूत करनी होगी। इसके लिए बहुत से उपयुक्त कार्यक्रम चलाने पड़ेंगे, किन्तु उनके साथ-साथ ऐसा भी कोई कार्यक्रम चलाना पड़ेगा, जो लोक-आन्दोलन का स्वरूप ले सके। ऐसा होगा, तभी देशभर में उसका प्रभाव पड़ेगा, देश के आयोजन पर प्रभाव पड़ेगा, गाँवों में बसी ८० प्रतिशत जनता की आवाज सुनायी पड़ेगी। आज तो आयोजन के सम्बन्ध में या दूसरी बातों के सम्बन्ध में कुछ भी कहें, उसका ज्यादा असर नहीं पड़ता, क्योंकि हमारे शब्दों के पीछे कोई लोकशक्ति नहीं है। लोक-आन्दोलन खड़ा हो, तो लोक-शक्ति जगे और फिर आयोजकों के साथ, अर्थशास्त्रियों के साथ और सरकार के साथ देश के लाखों गाँवों की तरफ से बात की जाय।

हमारे सौभाग्य से देश में ग्रामदान का यह आन्दोलन चला। उसमें से एक शक्ति प्रकट हुई, एक आशा बनी। लेकिन अभी तो बहुत ही कम ताकत इस आन्दोलन के पीछे लगी है। यदि बड़े-बड़े नेता और देशभर के कार्यकर्ता केवल सात दिन भी एक साथ इस काम में लगे होते, तो निराला ही दर्शन होता। चुनाव के समय जैसे लोग गाड़ी, घोड़ा और जीप लेकर निकल पड़ते हैं, लोगों के कान फट जायँ, ऐसा जोरदार प्रचार रात-दिन करते हैं, करोड़ों रुपये पानी की तरह खर्च

होते हैं और सब लोग आकाश-पाताल एक कर देते हैं, इस तरह की संगठित ताकत यदि इस आन्दोलन के पीछे लगी होती, तो आज की अपेक्षा बहुत अच्छा परिणाम आया होता।

व्यापक लोकसम्मति प्राप्त हुई है

फिर भी, अब तक इस आन्दोलन का जो परिणाम आया है, वह भी कम आशाजनक नहीं है। गांधीजी के अहिंसक मार्ग से सर्वोदयी समाज-रचना की बुनियाद डालने का यह काम है। यद्यपि अभी बहुत कुछ करना है। यह तो मात्र पहला चरण है। मैं उन बहुत सारे आलोचकों से सहमत हूँ, जो यह कहते हैं कि ग्रामदान अभी कागजों में है। उसे धरती पर उतारना है।

लेकिन यों देखें तो लोकसभा और विधानसभा में जो कुछ होता है, वह पहले तो कागज पर ही होता है न! कानून बनते हैं, वे भी कागज पर ही न! २५ वर्षों में कितने कानून बने होंगे? उनमें से मात्र १० प्रतिशत मुश्किल से व्यवहार में आये होंगे। विनोबा ने ठीक ही कहा है कि आखिर चुनाव में क्या करते हैं? कागज का टुकड़ा ही डालते हैं न? किन्तु उस कागज में इतनी ताकत है कि हुकूमतें बदल जाती हैं, हुकूमतें! जब कि इसमें तो जनता स्वयं कुछ करने का संकल्प लेती है।

इसलिए यह सही है कि अब तक ग्रामदान के लिए व्यापक लोकसम्मति प्राप्त करने का ही आन्दोलन चला है। ग्रामदान की शर्तों के लिए ग्राम-जनता की सम्मति लेने पर सारा ध्यान केन्द्रित था। यह समझने की बात है कि वास्तव में इस आन्दोलन का उद्देश्य कुछ छिटपुट 'आदर्श गाँव' बनाना नहीं, समाज-परिवर्तन के लिए सर्व-सामान्य लोकमानस तैयार करना है। दस-बीस-पचास गाँवों के नमूने बनाकर रखें और चारों तरफ का समाज जैसे-का-तैसा ही रहे, तो ये नमूने समुद्र-मध्य के टापुओं की तरह गर्क हो जायेंगे। ये नमूने समुद्री थपेड़ों के आगे टिक नहीं सकेंगे। नमूने बनाकर दिखाने से क्रान्ति हो सकेगी, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। इसीलिए बड़े-से-बड़े प्रदेश को इस आन्दोलन के दायरे में लाने की कोशिशें हुईं। अब जहाँ-जहाँ ग्रामदान के संकल्प लिये गये हैं, वहाँ-वहाँ इस संकल्प को व्यवहार में लाने का दूसरा चरण शुरू किया गया है। बिहार के मुसहरी-प्रखण्ड में इस दूसरे चरण के लिए ही मैं जाकर बैठा हूँ।

आन्दोलन का तीसरा चरण

भूदान और ग्रामदान के बाद आज इस आन्दोलन का तीसरा चरण है, ग्राम-स्वराज्य। अब तक जितना काम हुआ है, उस हिसाब से अभी जो करना शेष है,

वह समुद्र जैसा विशाल है । यह काम मात्र वे मुट्ठीभर सर्वोदय-कार्यकर्ता नहीं कर सकते और हरगिज सरकारी एजेन्सियों और कर्मचारियों से भी यह नहीं होनेवाला है । हाँ, इन सबसे हमें मदद मिलेगी, लेकिन मुख्य जिम्मेदारी ग्रामीण समुदायों को स्वयं ही उठानी होगी । सर्वोदय की सामुदायिक राज्य-व्यवस्था (कम्यूनिटेरियन पॉलिटी)—लोकनीति—के एक-एक स्तर का, बुनियाद से शुरू क शीर्ष तक, निर्माण करना होगा । यह हमारे सामने प्रमुख चुनौती है । केवल सर्वोदय-वालों के सामने नहीं, बल्कि सच पूछा जाय तो जो भी शान्तिमय समाज-परिवर्तन और विकास में विश्वास रखते हैं, उन सबके सामने यह एक खरी चुनौती है । एक भगीरथ काम है यह; किन्तु उसे बिना किये आज की अनेकविध समस्याओं का दूसरा कोई हल भी नहीं है । इस आन्दोलन का मेरा जो अनुभव है, उसके आधार पर मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि जिस श्रद्धा से मैं इस आन्दोलन में आया, वह श्रद्धा दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती जा रही है । अपने प्रत्यक्ष अनुभव से मैं इस नतीजे पर आया हूँ कि जीवन तथा समाज की सारी समस्याएँ हल करने की शक्ति इस प्रक्रिया में है ।

शान्ति-पथ की जागतिक खोज ६

आज दुनिया एक ऐसी जगह जा पहुँची है कि उसे आगे का रास्ता ठीक से दीख नहीं रहा है। पिछले कुछ वर्षों में उसके सामने नये-नये विचार आये, नये-नये रास्ते दिखायी दिये, उन सबका अनुभव उसे प्राप्त हुआ है। कल्याणकारी राज्य भी बना, समाजवादी राज्य की स्थापना हुई और साम्यवाद की भी। ये सब आज की दुनिया के नये-नये नारे, नयी-नयी विचारधाराएँ हैं, जिन्होंने लाखों-करोड़ों को आकर्षित किया था और उन्हीं नारों के मातहत बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हुईं। लेकिन मानव-समाज को, पश्चिम के देशों को उन सबका जो अनुभव प्राप्त हुआ, उससे उन्हें भविष्य के लिए उत्साह नहीं मालूम हो रहा है। वे समझते हैं कि उन सबसे समाज की जो समस्याएँ हैं, उनका समाधान नहीं हुआ है, शान्ति का मार्ग नहीं मिला है। दुनिया आज उसकी खोज कर रही है।

हमारे देश में इस खोज के सन्दर्भ में ही देश तथा दुनिया की समस्याओं को ध्यान में रखकर गांधीजी ने सर्वोदय का विचार प्रस्तुत किया था। उसी विचार के आधार पर देश में स्वराज्य का इतना बड़ा आन्दोलन चला। गांधीजी का अपना एक जीवन-दर्शन था। किन्तु स्वराज्य प्राप्त होते ही गांधीजी चले गये, इसलिए स्वतन्त्र भारत में अपने जीवन-दर्शन के अनुसार कार्य करने का, भारत की समस्याओं को नये सन्दर्भ में देखने का उन्हें अवसर ही न मिला।

जवाहरलालजी का भ्रम-निवारण

गांधीजी के बाद पण्डितजी का युग आया। मुझे ऐसा लगता है कि गांधीजी का जीवन-दर्शन पण्डितजी समझे तो जरूर होंगे—यह कैसे कह सकता हूँ कि नहीं समझे होंगे ? किन्तु उसे उन्होंने अपनाया नहीं। गांधीजी के रहते उनके विचारों की स्पष्टता जितनी चाहिए थी उतनी नहीं हो सकी थी। जैसे कि समाजवाद में और सर्वोदय में क्या साम्य है, क्या भेद है इत्यादि। इसलिए पण्डितजी ने सर्वोदय-विचार को यह कहकर टाल दिया कि "सर्वोदय तो बड़ा ऊँचा मार्ग है, हम उसके लायक नहीं हैं। हम तो समाजवाद के ही निर्माण में अपनी शक्ति लगा

सकते हैं।" और गांधीजी का मार्ग छोड़कर वे दुनिया की प्रचलित 'लीक' पर ही चले। उन्होंने सत्ता, कानून और पैसे के बल पर देश के नवनिर्माण का प्रयत्न किया। करोड़ों रुपये खर्च हुए। कानून बने। उन्हें आशा थी कि इससे नये समाज की रचना हो सकेगी।

किन्तु उनकी यह आशा पूरी न हुई। अपने अन्तिम समय में उन्हें स्वयं अपनी भूल महसूस होने लगी थी। एक बार लोकसभा में उन्होंने यह भी कह दिया कि गांधीजी का मार्ग हमने अपनाया होता, तो ठीक होता। इस बात की प्रतीति उन्हें अन्तिम दिनों में हुई। लोकसभा में उन्होंने कहा था : "मुझे लगता है कि अपने देश की जो आर्थिक समस्याएँ हैं, जैसे औद्योगीकरण की समस्या, उपज बढ़ाने की समस्या, जनता की आय बढ़ाने की समस्या, बेकारी दूर करने की समस्या, उन सबके हल के लिए हमें गांधीजी की तरफ जाने की जरूरत थी और अब भी हमें गांधीजी के मार्ग की तरफ मुड़ना चाहिए।" इस तरह अपने अनुभव के आधार पर नया मार्ग अपनाने की, गांधीजी का मार्ग अपनाने की इच्छा उन्हें हुई थी। किन्तु तब परिस्थिति पर उनका अंकुश नहीं रह गया था।

चकाचौंध पैदा करनेवाली 'सफलता की कहानी'

बात यह है कि पश्चिमी देशों की 'सफलता की कहानी' से हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं और हम उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए आतुर हो उठते हैं। किन्तु हममें से बहुत कम लोगों को यह मालूम है कि यह सफलता बहुत एकांगी है, जो मात्र भौतिक उत्पादन और उपभोग-केन्द्रों के इर्द-गिर्द मँडराती है। व्यंग्य-चित्रों में बहुत दफे 'हाथ-पाँव सींक जैसे और पेट गागर जैसा' दीखनेवाले राक्षसी बालक चित्रित होते हैं, ठीक ऐसी ही दशा उसकी है।

इसलिए आज तो सौ वर्षों से उस मार्ग पर चले आ रहे देशों में भी विचारकों का मंथन चालू है। अतिकेन्द्रित समाज-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था तथा अति-शहरीकरण के कारण वहाँ लोगों का जीवन साँचे में ढला हुआ बन गया है। वे स्वतन्त्रता और खुलेपन का अनुभव नहीं कर सकते। वे जकड़ गये हैं। इसीलिए वहाँ के तरुण अपने समाज से विद्रोह कर रहे हैं। पूंजीवादी अमेरिका, लोक-कल्याणकारी राज्यवादी यूरोप के देश तथा समाजवादी और साम्यवादी देश, सभी का यह अनुभव है। अब, जब कि उस मार्ग को वे लोग भी बदलने का प्रयत्न कर रहे हैं, तो उसी मार्ग पर हमारे चलने का क्या अर्थ है? १५-२० वर्षों में हम भी वहाँ पहुँच जायेंगे, जहाँ वे देश आज पहुँचे हैं। इसकी अपेक्षा हम आज ही दूसरा सही मार्ग क्यों न पकड़ लें?

गांधीजी भारत को ऐसे किसी नये मार्ग पर ले जाना चाहते थे । हमारे देश का भद्र-समाज भले गांधीजी के विचारों के प्रति बहुत आदर न रखता हो, छोटे विकेन्द्रित उद्योगों, स्वावलम्बन, ग्रामस्वराज्य आदि की उनकी बातें भले इस भद्र-वर्ग को एकदम पुराने जमाने की तथा इस अणु-युग में बिलकुल अनुपयुक्त लगती हों, किन्तु आज तो पश्चिम के चिन्तक और विचारवान् मनुष्य भी गांधीजी की तरह सोचने लगे हैं । वर्तमान युग के मूलभूत प्रश्नों के सम्बन्ध में जिन्हें जानकारी है, वे जानते हैं कि गांधीजी कोई पुराने जमाने की वंशी नहीं बजा रहे थे, बल्कि उनकी दृष्टि तो अणु-विस्फोट के धुएँ के घटाटोप के उस पार तक देखती थी ।

अणु-युग में पुराने मूल्य, पुराने तौर-तरीके नहीं चलेंगे

अणु-युग ने आज मानव के सामने एक चुनौती खड़ी कर दी है । युग-युग से मानव आपस-आपस में लड़ता-झगड़ता आया है और फिर भी मानव-जाति टिकी रही है । किन्तु आज अणु-युग ने मानव को ऐसी गम्भीर चेतावनी दे दी है कि मानव यदि अब एक-दूसरे के साथ लड़ना बन्द नहीं करेगा, तो वह सम्पूर्ण मानव-जाति का सर्वनाश कर बैठेगा । अब मानव-समाज से हिंसा को जड़मूल से उखाड़ना पड़ेगा और मनुष्य अपने पड़ोसी के साथ शान्तिपूर्वक भाईचारे के साथ रह सके, ऐसी नयी जीवन-पद्धति ढूँढ़नी होगी । इसके लिए नया चिन्तन चाहिए, बिलकुल नये सिरे से सोचना चाहिए । वही पुराने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक ढाँचे अब नहीं चलेंगे । पुरानी व्यवस्थाएँ, पुराने मूल्य, पुराने तौर-तरीके सब कुछ बदलने पड़ेंगे । नये मूल्य, नयी रीति-नीति, नयी व्यवस्था की खोज करनी पड़ेगी । गांधी जीवनभर इसी खोज में लगे रहे । और आज विनोबाजी भी इसी खोज में आगे बढ़ रहे हैं ।

मानव का लक्ष्य क्या है ?

'मानव का लक्ष्य क्या है ?' इस एक बात की तरफ आज सारी दुनिया का ध्यान जाना चाहिए । मनुष्य केवल विज्ञान और उत्पादन-वृद्धि के लिए ही जीयेगा या उसके सामने कोई दूसरा भी उद्देश्य है ? आज सारी दुनिया विज्ञान के पीछे पागल है, इसलिए दूसरे प्रश्नों की तरफ उसका ध्यान नहीं जाता । हमारे यहाँ भी सब यही कहते हैं कि यह तो औद्योगीकरण का जमाना है, यदि हम विज्ञान की चुनौती को स्वीकार नहीं करेंगे, जमाने की हवा के रुख को नहीं पहचानेंगे, तो हम पिछड़ जायेंगे । अब, हम भी मानते हैं कि यह विज्ञान, यन्त्र तथा औद्योगीकरण का जमाना है । हम भी इस युग का हृदय से स्वागत करते हैं । लेकिन हम उस पर विचारपूर्वक सोचना भी चाहते हैं । यन्त्रीकरण की एक बहुत बड़ी धारा बह रही

है और उसमें हम भी सूखी लकड़ी के टुकड़े की तरह होश-हवास खोकर बह जायँ, मनुष्य का भाग्य उस प्रवाह के अधीन हो जाय, ऐसा हम हरगिज नहीं चाहते। यन्त्र और विज्ञान को आखिर मनुष्य ने ही पैदा किया है। तो किस बात के लिए? क्या उसकी चक्की में स्वयं मानव-जाति पिस जाय, इसके लिए? हम यन्त्र को ऐसी छूट नहीं देना चाहते कि वह मनुष्य को ही छिन्न-भिन्न कर डाले।

मेरे लिए तो 'मनुष्य' ही सभी वस्तुओं का पैमाना है। धर्म, विचारधारा, राज्य, विज्ञान, यन्त्र, विद्या, कला, सब कुछ मनुष्य के लिए ही है। इसलिए स्वयं मनुष्य को ही पुर्जों में, यन्त्र में या यन्त्र-मानव में परिवर्तित कर दिया जाय, तो फिर बाकी क्या रहा? पुराने जमाने की दास-प्रथा में मनुष्य मनुष्य को गुलाम बनाता था, इस नयी दासता में मशीन मनुष्य को गुलाम बनाती है। हमें यन्त्र की ऐसी गुलामी नहीं चाहिए। हम तो चाहते हैं कि यन्त्र मनुष्य का सेवक बनकर काम करे। और इसलिए हम नया मार्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।

'और चाहिए' 'और चाहिए?'

अभी तक तो समाजवादी, साम्यवादी और लोकतान्त्रिक, सभी देशों का मुख्य जोर भौतिक समृद्धि, उत्पादन की उत्तरोत्तर वृद्धि और जीवन-स्तर के अधिकाधिक ऊँचा उठाने पर ही रहा है। हाँ, मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की यथोचित पूर्ति होनी चाहिए। और हमारे जैसे गरीब देश में तो सामाजिक पुर्निर्माण का मुख्य काम जनसाधारण के जीवन-स्तर को काफी ऊँचा उठाने का है ही। किन्तु भौतिक समृद्धि को ही अपना आराध्यदेव बना देने और भौतिक पदार्थों की अतृप्त भूख को ही पूरी करने के पीछे सदा लगे रहने से कोई काम नहीं होगा। यदि लगातार अतृप्ति ही रही और मानव को सताती रही, तो न लोगों के दिल और दिमाग में शान्ति रहेगी और न एक-दूसरे के बीच ही शान्ति रहेगी। उससे व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के बीच अवश्य ही एक अनियन्त्रित स्पर्धा खड़ी हो जायगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा और प्रत्येक राष्ट्र केवल दूसरे राष्ट्रों को पकड़ने की ही नहीं, बल्कि उन सबको पीछे छोड़ जाने की कोशिश करेगा। इस प्रकार के असन्तुष्ट समाज में हिंसा और युद्ध उसकी एक खासियत हो जायेंगे। जीवन के समस्त मूल्य 'और चाहिए', 'और चाहिए' की सर्वोपरि इच्छा के अधीन हो जायेंगे। धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान, सबको 'अधिक चाहिए', 'और भी अधिक चाहिए', जीवन के इस एक लक्ष्य की पूर्ति में लग जाना पड़ेगा। समता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व आदि सभी मूल्यों को भौतिकवाद की सार्वभौमिक बाढ़ में डूब जाने का खतरा पैदा हो जायगा। मानव-जीवन में कोई अन्य

सहारा, कोई सच्चा संतोष नहीं रहेगा, क्योंकि जितना मिलता जायगा, उतनी ही उससे अधिक पाने की भूख बढ़ती जायगी। इसलिए आज सभी विचारवान् मनुष्य इस बात से सहमत होते जा रहे हैं कि वर्तमान भौतिक विकास के साथ-साथ यदि मनुष्य का आध्यात्मिक विकास भी नहीं हुआ, तो मनुष्य अपने ही हाथों अपना संहार कर डालेगा। किन्तु इस आध्यात्मिक विकास की तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है।

मानव-जीवन में अध्यात्म का अनिवार्य स्थान

इस विज्ञान के युग में अध्यात्म को एक वहम कह देना, प्रगतिशीलता और बुद्धिमत्ता का लक्षण माना जाता है। किन्तु यह एक भ्रम है। जब तक मनुष्य मनुष्य है, तब तक अध्यात्म उसके लिए अमर सत्य रहेगा। वह मानवता का विशेषण है। जब तक मनुष्य के अन्दर दूसरों के हृदय तथा मानस में प्रवेश कर उसके सुख-दुःख, भावनाओं और अनुभूतियों के साथ एकरस हो सकने की स्वाभाविक शक्ति एवं वृत्ति है, जब तक मनुष्य भौतिक शरीर की क्षुधा-तृषा मिटाने की अपेक्षा सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् को प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है, तब तक अध्यात्म का अस्तित्व अचल है। हाँ, जब मनुष्य सम्पूर्ण पशु बन जायगा, तब अध्यात्म मिट जायगा। आज मनुष्य को जड़, पशुवत और केवल पेट भरने-वाला बना देने का प्रयास दुनिया में चल रहा है। किन्तु मुझे विश्वास है कि मनुष्य अपने को इस पतन से बचा लेगा और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ेगा।

पश्चिमी देशों में, जहाँ सामाजिक विकास बहुत अधिक हुआ है और समाजवाद के भौतिक उद्देश्य अधिक अंशों में सिद्ध किये जा सके हैं, वहाँ भी सूक्ष्मदर्शियों को लगता है कि समाजवाद का आध्यात्मिक उद्देश्य अभी प्राप्त नहीं हो सका है। फलस्वरूप उन्हें अपनी सारी उपलब्धियाँ फीकी और सत्त्व-हीन लगती हैं। समाजवाद के प्रणेताओं ने यह अच्छी तरह समझाया है कि समाजवाद का अर्थमात्र रोजी-रोटी के सवाल तक अथवा मात्र आर्थिक व्यवस्था खड़ी कर देने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसके साथ-साथ वह एक नयी संस्कृति है। इस संस्कृति में मनुष्य केवल शोषण, विषमता आदि से मुक्त होगा, इतना ही नहीं, बल्कि उसकी एक नयी जीवन-दृष्टि होगी, नये मूल्य होंगे, आदर्श और आचार-विचार भी नये होंगे, सामाजिक व्यवहार भ्रातृभाव से प्रेरित होंगे।

साम्यवादी नेता भी कई बार आध्यात्मिक मूल्यों की बात करते हैं और उसकी स्थापना पर जोर देते हैं। सोवियत-कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महा-सचिव ब्रेजनेव ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है : "यदि हम लोगों के सामने केवल

भौतिक प्रेरणाएँ ही रखेंगे, तो that will impoverish the inner world of the Soviet man--सोवियत जनता के आंतर जगत् का दरिद्रीकरण होगा।' पूरा आध्यात्मिक वाक्य है!

तात्पर्य यह है कि किसी भी विचार के लोग हों, सभी आध्यात्मिक मूल्यों का सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार करते हैं, इतना ही नहीं, आज तो बिना किसी झिझक के यह कहा जा सकता है कि इस विज्ञान के युग में आध्यात्मिक मूल्य यदि नहीं रहेंगे, तो सारा समाज दुःख के समुद्र में डूब जायगा। इसलिए अध्यात्म को इस वर्तमान युग में वहम नहीं, बल्कि विज्ञान की नियन्त्रक तथा उसकी पथ-प्रदर्शक शक्ति माना जायगा।

अध्यात्मनिष्ठा से ही अहिंसा टिकेगी

अहिंसा में विश्वास रखनेवालों से मैं इतना कहूँगा कि आप चाहे पश्चिम के अहिंसावादी हों अथवा पूर्व के अहिंसावादी, ईश्वरवादी हों या अनीश्वरवादी, किन्तु अध्यात्मनिष्ठ हुए बिना अहिंसा टिकेगी नहीं। 'हम और आप एक हैं' इस भावना के बिना समान हृदय, सर्वसम्मति आदि कैसे सम्भव हो सकती है? बिना स्नेह, बिना प्रेम के एकात्मता कैसे प्रकट हो सकेगी? इसलिए अध्यात्म तो अहिंसा की बुनियाद है।

हमारे देश का नवनिर्माण इस भूमिका के साथ होना चाहिए। हमारा जीवन न सिर्फ भौतिक दृष्टि से सुखी हो, बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसका उत्थान हो, एक ऐसी सभ्यता बने, जिससे दुनिया कुछ सीखे। गांधीजी का यह कहना बिलकुल सही था कि मानव-निर्माण के बिना समाज-निर्माण अशक्य है। और मानव-निर्माण का आधार भौतिकवाद नहीं बन सकता। उन्होंने स्वराज्य-आन्दोलन में अहिंसा का प्रयोग किया और उससे सारी दुनिया को मार्गदर्शन मिला। सारे मानव-समाज को, पूरे-के-पूरे समूह को किस तरह नैतिक मूल्यों के आधार पर बदला जा सकता है, इस रास्ते की शोध गांधीजी ने की। यह एक बहुत बड़ा शोध हुआ। हजारों वर्ष पुराने नैतिक मूल्यों को मात्र व्यक्ति के ही नहीं, पूरे राष्ट्र के जीवन में किस तरह उतारा जा सकता है, यह ज्ञात हुआ। सामान्य मनुष्य भी जिसमें भाग ले सकें, ऐसी सत्याग्रह की प्रक्रिया मिली। कानून-भंग तो उसका एक स्वरूपमात्र था। साधु-सन्तों की जीवन-शुद्धि की बातें सुनते थे, किन्तु उसके आधार पर भारत जैसे विशाल देश में नैतिक आन्दोलन, एक क्रान्ति किस प्रकार खड़ी की जा सकती है, इसकी पद्धति तो गांधीजी ने ही विकसित की। उन्होंने कहा कि दुश्मन के लिए प्रेम रखो, द्वेष नहीं। और हजारों ने यह बात मान ली। १९२० से धीरे-धीरे

शुरू करके महात्मा ने यह इल्म सिखलाया। भारत के आधुनिक आध्यात्मिक जागृतिकाल में सबसे पहले गांधीजी ने सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक सत्याग्रह आदि कार्यक्रम शुरू किये और सामूहिक आध्यात्मिक जीवन का रास्ता बताया।

विनोबा का महान् प्रयास

लेकिन स्वराज्य मिल जाने से ही काम पूरा नहीं हो गया, बल्कि शुरू हुआ है। जिस अहिंसक प्रक्रिया से हमें स्वराज्य मिला, उसी प्रक्रिया को गांधीजी आगे बढ़ाकर देश के नवनिर्माण के काम में लगाना चाहते थे। किन्तु इसके लिए उन्हें अवसर नहीं दिया। इसलिए यह काम विनोबाजी के सिर आ पड़ा। उन्होंने ग्रामदान आदि कार्यक्रमों द्वारा सामूहिक जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों का प्रवेश कराने का एक अदभुत प्रयास शुरू किया है। मानवीय गुणों का विकास समाज के विकास का सबसे मुख्य लक्षण है। देश में नवसमाज का निर्माण नैतिक मूल्यों के आधार पर कैसे हो सकता है, इसका जवाब विनोबाजी के कार्यक्रमों द्वारा मिलता है।

ऊपर-ऊपर से देखने पर यह मात्र भूमि या सम्पत्ति के बँटवारे का कार्यक्रम लगता है। किन्तु विनोबा तो हमारा-आपका हृदय-परिवर्तन, जीवन-परिवर्तन चाहते हैं, स्वार्थ-त्याग की माँग करते हैं। कहते हैं कि आज थोड़ा छोड़ो, कल उससे अधिक छोड़ो। त्याग का धर्ममात्र भिक्षु-संन्यासियों के लिए ही रहेगा तो कैसे चलेगा? दुनिया तो आखिर गृहस्थों से बनी है। इसलिए पूरे समाज को बदलना है। मैं तो यह अनुभव करता हूँ कि विनोबा का आन्दोलन मानव-निर्माण तथा मानवीय क्रान्ति का एक महान् प्रयास है।

और इसीलिए दुनिया की निगाहें इस पर लगी हुई हैं। यहाँ जिस नये ढंग से काम हो रहा है, उससे शायद उनके उद्देश्यों की पूर्ति होना भी सम्भव हो सके, इसलिए यह काम उन्हें आकर्षित कर रहा है। अभी तो हमारा आन्दोलन जिस स्थिति में पहुँचा है, वह बहुत ही प्राथमिक अवस्था में है। फिर भी इसने उन्हें आकर्षित किया है।

इस काम का कोई स्वरूप बनना चाहिए

हाँ, इसके सिवा दूसरा कोई विचार या मार्ग नहीं, इस सम्बन्ध में मुझे रत्तीभर भी शंका नहीं। यह अक्षय बीज है। किन्तु इस बीज में से अंकुर फूट सकते हैं, इसकी प्रतीति जगाने के लिए हमारे काम का कोई स्वरूप बने, यह आवश्यक है। इस पर प्रत्यक्ष अमल हो और इस काम का बड़े पैमाने पर कोई परिणाम आये, तो दुनिया को विश्वास होगा कि वास्तव में यह एक व्यावहारिक रास्ता है सही। यह काम यहाँ सफल हो, तो दुनिया को नया मार्ग मिले। इसलिए अपने स्वयं के कल्याण के लिए, मानव-समाज के तथा दुनिया के कल्याण के लिए, हम इस काम को जितनी तेजी से हो सके, आगे बढ़ायें। ●

७ तीसरी शक्ति

मानव-समाज कुछ इस तरह विकसित हुआ है कि उससे आज की पेचीदा औद्योगिक सभ्यताएँ ही निकली हैं। इनमें शहर कहलानेवाले मनुष्यों के बड़े-बड़े जंगल हैं, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध सर्वथा अवैयक्तिक और निष्प्राण हैं, कार्य-प्रणाली कष्टसाध्य और आनन्द एवं सृजन-शक्ति की अभिव्यक्ति के अवसरों से वंचित है और केवल उत्पादन-शक्ति और कार्यक्षमता के आधार पर ही सब कुछ चल रहा है। विज्ञान ने सम्पूर्ण विश्व को सिकोड़कर एक पड़ोस बना दिया है। किन्तु मनुष्य ने एक ऐसी सभ्यता का निर्माण कर लिया है कि पड़ोसी भी अपरिचित बन गये हैं।

अमेरिका में इन दिनों ऐसी बातें कही जाने लगी हैं कि सारा अमेरिका अब तीन बड़े-बड़े महानगरों में बँटकर रह जायगा। शेष बहुत बड़ा भाग वीरान हो जायगा। करोड़ों की बस्ती छोटे इलाके में सिमटकर रहेगी।

यद्यपि मनुष्य के जिन्दा रहने लायक अनुकूल वातावरण ऐसे महानगरों में बना नहीं रह पाता। मनुष्य स्वयं में एक पूर्ण इकाई है। उसे केन्द्र में रखकर सोचना चाहिए। मनुष्य ही यदि अस्तित्वहीन हो जाय, यन्त्र के एक पुरजे जैसा हो जाय, उसे मानवीय समाज न मिले, तो उसमें एक भूख रह जायगी, असन्तोष रह जायगा। इसे अनात्मीकरण कहते हैं। और इसीके फलस्वरूप मनुष्य 'मानवीय' स्वधर्म से अलग पड़ जाता है।

इस मामले में सबका रवैया एक जैसा

किन्तु इन बातों की तरफ लोगों का ध्यान बहुत कम जाता है। पाश्चात्य देशों में प्रचलित मौजूदा विभिन्न विचारधाराओं में कुछ-न-कुछ भेद दूसरी बातों में भले हो, किन्तु इस मामले में तो सभी विचारधाराएँ एक-सी हैं। समाजवादियों, साम्यवादियों या लोक-कल्याणराज्यवादियों ने विज्ञान, उत्पादन, कार्यक्षमता, जीवन-स्तर के नाम पर समाज के इस भस्मासुर को बिलकुल ज्यों का त्यों अपना लिया है। अमेरिकन ढंग के औद्योगिक समाज और रूसी ढंग के औद्योगिक

समाज के बीच यों चाहे जितने भेद हों, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से दोनों कितने समान हैं, यह एरिक फ्राम ने अपनी पुस्तक 'Sane Society' में बहुत अच्छी तरह समझाया है : "दोनों व्यवस्थाएँ औद्योगीकरण के पाये पर खड़ी की गयी हैं और दोनों का लक्ष्य है—नित्य बढ़ती जानेवाली आर्थिक शक्ति और समृद्धि। इन दोनों समाजों में संचालन के सूत्र व्यवस्थापक-वर्ग और व्यवसायी राजनीतिज्ञों के हाथों में हैं। पाश्चात्य देशों में ईसाई विचारधारा प्रचलित है और पूर्व के साम्यवादी देशों में धर्म-निरपेक्ष पैगम्बरवाद का बोलबाला है, फिर भी दोनों के दृष्टिकोण निरे भौतिकवादी ही हैं। ये दोनों ही भीमकाय कारखानों और लड़ाकू राजनीतिक दलों द्वारा मनुष्य को एक केन्द्रित पद्धति के संगठन में जकड़ लेते हैं। वहाँ एक-एक व्यक्ति यन्त्र के पुरजे जैसा है और उसे पुरजे की तरह ही यन्त्र में कोई अवरोध पैदा किये बिना अपना फर्ज निभाना है।"

आज तकनालॉजी ही सबसे बड़ा देवता बन गया है और सत्ता अधिक-से-अधिक केन्द्रित हो रही है। रूस और अमेरिका में कितने लोग निर्णय करनेवाले होंगे ?—मुट्ठीभर लोगों के हाथ में आज सारी सत्ता केन्द्रित हो गयी है। आज के लोकतान्त्रिक ढाँचे में मानवमात्र एक 'वोटिंग मशीन' (मतदान-यन्त्र) जैसा बनकर रह गया है। इन सबके विरोध में आज मानव की आत्मा मुखर हो रही है। मनुष्य का मानवीय विकास होना चाहिए, नैतिक विकास होना चाहिए। उसके आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पहलू को भी ध्यान में रखना चाहिए।

हिंसा-शक्ति और दण्ड-शक्ति का बोलबाला

इसीलिए सर्वोदय अथवा गांधी-विनोबा की विचारधारा में 'तीसरी शक्ति' की कल्पना की गयी है। अभी तक मानव-समाज के परिवर्तन, पुनर्निर्माण तथा धारण के लिए इतिहास में केवल दो शक्तियों का जिक्र आता है : हिंसा-शक्ति और दण्ड-शक्ति। प्रेम की शक्ति का भी जिक्र है, परन्तु वह परिवार के सीमित दायरे के बाहर काम करती नहीं दीखती। प्रेम-अहिंसा-करुणा की आधार-शिला पर समाज की रचना अभी तक नहीं हुई है। इसलिए हिंसा-शक्ति तथा दण्ड-शक्ति (जो स्वयं भी प्रच्छन्न हिंसा-शक्ति ही है, यद्यपि लोकतन्त्र में उतनी हिंसा लोकसम्मत होती है) आज तक मानव-समाज को शासित करती रही है। उनके कारण जहाँ एक ओर मानव-समाज आणविक युद्ध की सम्भावना के कगार पर खड़ा है, वहाँ दूसरी ओर चाहे लोकतन्त्र हो, एकतन्त्र हो, अथवा और कोई अन्य तन्त्र हो—मानव एक अतिकेन्द्रित, अति-यान्त्रिक राजनीतिक-आर्थिक संगठन के नीचे दबकर अपना व्यक्तित्व एवं अपनी स्वायत्तता खो चुका है।

सबसे धनी देश अमेरिका में भी १५ प्रतिशत गरीब हैं। अपार विषमता है, रंग (जाति) भेद है, तरुण तथा बुद्धिजीवी वर्गों में विद्रोह है। उधर रूस में इतने वर्षों के साम्यवादी शासन के बाद भी आज न मजदूरों के हाथ में कारखाने हैं, न किसानों के हाथ में खेत, न विद्यार्थियों के हाथों में विश्वविद्यालय, न विचार-स्वातन्त्र्य, न श्रमिकों का अपना राज्य, जिसमें सत्ता (आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक) श्रमजीवियों की सोवियतों अथवा पंचायतों के हाथ में हो। सत्ता आज भी साम्यवादी पक्ष के हाथ में है, जिसमें लोकतान्त्रिक आचार-व्यवहार का अब भी पूर्ण अभाव है। रूस ने अपने इस जन्मजात अधिकार की घोषणा की है कि यूरोप में जहाँ-जहाँ साम्यवादी पक्षों का राज्य है, वहाँ जैसा भी चाहे हस्तक्षेप—यहाँ तक कि सामरिक हस्तक्षेप भी चेकोस्लोवाकिया में उसने किया-कर सकता है। चीन के माओ ने तो 'बन्दूक की नली को सत्ता की जननी' बताकर वर्तमान मानव-सभ्यता के एक अत्यन्त कटु-सत्य को नग्नरूप दे दिया है।

कोरे राज्यवाद से आगे जाना पड़ेगा

लोकतान्त्रिक समाजवाद का जो आज स्वरूप बना है, उसमें राज्यशक्ति को ही मुख्य साधन माना गया है। राज्यशक्ति द्वारा ही समाजवाद का निर्माण होगा, ऐसा मानते हैं। इन लोकतान्त्रिक समाजवादियों की दौड़ तो राष्ट्रीयकरण तक ही है। बस, ऐसा मान लिया है कि समाजवाद यानी राष्ट्रीयकरण। परन्तु इतना समझ रखना चाहिए कि राष्ट्रीयकरण या राज्य की मालिकी से तो नौकरशाही का ही जन्म होता है। पहले पूँजीपति जो काम अपने नौकरों द्वारा कराते थे, वे काम अब सरकारी नौकर करेंगे। जो मुनाफा पहले पूँजीपति की जेब में जाता था, वह अब सरकार की तिजोरी में जायगा, यद्यपि मुनाफा होगा ही, यह कोई निश्चित नहीं है। निर्णय के या मुनाफे के बँटवारे की बात तो दूर की है—राष्ट्रीयकरण कर देने से रोज-ब-रोज के काम-काज में भी कर्मचारी कुछ अधिक रुचि और भाग लेने लगते हैं, ऐसा नहीं लगता। इतना ही नहीं, समाजवादी और साम्यवादी दल, सरकार और मजदूर-संगठन इन मामलों में गम्भीरतापूर्वक सोचते तक नहीं। सब लोग सत्ता हथियाने में इतने अधिक मग्न हैं कि उसके अलावा कोई बात सोचते ही नहीं।

जब मैं राजनीति में था, तब देश के पाँच बड़े मजदूर-संघों का अध्यक्ष रह चुका हूँ। उसमें रेलवे, तार-डाक, शस्त्र-सरंजाम आदि क्षेत्रों की बात तो प्रकट थी। किन्तु मैंने देखा कि उनमें काम करनेवाले कर्मचारियों की स्थिति में कोई खास फर्क नहीं आया। खासकर चौथी श्रेणी के कर्मचारियों की स्थिति क्या है? राष्ट्रीय-

करण के बावजूद उसके जनरल मैनेजर को भारी-भरकम वेतन-भत्ता, रहने के लिए शानदार बँगला, सामने बड़ा-सा बाग, उसमें माली, अनेक चपरासी और प्रवास में कितना सुन्दर डिब्बा, जैसे बड़े लाट साहब की सवारी निकली हो ! क्या यह समाजवाद है ? यह तो कोरा राज्यवाद है । इससे बहुत आगे जाना पड़ेगा ।

दुनिया में लगभग १५० वर्षों से मजदूर-आन्दोलन चल रहा है । सर्वत्र लोकतान्त्रिक मजदूर-संगठन खड़े किये गये हैं और उन्होंने मजदूरों की दशा सुधारने के लिए बड़ा उपयोगी काम किया है । काफी शक्तिशाली मजदूर-संगठन बने हैं । उनका समाज और सरकार पर भी प्रभाव पड़ा है । इंग्लैण्ड में तो मजदूर-संगठन-वाले दल की सरकार भी बन गयी थी । परन्तु अब तक जो परिणाम आये हैं, उन पर से यह कहा जा सकता है कि मजदूर-आन्दोलन एक सीमा तक प्रगति करके रुक-सा गया है । केवल मजदूरों के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त करा देना मात्र इन संगठनों का लक्ष्य रह गया है । इससे समाज का परिवर्तन हुआ हो, मजदूरों के जीवन में परिवर्तन हुआ हो, नये मूल्यों की स्थापना हुई हो, ऐसा नहीं दीखता । जहाँ-जहाँ समाजवादी शासनों के तत्त्वावधान में भी राष्ट्रीयकरण हुआ है, वहाँ-वहाँ विषमता, शोषण आदि का अन्त हो गया है, अथवा सत्ता श्रमजीवियों के हाथों में आ गयी है, अथवा इतना भी हो गया है कि राष्ट्रीयकृत आर्थिक क्षेत्रों में मजदूर प्रबन्धकों के समकक्ष आ बैठे हैं और निर्णायक अधिकारों में उन्हें उचित भाग प्राप्त हो चुका है, अथवा उन क्षेत्रों में कोई नवीन भावना पैदा हुई है, जो प्रबन्धक तथा श्रमजीवी दोनों को प्रेरित कर रही है और उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनके अपने-अपने कार्यों के प्रति उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन कर पायी है, ऐसा तो कुछ भी लक्षित नहीं होता । तकनीकी तथा औद्योगिक विकास के कारण मजदूरों की आर्थिक स्थिति में उन्नति अवश्य हुई है, मजदूर-संगठनों की शक्ति में काफी वृद्धि हुई है, कल्याणकारी राज्य का उदय हुआ है । किन्तु इन सबको मिलाकर भी समाजवाद नहीं बनता ।

समाजवाद तो जीवन की पद्धति है

समाजवाद सिर्फ समाज का बाह्य रूप बदलने से नहीं होता, बल्कि वह तो जीवन की पद्धति है । जीवन के मूल्यों को बदलने से ही वह आ सकता है । किन्तु समाजवादी आन्दोलन ने अब तक कानून बनाने का ही काम किया है, व्यक्ति को बनाने का नहीं । कानून बनाने से व्यक्ति नहीं बनता या बदलता । राज्यतन्त्र द्वारा बाह्य समाजवाद ही स्थापित किया जा सकता है, समाजवादी जीवन के मूल्य स्थापित नहीं किये जा सकते । उसका आर्थिक अथवा सामाजिक बाह्य ढाँचा जरूर खड़ा हो जाता है, किन्तु समाजवादी संस्कृति का निर्माण नहीं होता ।

लोक-शिक्षण के बिना केवल दण्ड-शक्ति की मदद से समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती। नये विचार गले उतर जाने पर ही जीवन में नये मूल्यों का दर्शन सम्भव होता है। परन्तु आज के समाजवादी देशों में विचार-परिवर्तन के बदले सत्ता की मदद से कुछ काम कर लेने पर ही जोर दिया जाता है। इसी कारण वहाँ पिछवाड़े से पूँजीवादी विचार प्रवेश करने लगे हैं।

संक्षेप में, निष्कर्ष यही निकलता है कि हिंसा-शक्ति तथा दण्ड-शक्ति दोनों ही मानव-समाज की मूल समस्याओं को हल करने में विफल हुई हैं। किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता स्पष्ट दीखती है। यह तीसरी शक्ति यानी प्रेम-अहिंसा-करुणा की शक्ति, जिसका उपदेश संत-महात्मा तथा सभी धर्म सनातन काल से देते चले आये हैं और ईसा, बुद्ध और महावीर ने जिसका सामाजिक क्षेत्र में भी प्रतिपादन किया था।

प्रेम-अहिंसा-करुणा की तीसरी शक्ति

ईसा ने प्रेम की शक्ति को पड़ोसी तक फैलाने की कल्पना की और वैसा उपदेश दिया। पड़ोसी का व्यापक अर्थ समग्र मानव-जाति से भी लिया जा सकता है। परन्तु प्रेम-धर्म को सामाजिक जीवन में उतारने का ईसा के अनुयायियों द्वारा कोई प्रयत्न किया गया, ऐसा विदित तो नहीं है। वर्तमान ईसाई समाज के लिए यह तो कदापि नहीं कहा जा सकता कि वह किसी माने में ईसा के प्रेम-अहिंसा-करुणा के उपदेशों पर कायम है।

महावीर तथा बुद्ध ने अहिंसा तथा करुणा को धर्म का आधार बनाया। किन्तु यह धर्म व्यक्ति या भिक्षु संघ के आन्तरिक जीवन तक सीमित रहा। सम्राट् अशोक जगत् के एकमात्र ऐसे शासक हुए, जिन्होंने बौद्धधर्म को स्वीकार करने के बाद तथा कलिंग-विजय के रक्तपात से संतप्त होकर आगे युद्ध न करने का संकल्प किया। फिर भी अशोककालीन भारतीय समाज अहिंसा अथवा करुणामय बना, ऐसा तो नहीं लगता। प्रत्यक्ष हिंसा जहाँ नहीं है, वहाँ अहिंसा है, ऐसा मानना बड़ी भूल है। शोषण, उत्पीड़न, विषमता तथा अन्य प्रकार के सामाजिक-आर्थिक अन्याय, जो राज्य की दण्ड-शक्ति के बल पर चलते हैं, हिंसा ही तो है, यद्यपि सब प्रच्छन्न अथवा अप्रत्यक्ष हैं।

इस तरह, ईसा, महावीर, बुद्ध ने सामाजिक क्षेत्र में भी इसी तीसरी शक्ति का प्रतिपादन किया था, किन्तु प्रेम-अहिंसा-करुणा की आधारशिला पर स्थापित इन तीनों धर्मों के माननेवाले अपने-अपने समाज की रचना इस आधार-शिला पर नहीं कर सके। आज उसी तीसरी शक्ति का प्रयोग हम सामाजिक क्षेत्र में करना

चाहते हैं। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह शक्ति व्यक्ति के स्तर पर चाहे कितनी ही सफल हुई हो, लेकिन अब तक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में सफल नहीं हो सकी है। तब इस युग में उसकी सफलता की क्या सम्भावना है? यह एक सर्वथा समीचीन प्रश्न है। पूर्णरूप से इसका उत्तर तो आज किसीके पास नहीं है। फिर भी परिस्थिति, अनुभव तथा विचार से इतना और ऐसा उत्तर आज प्राप्त है कि उसकी सफलता की सम्भावना पहले से कहीं अधिक प्रबल हुई है।

सफलता की सम्भावना आज अधिक है

परिस्थिति यह है कि पूर्वकाल की अपेक्षा सर्वसाधारण इस समय अधिक चेतनाशील है। उनकी इस चेतनाशीलता का एक लक्षण यह है कि हिंसा-शक्ति या दण्ड-शक्ति से जैसी भी समाज-रचना अब तक हुई है, अथवा जैसी भी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था उनके द्वारा कायम की गयी है, उससे उन्हें संतोष नहीं है। इसलिए वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थिति की यह माँग है कि इन दोनों शक्तियों से भिन्न किसी तीसरी शक्ति का आश्रय लिया जाय।

दूसरी बात, पुराने प्रयोगों के अनुभवों पर से आज की पीढ़ी के लिए यह सम्भव हो गया है कि पहले की गलतियों को न दुहराया जाय। प्रेम आदि की शक्ति ने पूर्वकाल में एक बड़ी गलती यह की थी कि राज्य का आश्रय लेकर अपना प्रसार करना चाहा। परिणाम उलटा हुआ। प्रेम-शक्ति पर दण्ड-शक्ति, अहिंसा-शक्ति पर हिंसा-शक्ति तथा करुणा-शक्ति पर कानून-शक्ति हावी हो गयी और विनायक का वानर बन गया। इस अनुभव का लाभ उठाकर हमें राज्य-सत्ता से अलग रहकर तीसरी शक्ति का विकास करना है। इसीलिए गांधीजी ने कहा था कि अहिंसा में विश्वास करनेवालों को राजसत्ता में नहीं जाना चाहिए। और इसीलिए विनोबाजी ने लोक-सेवकों को राजनीतिक पक्षों में जाने की सलाह नहीं दी और राजनीति के बदले लोकनीति की कल्पना की।

पुराने अनुभव से एक सबक और सीखा जा सकता है। जहाँ पुराने प्रयोग-कर्ताओं ने व्यक्तिगत जीवन तथा धर्मसंघों तक प्रेम आदि शक्ति को सीमित रखा, वहाँ हमें संकल्पपूर्वक समाज के तमाम व्यवहारों तथा संस्थानों में उस शक्ति को प्रतिष्ठित करना है और तदनुसार प्रेमाधारित अहिंसक समाज का निर्माण करना है। इसके लिए समाज के अन्दर जो अप्रत्यक्ष हिंसा निहित है, उसे उन्मूलित करना प्रत्यक्ष हिंसा को रोकने या शान्त करने से अधिक महत्त्व रखता है।

तीसरी बात, जब पिछले अनुभवों को ध्यान में रखते हुए हम विचार करते हैं,

तो इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यदि पिछली गलतियों का पुनरावर्तन नहीं करना है, तो अपने सारे कार्यों का आधार विचार-शासन को बनाना है और कर्तव्य-शक्ति का पूर्ण विभाजन करना है। लोगों को विचार समझाना, समझाकर उनके पूर्व-ग्रहों को बदलना तथा उनकी व्यक्तिगत तथा सामूहिक कर्तृत्व-शक्ति को जागृत करना, यही हमारा सही मार्ग हो सकता है। और विचार करने से ऐसी प्रतीति बनती है कि इस पद्धति से सामाजिक क्रान्ति का प्रयास किया जाय तो जहाँ पहले के प्रयोग विफल हुए, वहाँ नये प्रयोग सफल हो सकते हैं। वैसे आदर्श और व्यवहार में जो अनिवार्य अन्तर रह जाता है, उतना तो रहेगा ही।

चौथी बात, आधुनिक काल में गांधीजी ने इस तीसरी शक्ति का समाज के स्तर पर जो व्यापक प्रयोग दक्षिण अफ्रीका और भारत में किया, उसने भी हमें महत्वपूर्ण पाठ सिखाये हैं। ये सब पाठ हमारे लिए नये हैं, जो पहले के प्रयोगों से उपलब्ध नहीं थे। वर्तमान काल में विनोबाजी ने भी जो व्यापक प्रयोग किये हैं, उनसे भी हमें कई नये सबक मिले हैं, जिनसे आगे के प्रयोगकर्ताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

हमें अभिनव मार्ग का आविष्कार करना ही होगा

इन सब कारणों से मैं यह मानता हूँ कि जिस कार्य में महावीर, बुद्ध या ईसा सफल नहीं हो पाये, उसमें आज हम जैसे सामान्य-जन सफल हो सकते हैं। यह एक नयी प्रक्रिया है, जिसका दुनिया को अभी कोई अनुभव नहीं है। नये विचारों के सम्बन्ध में सन्देह और संकोच होना स्वाभाविक है। किन्तु यदि हम विचार तथा श्रद्धापूर्वक प्रयास करेंगे, तो इस तीसरी शक्ति द्वारा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में जरूर सफल होंगे। और तब मानव-समाज का विकास सही दिशा में हो सकेगा। गांधीजी ने हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए जैसी पद्धति अपनायी, वैसी किसी देश ने अब तक नहीं अपनायी थी। तो जिस तरह स्वतन्त्रता प्राप्त करने का हमारा काम अभिनव रहा, उसी तरह हमारी आर्थिक और सामाजिक रचना तथा उसे कार्यान्वित करने के साधन भी दूसरों से भिन्न रहेंगे। ●

हमारा देशीय समाजवाद ८

आजकल समाजवाद का काफी बोलबाला है। इसकी काफी चर्चा होती रहती है। हर कोई एक-से-एक ऊँचा समाजवादी होने का दावा कर रहा है। बिड़लाजी भी कहते हैं कि कांग्रेस समाजवाद स्थापित करना चाहती है, तो वह जरूर स्थापित होना चाहिए। जनसंघ भी भारतीय समाजवाद की बात करता है। इसलिए आज कौन समाजवादी नहीं है? शायद राजाजी को छोड़कर दूसरे सब समाजवादी हैं। बस, प्रस्ताव कर देते हैं कि बैंकों का, कारखानों का, खनिज सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। ठीक है। जरूर हो। ऐसा करने से हमारे आर्थिक, सामाजिक प्रश्नों का कोई हल निकलता हो तो जरूर राष्ट्रीयकरण हो।

किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि इस कृषिप्रधान देश में आपका यह समाजवाद गाँवों में कैसे आयेगा, इस सम्बन्ध में क्या कभी आपने विचार किया है? आप लोग समाजवाद-समाजवाद की बातें करते हैं, किन्तु इस देश में ८२ प्रतिशत लोग तो गाँवों में रहते हैं। उनके लिए समाजवाद का क्या चित्र है? इन गाँवों को आपका यह समाजवाद कहाँ स्पर्श करता है? गाँवों के लिए आप क्या करते हैं?

मात्र नारे लगाने से समाजवाद नहीं आ जायगा। दूसरे देशों की नकल करने से भी समाजवाद नहीं लाया जा सकेगा। खासकर यूरोप के देशों के अनुभव पर से हमें विशेष मार्गदर्शन नहीं मिल सकेगा। क्योंकि एशियाई देशों की जनता अधिकांश ग्रामीण और खेतिहर है। यूरोप के समाजवादी इस प्रकार के वातावरण में समाजवाद कैसे कायम किया जाय, इससे परिचित नहीं हैं। इसलिए हमारे यहाँ समाजवाद लाने के लिए जो कुछ चिन्तन, प्रयोग आदि करने पड़ेंगे, उनका बहुत बड़ा हिस्सा तो हमें खुद ही करना पड़ेगा।

कृषिप्रधान देश में समाजवाद यानी क्या?

सवाल यह है कि हमारे कृषिप्रधान देश के लिए समाजवाद का अर्थ क्या है? जो कुछ थोड़ा-सा मुझे समाजवाद का ज्ञान है, उस पर से मुझे तो केवल एक

ही उत्तर सूझता है। वह यह कि जमींदारी-उन्मूलन या भूमि की सीमा का निर्धारण या काश्तकारों को अपनी काश्त की जमीन पर संरक्षण, या भूमि का एकीकरण, या खेती का बीमा, या इस तरह की अन्य भूमि-सुधार की बातें जिनके लिए कानून बने हैं अथवा बनाने की चर्चा की जाती है, दरअसल समाजवाद नहीं है। इस देश में कृषि-विषयक समाजवाद का केवल एक ही अर्थ है · भूमि का सामुदायिक स्वामित्व और उसकी व्यवस्था। (इस व्यवस्था का मतलब सामूहिक खेती से नहीं है, गोकि व्यवस्था ऐसी भी हो सकती है।)

जमींदारी-उन्मूलन से क्या हुआ ? यह कोई समाजवाद का कार्यक्रम नहीं है। अमेरिका में तो कोई जमींदारी नहीं थी। आज भी वहाँ न तो जमींदारी है, न रैयतवारी है। किन्तु इतने से वहाँ कोई समाजवाद नहीं आ जाता। और, हमारे यहाँ हदबन्दी भी की गयी, तो किस हद की ? अरे, वहाँ जापान में मैकार्थर जैसे ने तीन एकड़ की हदबन्दी की थी। हमारे यहाँ तो उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। नम्बूदरीपाद ने केरल में १५ एकड़ सिंचित भूमि की हदबन्दी की थी। अब आप ही कहें, मैकार्थर तो नम्बूदरीपाद की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी ठहरा न ? समाजवादी भी अधिक-से-अधिक क्या माँग रखते हैं ? छोटे किसानों से लगान मत लो। लेकिन इसमें कौन-सी क्रान्ति है ?

व्यक्तिगत स्वामित्व-विसर्जन

मैं कहना चाहता हूँ कि भारत जैसे कृषिप्रधान देश में समाजवाद का स्वरूप कैसा हो, उसका जवाब ग्रामदान देता है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जिस समाजवाद का या नये समाज का सपना हम देखते हैं, वह ग्रामदान के आधार पर ही खड़ा हो सकेगा। ग्रामदान में व्यक्तिगत स्वामित्व के विसर्जन द्वारा एक बड़ा क्रान्तिकारी कदम उठाया जाता है। इसके अलावा, भूमिहीनों के लिए भूमि का बीसवाँ हिस्सा मिलता है। प्रतिवर्ष पैदावार में से चालीसवाँ हिस्सा ग्रामकोष में मिलता है। गाँव का काम-काज सर्वानुमति से चलाने का निर्णय होता है। इन सबसे ग्रामीण समाजवाद की एक तसवीर खड़ी होती है। देश के लाखों गाँव ग्रामदान द्वारा इस नये मार्ग पर चलने को तैयार हो जायँ, तो उसका असर शहरों पर भी पड़े बिना नहीं रहेगा। यह कितना बड़ा काम है।

जो भी उत्पादन के साधन हैं, उन पर समाज की मालिकी होनी चाहिए, यह समाजवाद का बुनियादी सिद्धान्त है। और जो सम्पत्ति पैदा हो, वह समाज के हित में खर्च हो। लेकिन जब तक लोकमत तैयार न हो, तब तक यह चीज कानून से नहीं हो सकती। कानून से न किसीको ट्रस्टी बनाया जा सकता है, न

जमीन की मालिकी समाज की बनायी जा सकती है, न किसी मालिक को समाज के हित में खेती करने के लिए कहा जा सकता है। किन्तु समझाने से ग्रामदान द्वारा यह हो सकता है।

कोई भी दल यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकता !

मैं देश के सभी दलों के घोषणा-पत्र देखता रहता हूँ। उनमें कोई दल यह लिखने की हिम्मत नहीं कर पाता कि हमारे हाथ में राज्य आयेगा तो हम जमीन की व्यक्तिगत मालिकी समाप्त कर देंगे। अरे, साम्यवादी तक ऐसा नहीं कहते। और दल तो क्या कहेंगे ! उन्हें वोट की चिन्ता होती है न ? जब कि ग्रामदान द्वारा स्वेच्छा से जमीन की व्यक्तिगत मालिकी का विसर्जन होता है। भूमि-क्रान्ति, कृषि-क्रान्ति, ग्रामीण क्रान्ति की दिशा में यह एक बहुत बड़ा कदम है। राजनीतिक दल तो इसका विचार तक नहीं कर सकते।

यद्यपि आज समाज में जिस प्रकार का मानस काम कर रहा है, जो वृत्ति है, वह व्यक्तिगत मालिकी के विचार को मान्य करता है। व्यक्तिगत मालिकी को एक मूलभूत अधिकार माना जाता है। उससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है और अभिक्रम कायम रहता है, ऐसा दावा किया जाता है। इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ गहरी छानबीन की जरूरत है।

मालिकी व्यक्ति की है, यह विचार हमें जड़मूल से ही बदलना है। और मात्र जमीन के लिए ही नहीं, बल्कि हर प्रकार की सम्पत्ति के लिए भी यह उतनी ही सही बात है, खासकर उत्पादन के साधनों के लिए। उपभोग की वस्तुओं के लिए भी यह बात थोड़ी-बहुत लागू होती ही है। अन्यथा राशनिंग का कोई अर्थ न रहता। राशनिंग किस औचित्य पर चलता है ? उपभोग की वस्तुओं में भी सबका हिस्सा है, यह तथ्य उसमें निहित होता है।

मालिकी मानव-स्वभाव का मूलभूत गुण नहीं

आज मनोविज्ञान का जो कुछ विकास हुआ है, उस पर से भी यह फलित नहीं होता कि मानव-स्वभाव में मालिकी की बात रूढ़ है। व्यक्तिगत मालिकी मानव-स्वभाव का मूलभूत गुण है, ऐसा नहीं माना जा सकता। उलटे मनोविज्ञान ने तो यह प्रकट कर दिया है कि कुम्हार के हाथ की मिट्टी से घड़ा भी बन सकता है और कृष्ण की मूर्ति भी बन सकती है, उसी तरह मानव-स्वभाव भी बहुत परिवर्तनशील है, उसे भिन्न-भिन्न आकार दिया जा सकता है, बदला जा सकता है। दुनिया में इस विश्वास के साथ ही सब लोग काम करते हैं कि मनुष्य के स्वभाव को

'एजुकेट' किया जा सकता है, शिक्षित किया जा सकता है और उसकी वृत्तियों को बदला जा सकता है, जातीय वृत्ति को भी मोड़ा जा सकता है ।

मनुष्य कभी अकेला नहीं रह सकता

व्यक्तिगत मालिकी का इतिहास भी देखिये । यह बात समाज में कब से आयी ? मनुष्य कभी अकेला नहीं रह सकता । वह सामाजिक प्राणी है । पहले के जमाने में मनुष्य 'कबीले' बनाकर रहता था । उनके पास जो भी सम्पत्ति होती थी, वह उस छोटे समूह की होती थी । व्यक्तिगत मालिकी का विचार तो बाद में आया । कोई यह कहे कि यह तो एक सांस्कृतिक मूल्य है, मानव-संस्कृति आगे बढ़ी है उसकी निशानी है, तो भले कहे । बाकी, शरीर में जैसे विविध कोषाणु (cells) एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं, उसी प्रकार मानव-समाज भी गूँथा हुआ है ।

मनुष्य का स्वतन्त्र व्यक्तित्व और पृथक् व्यक्तित्व, ये दो अलग-अलग चीजें हैं । आज मानव-स्वभाव वहाँ पहुँचा है, जहाँ मानव बालू के कणों की तरह एक inorganic mass (निर्जीव समुदाय) बनकर जी रहा है । उसमें से पुनः हमें organic community (जीवन्त मानव-समुदाय) बनाना है । आज तो जीवन का टुकड़ीकरण हो गया है, छिन्न-भिन्न हो गया है । आज लोग साथ रहते हैं, किन्तु लोक-जीवन साथ नहीं चलता । पाश्चात्य देशों में भी इस बारे में पुनः विचार हो रहा है । वे लोग भी पुन. ऐसा समाज स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिसमें लोग एक-दूसरे की चिन्ता करते हों, परस्पर मदद करते हों, एक-दूसरे के लिए जहाँ त्याग और सहयोग की भावना हो । और यह लोक-कल्याणकारी राज्य द्वारा नहीं, बल्कि आदमी आदमी की हैसियत से एक-दूसरे की मदद करे, ऐसी स्थिति वे लाना चाहते हैं । लोक-कल्याणकारी राज्य द्वारा उन्होंने सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की, एक तन्त्र खड़ा किया । किन्तु उससे पारस्परिक सहयोग का मूल्य मानव-हृदय में प्रवेश नहीं कर पाया । उन लोगों ने समाज-व्यवस्था को स्पर्धात्मक ही रहने दिया । उसमें व्यक्तिगत मालिकी को एक बहुत बड़ा मूल्य माना गया । क्या हम भी इस तरह अपने समाज को छिन्न-भिन्न हो जाने देना चाहते हैं ? यह तो गलत होगा, खतरनाक सिद्ध होगा ।

मालिकी की बात बाद में आयी है

यह व्यक्तिगत मालिकी की बात कोई विज्ञान-सिद्ध बात नहीं है । न तो यह मानव-स्वभाव में रूढ़ हुई बात है । पहले के जमाने में तो जमीन समूचे समाज की थी । व्यक्तिगत मालिकी की बात बाद में आयी । उसके कारण समाज में भेद

की दीवारें खड़ी हुई हैं । एक तरफ मजदूर, दूसरी तरफ मालिक, ऐसी दो दुनिया खड़ी हो गयी है । मालिक-मजदूर का यह भेद नहीं रहना चाहिए, ऐसा हम मानते हैं । सर्वोदय, समाजवाद, साम्यवाद, ये सब विचारधाराएँ इस विषय में एकमत हैं । इन भेदों से शोषण की व्यवस्था कायम रहती है, विषमताओं के लिए रास्ते खुले रहते हैं और संघर्ष चलते रहते हैं । मालिकी समाज की हो जाने पर अशान्ति का एक बड़ा कारण दूर होगा ।

मालिकी की इस प्रथा से समाज का नैतिक पतन हो रहा है । जो मालिक नहीं, वह मालिक बनना चाहता है और जो है वह अधिक-से-अधिक सम्पत्ति इकट्ठी करना चाहता है । लाठी से, घूसखोरी से, बेईमानी से और ऐसे ही दूसरे गलत साधनों से वह दूसरों की मालिकी हड़पने की कोशिश करता है । देश और दुनिया में जो नैतिक पतन दिखाई देता है, जो लड़ाइयाँ होती हैं, जो अशान्ति है, उन सबके मूल को हम काटना चाहते हैं ।

मालिकी कोई सनातन सत्य नहीं

कोई समाजशास्त्र या धर्मशास्त्र यह नहीं कहता कि व्यक्ति मालिक है । व्यक्तिगत मालिकी की बात कोई सनातन सत्य नहीं है । इस पृथ्वी पर जो कुछ है, वह सबका है, भगवान् का है । यह कुदरत की देन है । भगवान् के यहाँ से कोई यह लिखाकर नहीं आता कि यह ५०० बीघा जमीन मेरी है । यह सब तो मनुष्यों ने—भगवान् की संतानों ने—स्वयं खड़ा किया है ।

उत्पादन की प्रक्रिया एक सामाजिक प्रक्रिया

जमीन भगवान् की देन है । किन्तु प्रकृति के गर्भ में जो कुछ है, उसका उपभोग मनुष्य ज्यों-का-त्यों नहीं करता । मनुष्य सीधे मिट्टी तो नहीं खाता, वह जमीन में से अन्न पैदा करके खाता है । जो कुछ धरती के अन्दर-बाहर और हवा में है, उन सबमें से मनुष्य अपना श्रम और अपनी बुद्धि लगाकर कुछ नया पैदा करता है । और इसके लिए सारे समाज की सहायता की जरूरत पड़ती है । फिर भी कोई कहे कि इसका मालिक मैं हूँ, तो यह बात शतप्रतिशत गलत है, असत्य है । उत्पादन की प्रक्रिया एक सामूहिक प्रक्रिया है, सामाजिक प्रक्रिया है, एक social process है । उसमें प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से अनेक लोग मदद करते हैं । मेहनत, पूंजी, बुद्धि, सब एक साथ लगती है, तब उत्पादन होता है । इसलिए उसमें सारे समाज का हिस्सा है । एक कहे कि बुद्धि मैंने लगायी, इसलिए मैं मालिक हूँ । दूसरा कहे कि पूंजी मैंने लगायी, इसलिए मैं मालिक हूँ तो यह बात एकदम

गलत है। पूंजी लगाने से आप मालिक हो गये और जिसने मेहनत की, उसका कोई हिस्सा ही नहीं ? बैंक का व्याज चुका दिया, मेहनत की मजदूरी चुका दी, इसलिए बाकी का सारा मुनाफा आपका हरगिज नहीं। उस मुनाफे में भी पूरे समाज का हिस्सा है।

किसीने कच्चा माल पैदा किया, किसीने मेहनत कर उसे पक्का माल बनाया, किसीने रेलगाड़ी चलायी···इस प्रकार उसमें इन सबका हिस्सा है। इस तरह समाज में जो कुछ उत्पन्न होता है, उसका उचित वितरण हो, यह जरूरी है। सम्पत्ति पूरे समाज की और उपभोग कुछ थोड़े से व्यक्ति करें, यह उचित नहीं। कोई सम्पत्ति व्यक्ति की नहीं। उसका न्यायोचित बँटवारा होना चाहिए।

दायित्वपूर्ण सहयोगी मानव-समाज स्थापित करना है

एक दायित्वपूर्ण समाज responsible society बने, ऐसा क्रान्तिकारी विचार इस ग्रामदान में है। मात्र गरीबों पर दया नहीं कर रहे हैं, बल्कि व्यक्तिगत मालिकी का विसर्जन भी कर रहे हैं। पहले गाँवों में सहयोग तथा सहजीवन का जो मूल्य था, वह हमें पुनः स्थापित करना है। ग्रामदान सहयोगी मानव-समाज स्थापित करने की दिशा में पहला कदम है। उसमें व्यक्तिगत मालिकी का विसर्जन एक बुनियादी विचार है। समाज में जो भी सम्पत्ति है, उस पर व्यक्तिगत मालिकी हो ही नहीं सकती। वह सारी सम्पत्ति पूरे समाज की है। ग्रामदान-आन्दोलन के पीछे यह एक मूलभूत विचार है। किन्तु यह विचार हमें तलवार, बन्दूक अथवा कानून द्वारा अमल में नहीं लाना है, बल्कि लोग समझ-बूझकर अपनी मालिकी समाज को समर्पित करें और मालिक तो समाज है, भगवान् है, ऐसा मानें, यही हमें करना है। ग्रामदान-आन्दोलन द्वारा हम ऐसा करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

सात्त्विक समाजवाद यानी सर्वोदय

सर्वोदय की अपनी एक खास पद्धति है। समाजवाद और सर्वोदय में जो महत्त्वपूर्ण अन्तर है, वह है कार्यपद्धति और साधन का। समाजवाद की स्थापना सभी देशों में सामान्य रूप से राज्य-शक्ति द्वारा होती है। देश में लोकतन्त्र हो, तो चुनाव द्वारा राज्य-सत्ता हाथ में लेकर उसके द्वारा समाजवाद की स्थापना की जाती है। इसमें मुख्य रूप से कानून का सहारा लिया जाता है। साम्यवाद में एक दूसरा भेद यह है कि समाजवाद की स्थापना के लिए वह हिंसा का भी सहारा लेता है, जब कि सर्वोदय का कार्यक्रम है लोगों के विचारों में परिवर्तन लाकर उनके

व्यवहारों में भी वैसा ही परिवर्तन लाने के लिए लोक-शिक्षण करना। वह कार्यक्रम बहुत व्यापक है और लोकशक्ति पर आधारित है।

इस प्रकार समाजवाद की तीन परिभाषाएँ की जा सकती हैं : (१) जो समाजवाद हिंसा से, बलपूर्वक स्थापित किया गया हो, वह तामसिक समाजवाद यानी 'साम्यवाद' है। (२) जो समाजवाद कानून से राज्य-शक्ति द्वारा स्थापित किया गया हो, वह राजसिक समाजवाद यानी 'लोकतान्त्रिक समाजवाद' है। (३) और जो समाजवाद स्वेच्छापूर्वक जनता के विचारों तथा व्यवहारों में परिवर्तन लाकर स्थापित होता है, वह 'सात्त्विक समाजवाद' यानी 'सर्वोदय' है। यद्यपि जैसे मनुष्य में उपर्युक्त तीनों गुणों का सम्मिश्रण होता है, उसी प्रकार इसमें भी होता है। किन्तु व्यवहार में जो गुण अधिक दीखता है, उसके आधार पर यह कहा जाता है कि वह अमुक प्रकार का है।

तो, ग्रामदान-आन्दोलन ऐसा सात्त्विक समाजवाद लाना चाहता है और वही असली समाजवाद होगा। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भौतिकवादी दर्शन के आधार पर समाजवादी समाज-रचना कदापि नहीं हो सकेगी। समाजवादी तंत्र के जो नमूने दुनिया में जहाँ-तहाँ दिखलायी पड़ते हैं, उनके अनुभवों से तो मुझे यह लगता है कि इस तरह राज्यवाद का ही विस्तार होगा, कोई समाजवादी समाज-रचना नहीं खड़ी होगी। क्योंकि आज समाजवादी आन्दोलन में मानव-निर्माण का कोई कार्यक्रम नहीं दीखता। समाजवादियों का ध्यान राजसत्ता पर अधिकार करके उसका उपयोग करने की ओर इतना अधिक केन्द्रित हो गया है कि लोकशक्ति खड़ी करके उसके द्वारा कुछ करने की बात उन्हें सूझती ही नहीं। किन्तु आज राज्यशक्ति द्वारा जो समाजवाद बना है या बनाने का प्रयत्न हो रहा है, उसमें अब पश्चिम यूरोप के समाजवादियों को कुछ कमी नजर आ रही है, कुछ दोष नजर आ रहे हैं। वे सब आज सोच रहे हैं कि हमने इतनी प्रगति की और यह सारी सफलताएँ प्राप्त हुईं, लेकिन समाजवाद के जो असली उद्देश्य थे, क्या वे हमें प्राप्त हुए? समाजवाद के कुछ नैतिक मूल्य (spiritual values) थे। समाजवाद एक जीवन-पद्धति के रूप में था। वे मूल्य तो आज प्राप्त नहीं हुए हैं। वे सारी चीजें पीछे पड़ गयी हैं। इस तरह चिन्तनशील समाजवादियों के सामने अब यह प्रश्न है कि जो हमारे असली उद्देश्य थे, वे पीछे छूट गये हैं, उनकी प्राप्ति कैसे होगी?

ग्राम-भावना के बिना सारी कोशिशें गर्द पर पोताई के समान

हमारे यहाँ भी ऐसा ही अनुभव आया। पंण्डित नेहरू राजसत्ता में गये। उन पर तो जनता का अपार प्रेम था। और उन्हें इतनी अधिक सत्ता प्राप्त थी

कि वे करीब-करीब देश के सर्वसत्ताधीश थे। गरीबों के लिए भी उनके दिल में दर्द था। फिर भी राजसत्ता द्वारा वे क्या कर सके, यह हम देख चुके। सामुदायिक विकास-योजना के द्वारा एक तरफ से पैसा फेंक दिया गया और दूसरी तरफ से पंचायतों के द्वारा सत्ता उनके पास फेंक दी गयी। फिर भी हमने देखा कि जब तक गाँव में कोई मानसिक परिवर्तन नहीं होता, कुछ नया नहीं होता, नयी दृष्टि नहीं आती, तब तक सारी कोशिशें गर्द पर पोताई के समान हैं। एक बार तत्कालीन केन्द्रीय सामुदायिक विकासमंत्री श्री एस० के० डे साहब विनोबाजी से मिलने मद्रास गये थे। उन्होंने विनोबा से कहा कि "मैं कम्युनिटी डेवलपमेण्ट (सामुदायिक विकास) का काम कर रहा हूँ, लेकिन कम्युनिटी (समुदाय) की भावना तो गाँव में है नहीं। वह तो आपके ग्रामदान द्वारा ही लायी जा सकती है। ग्रामदान द्वारा गाँवों में कम्युनिटी (समुदाय) बनता है, जिसके आधार पर डेवलपमेण्ट (विकास) हो सकता है।"

गाँव में ऐसी पारस्परिक भावना हो कि हम सब मिलकर एक हैं, हम सब एक-दूसरे पर अवलंबित हैं, एक-दूसरे के सहयोग से हमें जीना है। विनोबाजी इसे ग्राम-भावना कहते हैं और ग्रामदान द्वारा उसे लाने का प्रयत्न हो रहा है। समाजवादी समाज-रचना करनी हो, तो वह भी इस ग्राम-भावना, समुदाय-भावना के आधार पर ही खड़ी की जा सकेगी।

गांधीजी भी गाँवों से ही शुरुआत करना चाहते थे

स्वराज्य मिलने के बाद आगे के काम के लिए गांधीजी के मन में भी यही कल्पना थी। वह जोर देकर कहते थे कि भारतीय ग्राम और ग्राम-स्वराज्य ही उनके भावी समाज की बुनियाद है। वे भी अपना आगे का काम गाँव से ही शुरू करना चाहते थे। उन्होंने कहा था कि जब सात लाख गाँवों (उनके मन में हिन्दुस्तान-पाकिस्तान एक ही थे) का विकास होगा, तब उसका प्रभाव शहरों पर भी पड़ेगा। मैं यह नहीं मानता कि गांधीजी शहरों के प्रति उदासीन थे। फिर भी उनके लिए बुनियाद ग्रामस्वराज्य ही था। बिलकुल इसी ढंग से विनोबाजी आज काम कर रहे हैं।

आज के शिक्षित लोगों को, उनकी आधुनिक दृष्टि से, यह एक अनोखी ही बात लगती है। हालाँकि इससे पहले भी चीन में माओ ने गाँवों के किसानों द्वारा क्रान्ति करके दिखायी है, इसलिए यह कोई अनोखी बात नहीं लगनी चाहिए। फिर भी बुद्धिजीवियों को यह समझाना बहुत कठिन होता है कि भारत जैसे देश में क्रान्ति की शुरुआत गाँवों से ही हो सकती है।

और हमारे अपने लोगों के दिमाग में भी नया समाज कैसे बनेगा, इसकी कोई स्पष्ट कल्पना नहीं है, अन्यथा गाँव का महत्त्व हमारी नजरों में तुरन्त आ जाता। आज गाँवों की जो स्थिति है. उसका जो स्वरूप है, उसे तो हमें बदल ही डालना है। हमारी योजना में न तो आज के जैसे शहर रहेंगे और न आज के जैसे गाँव रहेंगे। हम दोनों को बदल देना चाहते हैं। गांधीजी तो गाँवों का शहरीकरण और शहरों का ग्रामीकरण करने की बात करते थे। उनकी कल्पना यह थी कि समाज-रचना ऐसी हो, जिससे छोटी-छोटी 'कम्युनिटी' बने। लेकिन वह आज के गाँवों जैसी न हो। आज के गाँवों को तो गांधीजी ने कूड़े-कचरे के ढेर की संज्ञा दी थी। उनके मन में कृषि-औद्योगिक छोटे-छोटे समुदायों की कल्पना थी। वे चाहते थे कि कृषि और उद्योग दोनों का समन्वय होना चाहिए, दोनों के बीच एक संतुलन रहना चाहिए। इसके लिए एक नये प्रकार की तकनालॉजी की जरूरत पड़ेगी, ऐसा भी वे मानते थे।

यह बात भी बुद्धिजीवियों के गले जल्दी नहीं उतरती। वे कहते हैं कि आज तकनालॉजी इतनी आगे बढ़ गयी है, तब भी आप लोग इन छोटे-छोटे समुदायों की बात क्यों करते हैं? अब समझने की बात यह है कि तकनालॉजी मनुष्य की सेवक बनकर रहेगी या उसके सिर पर चढ़कर बैठेगी? आज तो विदेशों में लोग यह अनुभव कर रहे हैं कि आज की तकनालॉजी का ढाँचा इतना भीमकाय हो गया है कि मनष्य उसके नीचे दब गया है। क्या आधुनिक तकनालॉजी मानवीय पैमाने (human scale) में नहीं रह सकती? मानवीय सम्बन्ध भी विकसित हो सके, ऐसा कोई स्वरूप उसका नहीं हो सकता? तकनालॉजी का कोई मानवीय लक्ष्य (human purpose) है या नहीं? ये सब बातें यदि हम समझ लें, तो गाँवों से क्यों शुरुआत करनी चाहिए, यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जायगी।

ट्राटस्की 'परमानेण्ट रेवोल्यूशन' (सतत क्रान्ति) की बात कहता था। किन्तु उसे तो उड़ा दिया गया। क्योंकि क्रान्तिकारी जब स्वयं गद्दी पर आ बैठता है, तब वह सतत क्रान्ति नहीं चाहता। किन्तु यदि बारीकी से देखें तो यह स्पष्ट होगा कि ग्रामदानी गाँव में ग्रामसभा बनती है और वह सक्रिय रूप से काम करना शुरू कर देती है, तो इस सतत क्रान्ति की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कितने ही प्रश्न होंगे, जिनका हल गाँववालों को ग्रामसभा में एक साथ बैठकर ढूँढ़ना होगा। हाँ, देखना यह है कि सर्वानुमति के सिद्धान्त में जो एक रूढ़िवादिता का तत्त्व भी रहता है, उसका प्रभाव अधिक रहता है या क्रान्तिकारिता का। यदि क्रान्तिकारिता का प्रभाव कायम रह सका, तो यह ग्रामसभा 'परमानेण्ट रेवोल्यूशन' (सतत क्रान्ति) के लिए एक उत्तम माध्यम बन सकेगी।

अपने समाजवादी मित्रों से

इस तरह, ग्रामदान-आन्दोलन भारत जैसे देश में गाँवों से शुरू होनेवाली एक क्रान्ति का स्वरूप हमारे सामने खड़ा कर देता है। यह एक प्रारम्भिक कदम है, लेकिन क्रान्तिकारी है। यह क्रान्ति अहिंसक पद्धति से होती है, स्वेच्छा से होती है, यह उसकी खूबी है। कानून द्वारा तो यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता।

इसलिए काफी चिन्तन के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इस ग्रामदान के कार्यक्रम में अपूर्व शक्ति है। मैं तो अपने समाजवादी मित्रों से हमेशा कहता रहता हूँ कि ग्रामदान-आन्दोलन से तो आपके लिए एक राजमार्ग खुल जाता है। इस आन्दोलन के विविध पहलुओं को समझेंगे और हृदय से इस ग्रामदान के कार्यक्रम को अपना लेंगे, तो समाजवाद का या नयी समाज-रचना का जो सपना आप देखते हैं, वह धरती पर साकार होता देख सकेंगे।

डॉ० राममनोहर लोहिया से आखिर में पटना में हमारी मुलाकात हुई थी और काफी चर्चा भी हुई थी। सर्वोदय-आन्दोलन में हम क्या कर रहे हैं, मैं खुद क्या कर रहा हूँ, उसके पीछे क्या विचार हैं, क्या दृष्टि है, इसकी भी हम लोगों ने कुछ चर्चा की थी। मुझे लगा कि डॉक्टर साहब ने इसको न सिर्फ ध्यान से सुना, बल्कि उन्होंने अपने हृदय में लिया। इसलिए जब वे दिल्ली गये, तो पत्रकारों की मुलाकात में कहा कि हम लोगों की जो बात हुई, वह अच्छी हुई।

यदि समाजवादी आन्दोलन के अपने सभी साथियों को भी मैं इस नयी यात्रा में अपने साथ चलने के लिए राजी कर सका होता, तो मेरे दिल में बेहद खुशी होती। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हो सका। बल्कि आज तक बहुत सारे साथियों की ओर से यह शिकायत होती रही है कि जयप्रकाश नारायण ने हमें छोड़ दिया और उनके ऐसा करने से राजनीति को और खासकर समाजवादी आन्दोलन को, भारी क्षति पहुँची!

किन्तु मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस ग्रामदान-आन्दोलन की सफलता ही प्रत्यक्ष समाजवाद की क्रान्ति होगी। इस क्रान्ति से समाजवाद की इतनी शक्ति बढ़ेगी कि जितनी समाजवादी पक्ष के या पक्षीय राजनीति के दायरे में सीमित रहकर किसी प्रकार भी बढ़ना सम्भव नहीं है।

मेरे जो पुराने साथी अभी भी मुझसे नेतागिरी की अपेक्षा रखते हैं, उनसे मैं पूछना चाहूँगा कि आप कहते हैं कि जयप्रकाश नारायण आपका नेता बने, लेकिन नेता बनकर करे क्या? करे और कहे वह, जो आप चाहते हों! यानी जयप्रकाश नारायण अपना दिमाग कहीं रखकर आये, उसे कहीं ताले में बन्द कर दे। आप उसके दिमाग को, कार्य-कलाप को, विचार को समझना चाहते हैं? वह क्या

कर रहा है, वह क्या बोल रहा है, उसका समाजवाद से अथवा जनता के भविष्य के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह सब आप समझना चाहते हैं ? क्या आपको कोई ऐसा नेता मिलेगा, जो आपकी शर्तों पर आपका नेता बनने को तैयार होगा ? मैं तो अपनी शर्तों पर नेता बनने को तैयार हूँ । मानिये मेरी शर्त और चलिये गाँव में मेरे साथ । मैं जंगल में नहीं गया हूँ, हिमालय की गुफाओं में नहीं गया हूँ । गांधियन इन्स्टीटयूट में बैठा-बैठा किताब नहीं पढ़ रहा हूँ या शोध नहीं कर रहा हूँ । पहले जितना काम करता था, उससे ज्यादा ही काम आज करता हूँ और वह भी जनता के बीच रहकर करता हूँ ।

समाजवाद को सर्वोदय में विलीन होना ही पड़ेगा

इसलिए मेरी सभी साथियों से प्रार्थना है कि मैं जो कुछ सोचता हूँ, अपने जो विचार आप लोगों के सामने रखता हूँ, जिस कार्यक्रम में आज मैं लगा हूँ, उसे समझने की कोशिश करें । मेरा यह अटल विश्वास है कि दुनिया में यदि कभी शान्ति, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व स्थापित करना हो, तो समाजवाद को आखिरकार सर्वोदय में विलीन होना ही पड़ेगा । ●

९ सही अर्थ में जनता का राज

सर्वोदय-आन्दोलन के सम्बन्ध में प्रायः एक शिकायत यह हुआ करती है कि वह राजनीति से अलग रहता है। आचार्य कृपालानी और ढेबरभाई जैसे सर्वोदय के मित्र भी हमेशा कहते रहते हैं कि आप लोग देश की 'मेन स्ट्रीम' से, मुख्य धारा से अलग हो गये हैं। किन्तु मैं इस बात से आज तक सहमत नहीं हो सका हूँ। मैं तो यही कहता रहा हूँ कि सर्वोदय का आन्दोलन, जो जनता के बीच चल रहा है, वही बुनियादी आन्दोलन है और वही देश की मुख्य धारा है। सर्वोदय-आन्दोलन राजनीति से अलग रहा है, यह खयाल भी गलत है। उलटे हमने तो कमजोर और नकली राजनीति के बदले सशक्त और असली राजनीति ग्रहण की है। हम सर्वोदय-आन्दोलन में जो कुछ कर रहे हैं, वह गम्भीरतम अर्थ में राजनीति ही है, क्योंकि यदि हमें सफलता मिले तो हिन्दुस्तान की सारी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक पद्धति में एक आमूल क्रान्ति आ जाय। इसलिए वास्तव में हम राजनीति से बाहर निकले नहीं हैं, उलटे राजनीति की गहराई में हमने प्रवेश किया है। इस बात का भावार्थ जनता समझें, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इस विषय में गहराई से विचार कर लेना चाहिए।

अभी और अधिक अच्छी पद्धति की खोज करनी है

राजनीति का जो विकास पिछली सदियों में हुआ और उसने मानव-समाज को जिस स्थान पर लाकर पहुँचा दिया, दुर्भाग्य से हम मानने लगे कि अब उससे आगे कोई रास्ता ही नहीं है। दुनिया में आज मुख्यत. संसदीय जनतन्त्र और एक-पक्षीय राजतन्त्र की प्रथाएँ चल रही हैं, परन्तु उससे आगे, उससे भी अधिक अच्छी पद्धति कोई हो सकती है या नहीं, उस तरफ देखने का और उस दिशा में प्रयोग करने का काम अभी नहीं हुआ है।

चुनाव आदि की राजनीति के पीछे जितनी शक्ति खर्च होती है, उससे आधी शक्ति भी यदि इस नये मार्ग की खोज के पीछे खर्च की जाय, तो वातावरण कुछ भिन्न ही बनेगा। मैं यह मानता हूँ कि आज की मौजूदा शासन-व्यवस्था और

उसके दोषों के सम्बन्ध में हमें गम्भीरता से सोचना चाहिए तथा उन दोषों को दूर करने के उपाय ढूंढ़ने चाहिए। दलबन्दी के झगड़े, सैद्धान्तिक ध्रुवीकरण के बदले स्वार्थ की खींचातानी, सिद्धान्त को किनारे रख व्यक्तिगत या निहित स्वार्थ के लिए होनेवाले दल-बदल, दलों की अन्दरूनी अनुशासनहीनता, अवसरवादी गठबन्धन, दलों, प्रतिनिधियों और प्रधानों का स्वेच्छाचार, पैसों का बेहिसाब खर्च, घूसखोरी, यह सब तो सहज ही हमारी नजरों के सामने आता रहता है। किन्तु इसके बावजूद हमें अधिक गहराई में जाना चाहिए।

मात्र मताधिकार पर्याप्त नहीं

संसदीय लोकतन्त्र के कई रूप हैं, जिसमें से एक इस देश में चल रहा है। इसकी थोड़ी परीक्षा हम कर लें। यह लोकतान्त्रिक ढाँचा चुनाव-प्रथा तथा मताधिकार पर आधारित है। मताधिकार का विचार एक जमाने में बड़ा क्रान्तिकारी विचार रहा है। एक जमाने में तो वयस्क मताधिकार एक क्रान्ति-घोष भी बन गया था और लोग मानते थे कि उससे जनता का राज हो जायगा, धरती पर स्वर्ग उतर आयेगा। लेकिन हम देख रहे हैं कि उसके द्वारा समाज कोई बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। फिर भी वह निकम्मी चीज है और उसका हम तिरस्कार करें, ऐसी बात नहीं है। लेकिन जब हम आगे जाने की सोचते हैं, तब हमें जरूर देखना और समझना चाहिए कि वोट ही काफी नहीं है।

मतदाता सब कुछ सोच-समझकर मतदान कर देता है, ऐसी स्थिति तो न यहाँ है और न दुनिया में ही। एक बार एक बुढ़िया मतदान-केन्द्र के अन्दर रखी पेटी की पूजा करने लगी। पूछा, तो उसने कहा, मैं गांधीजी की पूजा कर रही हूँ। ऐसे ही मतदाताओं के मत से राज्य की स्थापना होती है, तो वे क्या कोरिया, हिन्दचीन और कश्मीर के प्रश्न समझेंगे, उन्होंने तो विदेशों का नाम भी नहीं सुना, फिर विदेशी-नीति क्या समझेंगे?

अमेरिका का अपना निजी अनुभव बतलाऊँ। विश्वविद्यालय द्वारा सामान्य ज्ञान के पूछे गये प्रश्नों के जवाब में जानने को मिला कि सौ में से सत्रह प्रौढ़ अमेरिकन अपने राष्ट्रपति का नाम तक नहीं जानते थे। बिहार के देहातों की सभाओं में कृपालानीजी के सवाल के जवाब में लोग जवाहरलालजी को 'भारत का राजा' बताते थे और 'उनके बाद उनका बेटा राजगद्दी पर बैठेगा', ऐसा कहते थे।

दुनिया की जनता की यह स्थिति है। फिर भी हम मानते हैं कि हमारा वोट पर खड़ा संसदीय लोकतन्त्र बहुत अच्छी तरह चल रहा है। राज चलानेवाले मानते हैं कि वयस्कों को वोट का अधिकार दे दिया तो आदर्श राज्य-व्यवस्था

हो गयी ! जब कि सारे वोटर न तो एक स्तर के होते हैं, न राजनीति-अर्थशास्त्र आदि के प्रश्न ही वे समझ पाते हैं । जनतन्त्र का यह ढोंग ही तो है !

वास्तव में आज बहुमत का राज्य भी कहाँ चलता है ?

संसदीय जनतन्त्र दूसरी बात यह मानता है कि बहुमत के आधार पर ही राज्य चलता है । यानी ४९ बनाम ५१ की ही बात चलती है । लेकिन इसका कोई जवाब नहीं कि अगर मैं ४९ में हूँ तो ५१ की बात मानने के लिए मुझे क्यों मजबूर किया जाय ? उसमें क्या न्याय है ? परन्तु कोई नयी राह नहीं दीखती है, इसलिए यह सब चला रहे हैं । बापूजी का एक वचन है, 'बहुमत का राज्य पशुबल है', जैसे सेना या रुपयों के बल से चलनेवाले शासन में होता है । कितनी गहराई में जाकर बापू ने यह कहा था !

और जिसे आज हम बहुमत का राज कहते हैं, अगर सचमुच में देखा जाय, तो वह भी क्या बहुमत का राज होता है ? संसद् में किसी पार्टी को ज्यादा स्थान मिल जाते हैं, लेकिन फिर भी देश के कुल मतदाताओं का बहुमत उनके पीछे नहीं होता है । वोट एक पक्ष को ज्यादा और सीट दूसरे पक्ष को ज्यादा, ऐसा कई जगह, कई बार देखने को मिलता है ।

इसे रोकने के लिए दूसरे देशों में कुछ प्रयत्न होते हैं । उदाहरण के लिए फ्रांस में आज सामान्य चुनाव में ऐसा नियम है कि जब तक किसी भी उम्मीदवार को ५० प्रतिशत से अधिक वोट न मिलें तब तक वह चुना हुआ नहीं माना जाता । दुबारा फिर से मतदान होता है । यद्यपि हमारे यहाँ यह तरीका बहुत खर्चीला हो जायगा ।

इस तरह देखा जाय तो अगर किसी एक पार्टी को ३५ प्रतिशत ही मत मिले, परन्तु संसद् में सीटें ज्यादा मिलीं, तो सरकार उसी पार्टी की बनेगी । तिस पर भी जितने मतदाता होते हैं, वे सबके सब तो मत देने कभी नहीं आते हैं । औसतन् ५०-६० प्रतिशत ही आ पाते हैं । यानी उन ५०-६० प्रतिशत में से भी वास्तव में २०-२५ प्रतिशत लोगों ने ही उस पार्टी को वोट दिया । फिर भी आज के जनतन्त्र में इसी पार्टी का राज होगा । तब भी माना यह जाता है कि यह जनतन्त्र यानी बहुमत का राज है, यद्यपि व्यवहार में अल्पमत का ही राज चलता है ।

अब मान लीजिये कि लोकसभा में सत्ताधारी दल के १०० सदस्य हैं । इस दल की बैठकों में भी सभी निर्णय बहुमत से होंगे । यानी पहले तो वे सभी सौ में से २०-२५ के प्रतिनिधि, उसमें से भी ५१ की राय से निर्णय, अर्थात् कुल मतदाताओं के १०-१५ प्रतिशत के प्रतिनिधि ही वे माने जा सकते हैं । जाहिर है कि

आज व्यवहार में बहुत ही अल्पमत का राज चलता है। यह है वर्तमान जनतन्त्र का हाल !

और भी अधिक बारीकी से देखा जाय तो इसी प्रक्रिया के दूसरे क्रम में कोई प्रश्न पहले-पहल सीधे पार्टी के सामने नहीं आता है। केबिनेट में ही वह प्रश्न आता है। केबिनेट में अगर उस पर मतभेद हो तो वहाँ पर भी बहुमत से निर्णय होगा। उसमें भी प्रधानमन्त्री की बातों का सबसे अधिक वजन होता है। इस तरह अन्ततोगत्वा जवाहरलालजी, चर्चिल आदि के जैसे किसी एक प्रभावशाली व्यक्ति का राज्य यानी लोकतन्त्र, ऐसा ही अर्थ व्यवहार में हो जाता है।

दलीय पद्धति के कारण देश की शक्ति बिखरती है

अब आज की दलीय पद्धति को लें। आज संसदीय लोकतन्त्र में दलीय पद्धति अनिवार्य मानी जाती है। इसका पहला परिणाम यह होता है कि भेद पैदा होकर राष्ट्र की शक्ति बिखरती है। मान लीजिये कि सौ प्रश्नों में से अस्सी पर सारे पक्ष एकमत हैं, तो भी सहमति जिन प्रश्नों पर है, उन पर तो चर्चा नहीं होगी, बाकी के बीस प्रश्नों पर ही चर्चाओं का दंगल जमेगा। किसी दल का कोई व्यक्ति खड़ा होकर यह नहीं कहेगा कि जिन प्रश्नों पर मतभेद नहीं है, कम-से-कम उनके लिए तो सब मिलकर काम करें। उल्टे वे तो मतभेद की ही बात सामने रखेंगे और तिल का ताड़ बनायेंगे ! परिणामतः शक्तियाँ बिखरकर आपस में विरोध पैदा होता जाता है एवं जिन प्रश्नों पर मतभेद नहीं है, उन पर भी मिलकर काम नहीं कर पाते। दलीय पद्धति अगर रखनी ही है, तो जिन प्रश्नों पर मतभेद नहीं है, कम-से- कम उनके लिए तो सब मिलकर काम करें।

अरे, ऐसा भी होता है कि एक व्यक्ति जब तक विपक्ष में है, तब तक हमारी दृष्टि में वह बहुत बुरा व्यक्ति होता है, किन्तु किसी कारण से जैसे ही वह व्यक्ति उस पक्ष को छोड़ता है कि तुरन्त हमारी दृष्टि में उसकी कीमत बढ़ जाती है। और फिर तो हम उसे अपने पक्ष में मिलाने के लिए आकाश-पाताल एक कर डालते हैं। और हमारे पक्ष में वह आ गया, तो वह व्यक्ति मानो गंगास्नान करके पवित्र ही हो गया ! अच्छा क्या है, बुरा क्या है, इस बात का कुछ खयाल नहीं होता। सिर्फ एक ही बात हमारे पक्ष में है, इसलिए अच्छा और विपक्ष में है इसलिए बुरा। दुनियाभर में यही चलता है। इस तरह, अच्छे-बुरे का अन्तिम थर्मामीटर पक्ष ही बन बैठता है।

जनता अपना उम्मीदवार खड़ा कर ही नहीं पाती

चुनाव को हमने लोकतन्त्र का मुख्य साधन तो बनाया, लेकिन किसी गरीब के लिए यह असम्भव हो गया है कि वह चुनाव में स्वयं खड़ा हो सके या गरीब लोग

मिलकर ही उसे खड़ा कर सकें। आखिर तो इस गरीब जनता को चुनाव में खड़े हुओं में से ही किसीको चुना देना पड़ता है और वही सारी जनता का प्रतिनिधि बन जाता है। जनता तो अपना कोई प्रतिनिधि आम तौर पर स्वयं खड़ा कर ही नहीं पाती। पार्टियाँ ही अपने उम्मीदवार खड़ा करती हैं। गिने-चुने महारथी दिल्ली या पटना, लखनऊ में बैठकर सोच लेते हैं कि किसको खड़ा करना है। इसलिए आज कहा तो जाता है कि जनता का राज्य है। किन्तु ऊपर से खड़े किये गये उम्मीदवारों में से जो जीतते हैं, वे ही जनता के प्रतिनिधि माने जाते हैं। सही माने में वह जनता के प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं, जब कि उम्मीदवार के रूप में तो वे ऊपर से टपक आये होते हैं? जनता को मात्र इतनी ही स्वतन्त्रता होती है कि वह उन दस-बारह उम्मीदवारों में से ही किसी एक को पसन्द कर उसे अपना मत दे। क्या यही है जनता का राज? और यही है चुनाव? हरगिज नहीं। इसका कुछ विकल्प ढूँढ़ना होगा।

मौजूदा लोकतन्त्र के ऐसे कई बड़े और महत्त्वपूर्ण दोष हैं। वास्तव में जरा बारीकी से देखें तो आज न जनता का राज है, न ही बहुमत का राज है। वस्तुतः अन्त में चंद लोगों के हाथ में ही सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाता है और फिर वह अफसरों का ही राज बन जाता है।

...और इस तरह भी जनता का राज नहीं होता

समाजवादियों ने कहा: "यह राजनीतिक जनतन्त्र मात्र हुआ, आर्थिक तन्त्र पर तो जनता का कोई अधिकार ही नहीं है। इसलिए यह राजनीतिक जनतन्त्र अधूरा जनतन्त्र है। अतः आर्थिक जनतन्त्र को भी इसके साथ जोड़ दिया जाय।" किन्तु उनका भी मुख्य जोर राष्ट्रीयकरण पर ही रहा। लेकिन वोट से जनता का राज हो जायगा, यह सपना जैसे झूठा साबित हुआ, वैसे ही राज्य को आर्थिक व्यवसाय सौंपने से गरीबों का राज हो जायगा, यह सपना भी झूठा साबित हुआ। उलटे इससे सत्ता का केन्द्रीकरण ही बढ़ता गया। वास्तव में आर्थिक और राजनीतिक जनतन्त्र का नतीजा जनता के राज के रूप में फिर भी प्रकट नहीं हुआ, मुट्ठीभर पढ़े-लिखों का या पूँजीपतियों का ही राज हुआ और समाजवादी देशों में मध्यम-वर्ग का राज हुआ। वहाँ भी टेक्नोक्रेसी ही पैदा हो रही है यानी व्यवस्थापकों, विशेषज्ञों, प्रशासकों आदि का ही राज चल रहा है!

इस तरह, अभी सही मानी में जनता का राज तो कोसों दूर है। हमें ये सारी बातें जनता के सामने रखनी होंगी और ग्रामस्वराज्य लाने से किस तरह सही अर्थों में लोकतन्त्र आ सकेगा, यह बात भी अच्छी तरह समझानी पड़ेगी। वास्तव

में, 'आज तक जिस रास्ते चलते आये हैं, उसी रास्ते आँख मूंदकर चलते रहो' यह कोई सोचने का वैज्ञानिक तरीका नहीं है। इससे तो जनता का राज कभी आनेवाला नहीं है।

जनता का राज तो नीचे से ही विकसित करना पड़ेगा

जनता का राज लाना हो, तो नीचे से ही स्वराज का विकास करना पड़ेगा। इसके लिए ग्रामस्वराज की बात स्पष्ट रूप में जनता के सामने रखनी होगी। सामुद्रिक वर्तुलाकार समाज-रचना की गांधीजी की महान् कल्पना हमारे सामने है। छोटे-छोटे समुदाय को भीतर से ही अधिक-से-अधिक अधिकार और शक्ति प्राप्त हो और कम-से-कम अधिकार ऊपरवालों के पास रहे। उतने ही, जितने अनिवार्य हों। जीवन के मुख्य सवालों का हल इन छोटे समुदायों के बीच ही, उनके अपने ढंग से हो। जनता जैसे-जैसे अपना काम सँभालती जायगी, वैसे-वैसे जनता का राज आयेगा। लोकतान्त्रिक दृष्टि से विचार करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि तन्त्र जितना हलका और सरल होगा, उतनी ही लोकशाही सरल और सफल सिद्ध होगी। यदि तन्त्र बोझिल और जटिल होगा तो लोकशाही भी उतने अंशों में निष्फल सिद्ध होगी। जहाँ केन्द्रित संचालन आया, वहाँ जनता का संचालन मर गया समझिये। जनता के द्वारा संचालन कराना हो तो वह विकेन्द्रित तरीके से ही सम्भव होगा। और मैं ऐसा मानता हूँ कि लोकशाही का बचाव भी इसीमें है। यदि हमें आज के औपचारिक लोकतन्त्र से सन्तोष न हो, यदि हम पार्टिसिपेटिव डेमोक्रेसी—जिसमें खुद जनता भाग लेती है ऐसा लोकतन्त्र चाहते हों—तो गांधीजी के ग्रामराज की बात की तरफ ध्यान देना ही पड़ेगा।

गांधीजी यह चाहते थे कि अधिक-से-अधिक अधिकार जनता के हाथ में आने चाहिए। उनका दर्शन यह था कि सत्ता जितनी कम, उतनी ही लोकशाही अधिक। जिस तरह ट्रेन में सुरक्षा की जंजीर रहती है, उसी तरह लोकशाही में सत्ता रहनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा था कि 'वही सरकार सर्वोत्तम होती है, जो न्यूनतम शासन करती है।' लोकशाही का अर्थ ही यह है कि 'लोक' अपना काम स्वयं करे, अर्थात् जनता अपना राज्य स्वयं चलाये, उसकी व्यवस्था स्वयं करे।

हालाँकि ऊपर से लोगों के हाथ में सत्ता बाँटकर विकेन्द्रीकरण नहीं किया जा सकता, खास तौर से जब कि लोग राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत न हों और दलीय पद्धति एवं शीर्ष पर सत्ता के केन्द्रित होने के कारण जनता की स्वशासन की शक्ति पूरी तरह नष्ट नहीं तो भी बिलकुल छिन्न-भिन्न तो कर ही दी गयी हो। आज विधानसभा में बने हुए नियमों के अनुसार ग्राम-पंचायतों का संगठन हो रहा है।

ऐसे पंचायतीराज का जो परिणाम ग्राया, उसमें कोई ग्राश्चर्य की बात नहीं। ऊपर से सत्ता बाँटकर विकेन्द्रीकरण करने का यही परिणाम ग्रा सकता है। गांधीजी जिसे 'ग्रामराज्य' कहते थे, वह यह नहीं है। गांधीजी के सारगर्भित शब्दों में 'पंचायत ग्रपने ही बनाये हुए कानूनों के ग्रनुसार काम कर सकती है।' समाज के जीवन को स्वाश्रयी बनाने की यह शक्ति नीचे से ही पैदा की जानी चाहिए, विकेन्द्रीकरण के नाम पर ऊपर से बख्शी नहीं जानी चाहिए। इसकी प्रक्रिया नीचे से ही शुरू होनी चाहिए।

लोकमानस में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की आवश्यकता

मुझे ऐसा लगता है कि लोकशाही के विकास के ग्रगले कदम के लिए दुतरफा मोर्चा बनाना चाहिए। सर्वप्रथम तो लोकमानस में ऐसे एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की ग्रावश्यकता है, जिसके फलस्वरूप हरएक व्यक्ति ऐसा मानने लगे कि सबकी भलाई में ग्रपना भला है। ग्रौर साथ ही ग्राज के सामाजिक जीवन में ग्रलग-ग्रलग स्वार्थ, व्यक्तियों तथा समुदायों के बीच जो शीत-युद्ध चल रहा है, उसका ग्रन्त ग्राये। विविध हितों के बीच का संवाद—यही लोकशाही की ग्रसली बुनियाद है।

पहले कदम में से ही स्वाभाविक तौर पर निष्पन्न होनेवाला दूसरा कदम यह है कि दल-प्रथा ग्रौर बहुमत-ग्रल्पमत के दुश्चक्र में से हमें बचना चाहिए। क्योंकि मूल बात हित-संवाद की है। हित-संवाद होगा तो इतने बड़े तन्त्रजाल की कोई जरूरत नहीं रहेगी। ग्राज इतने दलों का जो ग्रस्तित्व कायम है, उसका कारण यह है कि जनता स्वयं लोकशाही के संचालन में सीधा हिस्सा नहीं ले सकती, इसलिए वह पार्टी द्वारा ही कुछ भी कराने का प्रयत्न करती है।

ग्रब, यदि हम दलीय पद्धति को समाप्त करना चाहते हैं तो सामान्य जनता की भूमिका पक्षरहित बने ग्रौर वह लोकशाही के संचालन में स्वयं भाग ले, ऐसी व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए गाँव-गाँव में ग्रामस्वराज की स्थापना होनी चाहिए। ग्राम-भावना जगे, गाँव के लोगों के बीच समरसता ग्रौर एकात्मता बढ़े, सर्वानुमति से निर्णय करने की पद्धति विकसित हो तो इस तरह नीचे से वास्तविक लोकशाही पनप सकेगी। ऊपर से कोशिश करने से वह होगा नहीं। सर्वप्रथम तो 'ग्रार्गेनिक कम्युनिटी' (चेतन-समुदाय) बननी चाहिए। तभी लोग साथ मिलकर ग्राम-भावना से काम कर सकेंगे, ग्रपनी भूमिका ग्रदा कर सकेंगे। इस दृष्टि से देखें तो ग्रामदानी गाँव की ग्रामसभा प्रत्यक्ष एवं सहभागी लोकतन्त्र की प्रतीक है।

हमारा साध्य क्या है ?

हमारा साध्य क्या है, यह विचारणीय है। हम सत्ता अपने हाथ में लेना चाहते हैं या जनता के हाथ में सौंपना चाहते हैं ? यदि हम लोगों का शासन, लोगों का राज्य लाना चाहते हैं, तो हमारे कार्य की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि आज और इसी समय हम ऐसी परिस्थिति उपस्थित करते जायँ, जिसमें लोग अपने ऊपर अधिक निर्भर रहते चलें और सरकार पर कम निर्भर होते जायँ। साम्यवाद की तरह गांधी-दर्शन में भी अन्त में एक राज्य-विहीन समाज की कल्पना है। अब, राज्य-संस्था कभी सम्पूर्ण विलीन होगी या नहीं, यह तो कोई कह नहीं सकता। किन्तु यदि हम अहिंसक लोकतन्त्र को स्वीकार करते हैं, तो उसके लिए प्रयत्न करना हमें आज से ही शुरू कर देना चाहिए। राज्य की सत्ता, उसके व्यवहार और क्षेत्र को जहाँ तक संभव हो सके, संकुचित और सीमित करते जाने की दिशा में हमारी कोशिश हो। गांधीजी इस बात पर बार-बार जोर देते थे कि सरकार जैसे-जैसे निचले स्तर से ऊपर के स्तर की ओर बढ़ती जाय, वैसे-वैसे ऊपर के स्तर के हाथ में कम-से-कम कार्य और सत्ता होनी चाहिए। अन्ततोगत्वा राज्य क्षीण होते-होते विलीन हो जायेगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता। किन्तु मुझे विश्वास है कि राज्य जितना सिमटता जायगा, उतना ही लोकशाही का हित सधेगा।

इसलिए ही सर्वोदय-आन्दोलन की मंशा अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए सत्ता हाथ में ले लेने की नहीं है। अपनी इस नीति के अनुसार वह राज्य पर कब्जा करने के लिए स्वयं एक पार्टी बनाना या बनना नहीं चाहता। इसके बदले उसका यह इरादा है कि सरकार चाहे कुछ करे या न करे, लोग स्वतन्त्र रूप से अपने व्यक्तिगत जीवन में क्रान्ति करने के लिए प्रवृत्त हों और उसके द्वारा समाज में क्रान्ति करें। इसके अलावा वह ऐसी परिस्थितियाँ प्रस्तुत करना चाहता है, जिसमें लोग खुद सीधे तौर से अपना इन्तजाम आप कर लें।

किन्तु आज तो सभी राज्य के ही पीछे पड़े हैं। लोकतान्त्रिक समाजवादी, साम्यवादी तथा कल्याणराज्यवादी, सबके सब राज्यवादी हैं। वे सब पहले हाथ में सत्ता लेकर और तत्पश्चात् राज्य के अधिकारों और कार्यक्षेत्रों में वृद्धि करके अपने ही ढंग का स्वर्ग बनाना चाहते हैं। लोक-कल्याणकारी राज्य जनता की भलाई के नाम पर अधिक-से-अधिक सत्ता हाथ में लेता जाता है, लोगों के जीवन में हस्तक्षेप बढ़ाता जाता है। इस वृत्ति को रोकना ही चाहिए। लोक-कल्याण-कारी राज्य लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा बना है, इतने से ही वस्तुस्थिति में कोई खास फर्क नहीं पड़ता।

सिर के बल खड़ा उल्टा पिरामिड

हकीकत तो आज यह है कि 'सर्वसत्तासम्पन्न शीर्ष' की ओर से 'शक्तिशून्य बुनियाद' की ओर सत्ता प्रवाहित है। हमारा लोकतंत्र बहुत संकुचित आधार पर टिका हुआ है। यह एक ऐसे उल्टे पिरामिड की तरह है, जो सिर के बल खड़ा है। इसलिए इस प्रकार की आज की व्यवस्था को बुनियाद से ही बदलने का मैं हिमायती हूँ। केवल यह तथ्य कि हर वालिग भारतीय को वोट देने का हक है, शासन-पद्धति के पिरामिड को व्यापक आधार नहीं दे देता। करोड़ों की संख्या में बिखरे हुए व्यक्तिगत मतदाता बालुका-कणों के ऐसे ढेर की तरह हैं, जो किसी भी संरचना की बुनियाद नहीं बन सकते। इन बालुका-कणों को तो ईंट या कंकरीट में रूपान्तरित करके ही इनसे किसी भवन के स्तम्भों का निर्माण किया जा सकता है। इसके लिए लोग जहाँ एक साथ रहते हैं, जहाँ उनके जीवन की हलचल साथ-साथ होती है, ऐसी जीवन्त इकाइयों में जाकर लोकशक्ति जगानी पड़ेगी। ये इकाइयाँ बालू के ढेर या भीड़ जैसी न हों, बल्कि एक 'आर्गेनिक मास' हों, जीवन्त समूह हों, परस्परावलम्बित समूह हों। और यहाँ तो अभी ८० प्रतिशत लोग ऐसे प्रत्यक्ष समाज में (गाँवों में) ही बसते हैं, जिनकी आँखों में लाज-शर्म शेष है। इन गाँवों की शक्ति जगाकर उससे ही उनकी समस्याएँ सुलझानी हैं। आज यह शक्ति कुण्ठित है, सुषुप्त है। उसे जागृत करना है, सुसंगठित करना है। ग्रामदान का कार्यक्रम इसीके लिए है। इसलिए यदि हमें अपने लोकतन्त्र को टिकाऊ बनाना है, तो यह साफ है कि हमें उसकी बुनियाद को व्यापक और ठोस बनाना होगा तथा उसके ऊपरी स्तरों को, बुनियाद के अनुरूप आकार देना पड़ेगा। इस पद्धति से लोकशाही में अवश्य सुधार हो सकेगा। लोकतान्त्रिक शासन की आज की पद्धति में इस तरह सुधार हो सकता है, ऐसा यदि हम दुनिया को बता सकें तो लोकतन्त्र के विकास के लिए आगे का रास्ता मिलेगा।

अब तक संसदीय सत्ता का ढाँचा लोकतंत्र का सर्वोत्तम विकसित रूप था। किन्तु वह बहुत ही अपर्याप्त है। मात्र 'जनता का जनता के लिए, किन्तु जनता द्वारा नहीं' ऐसा राज चला ले सकनेवाली आज की परिस्थिति से किसी भी लोक-शासनवादी को समाधान नहीं होना चाहिए। बल्कि यह जरूरी है कि जनता अपने कारोबार में प्रत्यक्ष एवं वास्तविक हिस्सा ले। लोकतन्त्र के संचालन में लोगों का अपना हिस्सा कितना है, प्रत्यक्ष सहयोग कितना है और लोगों को यह तन्त्र कितना 'अपना' लगता है, उस पर लोकतन्त्र की सफलता निर्भर है। इसके लिए समाज की पुनर्रचना का मार्ग ढूंढ़ निकालना चाहिए।

इसके लिए कोई 'शार्टकट' नहीं है

आज के सामाजिक, आर्थिक, राजकीय ढाँचे को जैसा का तैसा रखकर इसके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। आज के चुनाव में हिस्सा लेकर और वहाँ विधान-सभा या लोकसभा में अमुक प्रस्ताव या सुधार प्रस्तुत करके बुनियादी और लोगों को साझेदारीवाला (पार्टिसिपेटिव) लोकतन्त्र हम स्थापित नहीं कर सकेंगे। हम दलमुक्त लोकतन्त्र का एक भिन्न प्लेटफार्म बनायें और निष्पक्ष उम्मीदवार बड़ी संख्या में चुनकर जायँ, तो भी उससे दलमुक्त लोकतन्त्र नहीं खड़ा होगा। ऐसे ऊपर-ऊपर के प्रयत्न बेकार हैं।

मैंने स्वयं भी एक बार ऐसा कहा था कि चुनाव में जीतने के बाद विधान-सभा और लोकसभा में प्रत्येक सदस्य को बिना किसी पक्ष के 'लेबुल' के अपने निर्वाचन-क्षेत्र की समस्त जनता के प्रतिनिधि के रूप में काम करना चाहिए। किन्तु ऐसा करने पर भी दलमुक्त लोकतन्त्र पनपेगा, ऐसी कोई अपेक्षा नहीं। इस तरह दल के 'लेबुल' के बिना सदस्यों का व्यवहार हो, सब मिलकर विधानसभा के नेता का चुनाव करें, वह नेता दलीय दृष्टि रखे बिना अपना मन्त्रिमण्डल बनाये और सब साथ मिलकर शासन चलायें, तो उसमें से केवल एक नये प्रकार का संसदीय लोकतन्त्र विकसित होगा। आज की दलीय पद्धति का निरसन कैसे हो, यह तो एक बिलकुल ही अलग बुनियादी सवाल है।

मैं ऐसा मानता हूँ कि इसके लिए कोई 'शार्टकट' (संक्षिप्त उपाय) नहीं है। आज का लोकतन्त्र, आज की चुनाव-पद्धति, आज की समाज-रचना इन सबमें दल अनिवार्य है। हमें यदि दलमुक्त लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारीवाला लोकतन्त्र स्थापित करना हो, तो इस परिस्थिति को आमूलाग्र बदलना होगा। इस तरह अगर बुनियादी परिवर्तन करेंगे, तभी लोकशाही नीचे से पनपेगी। समग्र परि-स्थिति में परिवर्तन होगा और जनता स्वयं बिना दल के काम करने लगेगी, उसमें ग्राम-भावना पैदा होगी, आज की तरह पार्टियाँ नहीं रहेंगी और जनता स्वयं लोक-शाही कारोबार में प्रत्यक्ष भाग लेने लगेगी। इसके लिए बुनियाद से ही प्रयत्न करना पड़ेगा, दूसरा कोई 'शार्टकट' (संक्षिप्त उपाय) नहीं है।

केवल सूत्र नहीं, कुछ प्रत्यक्ष कार्यक्रम

ऐसे तो रेडिकल ह्यूमेनिस्ट भी दलविहीन लोकशाही का विचार प्रस्तुत करते रहे हैं। एम० एन० राय का सूत्र था, 'पीपल्स कमेटी'—जन-समिति। किन्तु ऐसी समिति कहीं बनी? उसका स्वरूप कैसा हो, उसका कार्यक्रम क्या हो, वह कैसे बनायी जाय आदि बातों का विचार करना चाहिए या नहीं?

किन्तु उन लोगों ने ऐसा कुछ विचार नहीं किया है । इसलिए 'पीपल्स कमेटी' यह मात्र एक सूत्र रहा है । जब कि ग्रामदान-ग्रान्दोलन में ग्राज कम-से-कम कागज पर तो इसका कोई चित्र है ही । उसमें ग्राम-भावना की ग्रामसभा गठित करने की, सर्वानुमति से काम करने की बातें हैं । उससे दलविहीन ग्रौर सहभागी (पार्टिसिपेटिव) लोकतंत्र का कुछ स्वरूप पनपने की संभावना है ।

यह एक व्यापक लोकशिक्षण का काम है । हमें लोकनीति की प्रक्रिया की शुरुग्रात करनी है, लोकतंत्र की नयी बुनियाद, नयी ग्राधारशिला रखनी है । यह कोई साधारण काम नहीं । यह ऐसा काम है, जिसे ग्रनेक प्रयोगों ग्रौर ग्रनुभवों से सीखते हुए ग्रागे बढ़ाया जा सकता है । यह भी सम्भव नहीं कि इसकी समग्र परिकल्पना तत्काल प्रस्तुत की जा सके । फिर भी चुनाव वगैरह में ग्रामदानी गाँवों की ग्रामसभाएँ कैसी भूमिका ग्रदा करेंगी, इसका कुछ चिन्तन जरूर किया जा सकता है ।

एक छोटी-मोटी रूपरेखा

उदाहरण के तौर पर विधानसभा के चुनाव के लिए एक निर्वाचन-क्षेत्र है । मान लीजिये कि उस क्षेत्र में १०० ग्रामदानी ग्रामसभाएँ हैं । उन ग्रामदानी गाँवों का लोकशिक्षण करना पड़ेगा । लोगों को समझाना पड़ेगा कि चुनाव में ग्राप स्वयं ग्रपना उम्मीदवार खड़ा करें । ग्रामदानी गाँवों की ग्रामसभाएँ कुछ सक्रिय हुई होंगी, उनमें कुछ शक्ति ग्रायी होगी, जागृति ग्रायी होगी ग्रौर मिल-जुलकर काम करने का कुछ ग्रभ्यास हुग्रा होगा, तो यह हो सकेगा ।

इसकी पद्धति के बारे में भी थोड़ा-बहुत विचार किया जा सकता है । पहले तो हरएक ग्रामसभा गाँव की ग्राबादी के ग्रनुसार ग्रपने एक-दो या तीन-चार ग्रादमी पसन्द करेगी । यदि ग्रामसभा छोटी है तो वह एक ग्रादमी को पसन्द करेगी ग्रौर यदि कोई बड़ा गाँव होगा तो वह चार-पाँच लोगों को पसन्द करेगा । इस तरह, सौ गाँवों में से ग्रौसत तीन के हिसाब से लगभग ३०० लोगों को गाँव-वालों ने पसन्द किया । ये लोग किसी दल के नहीं, बल्कि ग्रामसभाग्रों द्वारा पसन्द किये गये प्रतिनिधि होंगे ग्रौर सर्वानुमति से पसन्द किये गये होंगे ।

इन सभी प्रतिनिधियों का एक 'ग्रामसभा-प्रतिनिधि मण्डल' बनेगा । वे सब मिलकर ग्रपने में से एक व्यक्ति को उस मतदान-क्षेत्र के लिए उम्मीदवार के रूप में पसन्द करेंगे । पसन्दगी की पद्धति भी उन्हें समझायेंगे । कहेंगे कि सर्वसम्मति से किसी एक को ही पसन्द करें । ग्रौर यदि यह सम्भव न हो तो 'एलिमिनेशन' की प्रक्रिया से पसन्द करें । उदाहरण के तौर पर चार-पाँच लोग उम्मीदवार

के रूप में खड़े हों, तो तीन-चार बार मतदान कराकर जिसे सबसे कम मत मिले उसे एक के बाद एक निकालते जायँ। अन्त में जो एक रहे, उसे ही उम्मीदवार के रूप में पसन्द हुआ समझें। इस तरह जो उम्मीदवार खड़ा होगा, वह वस्तुतः जनता का उम्मीदवार होगा।

आज चुनाव की जो पद्धति है, उसे एकाएक तो हम नहीं बदल सकेंगे। इसलिए शुरू में तो आज की पद्धति के चौखटे में रहकर ही हमें काम करना पड़ेगा। इसलिए उस मतदान-क्षेत्र में शायद कई दल के उम्मीदवार खड़े होंगे और कई अपने-आप स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में भी खड़े होंगे। दूसरी तरफ इन ग्रामसभाओं के उम्मीदवार होंगे, जिन्हें ग्रामसभाओं के प्रतिनिधियों ने मिलकर खड़ा किया होगा। और ग्रामसभाएँ यदि जागृत होंगी, तो स्पष्ट है कि मत उनके द्वारा खड़े किये गये उम्मीदवार को ही मिलेंगे और वही चुना जायगा।

दल-प्रधान के बदले समुदाय-प्रधान कार्यपद्धति

इसमें हमें इतना अवश्य समझ लेना है कि सर्वोदयवाले चुनाव वगैरह में कभी खड़े नहीं होंगे। जो लोक-शिक्षण करने निकला है, वह चुनाव में खड़ा नहीं होगा। जो शिक्षक है, वह स्वयं कभी परीक्षा में नहीं बैठता है। उसका काम तो है विद्यार्थी को परीक्षा के लिए तैयार करना। लोकनीति का यदि बुनियाद से ही विकास करना हो, तो कम्युनिटी को—पूरे ग्रामसमाज को—सक्रिय बनाने पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। यह हमारी कार्यपद्धति का मूलभूत भेद है। सर्वोदय-आन्दोलन की कार्यपद्धति समुदाय-प्रधान है, जब कि आज की चुनाव पद्धति दल-प्रधान है।

अर्थात् इसमें उम्मीदवार दल का हो या जनता का हो, मात्र इतना ही भेद नहीं है। बल्कि मूल बात यह है कि आज तो जनता मिलकर, साथ बैठकर विचार ही नहीं करती। अगर कम्युनिटी सक्रिय होती है, तो वह जहाँ तक सम्भव होगा सर्वानुमति से काम करेगी। सर्वोदय-आन्दोलन के सामने ऐसे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का लक्ष्य है, जिसमें जनता अधिक-से-अधिक भाग लेती हो। इसलिए उसके कार्यकर्ता चुनाव वगैरह में पड़ने की अपेक्षा सारी कम्युनिटी को सक्रिय बनाने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

इस तरह जो ग्रामसभाओं द्वारा खड़े किये गये उम्मीदवारों में से चुनकर आये होंगे, वे किसी दल के नहीं, बल्कि सीधे जनता के प्रतिनिधि बनकर आये होंगे। इन दलमुक्त सदस्यों द्वारा दलमुक्त लोकतन्त्र की शुरुआत होगी। लेकिन यदि हम ठोस लोकशिक्षण का काम नहीं कर सके होंगे, तो सम्भव है कि कुछ क्षेत्रों से

पार्टियों के भी कुछ उम्मीदवार चुनकर आये हों तो, उन पार्टियों के लोगों को भी पार्टी का 'लेबल' उतारकर सबके साथ बैठने के लिए समझायेंगे।

फिर वे सब मिलकर एक नेता चुनेंगे, जो योग्य व्यक्तियों का एक मन्त्रिमण्डल बनायेगा। उसमें फिर एक सत्ताधारी पक्ष और दूसरा विरोध पक्ष, ऐसा नहीं होगा। विधानसभा के सब सदस्य साथ मिलकर शासन चलायेंगे। प्रशासन-व्यवस्था भी अलग-अलग विभागों के अनुसार की जा सकती है। विधानसभा के सभी सदस्यों को अलग-अलग समितियों में बाँट दिया जाय और हरएक समिति को एक-एक विभाग सौंपा जाय। इन समितियों के माध्यम से शासन चलेगा। तब फिर आज जैसी दलीय खींच-तान नहीं होगी। और न विधानसभा के सदस्य एक-दूसरे पक्ष को नीचे गिराने की कोशिश में ही लगे रहेंगे। जनता का हित साधना है, जो भूलें होती हैं उन्हें सुधारना है, यह दृष्टि रहेगी। लोकनीति के ऐसे कुछ चित्रों की कल्पना आज की जा सकती है। इस तरह एक नयी प्रकार की लोकसत्ता का उदय होगा। उसकी बहुत तफसीलवार कल्पना हम और आप आज नहीं कर सकेंगे। किन्तु ग्रामदान का जो काम चल रहा है, उसमें इसकी काफी सम्भावनाएँ मौजूद हैं।

सबसे पहले बुनियाद मजबूत करनी होगी

दुनिया की आज की परिस्थिति में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ऐसी एक भूमिका तैयार हो। और जैसा कि अभी हमने देखा, जहाँ तक नये ढाँचे की छोटी-मोटी रूपरेखा का सवाल है, वह तो हम प्रस्तुत कर सकते हैं। और फिर तो जैसे-जैसे रूपरेखा स्पष्ट होती जायगी, वैसे-वैसे आगे का दर्शन होता जायगा और राह मिलती जायगी और 'कम्युनिटेरियन' समाज की कल्पना के आधार पर पूरी इमारत खड़ी करनी होगी। किन्तु मुझे लगता है कि जब तक एक बार ग्रामसभा नहीं बनती और वह सक्रिय रूप से काम नहीं करने लग जाती, तब तक ये सारे विकल्प बातों में ही रहेंगे। चाहे जैसा सुनहरा सपना हम देखा करें, किन्तु सक्रिय ग्रामसभा के बिना उसके लिए कोई बुनियाद नहीं बन सकती। इसलिए सबसे पहले हमें नींव मजबूत करनी चाहिए।

यह बहुत कठिन काम है। एक बिलकुल नया काम है। बिलकुल नया रास्ता बनाना होगा। आज प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहाँ है? अमेरिका में पहले 'टाउन मीटिंग्स'--नगर-सभाएँ--होती थीं, वहाँ उसकी कुछ झलक देखने को मिलती थी। किन्तु आज वहाँ क्या प्रत्यक्ष लोकशाही है? इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट तो लोकतन्त्र की जननी मानी जाती है। किन्तु वहाँ भी क्या प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है?

क्या गाँव की या नगर की जनता का स्वराज वहाँ प्रत्यक्ष दिखाई देता है ? लोगों के सहयोगवाला ऐसा प्रत्यक्ष लोकतन्त्र दुनिया में आज कहीं नहीं है। जो कुछ है, वह प्रातिनिधिक राज है। प्रतिनिधियों द्वारा ही सब कुछ चलता है। जनता स्वयं जिम्मेदारी लेकर अपनी समस्याओं का समाधान ढूढ़े, आज दुनिया में ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। और ऐसा करना एक बहुत ही कठिन काम है।

स्वतन्त्रता से भागने की वृत्ति

हम देखते हैं और अनुभव करते हैं कि ग्रामसभा बनती है, कार्य-समिति का गठन होता है, किन्तु उसे सक्रिय बनाना सरल नहीं। क्योंकि स्वयं जिम्मेदारी उठाकर काम करने की लोगों को आदत ही नहीं है। हम जाकर जनता को समझाते हैं कि अपना राज्य आप स्वयं चलायें, किन्तु जनता स्वयं राज चलाने को तैयार नहीं। वह तो कहती है कि आप हमारे लिए खाने-पीने की, पहनने-ओढ़ने की; शिक्षण आदि की व्यवस्था कर दें; बस, इतना ही हमारे लिए काफी है। एरिक फ्रोम नाम का एक बहुत बड़ा विचारक है। उसकी एक पुस्तक है, Fear of Freedom—स्वतन्त्रता का भय। उसमें उसने इस बात की वैज्ञानिक तरीके से चर्चा की है। वह कहता है कि मनुष्य स्वतन्त्र बनने में भी डरता है, स्वतन्त्रता से भयभीत होकर उससे दूर भागता है। क्योंकि स्वतन्त्र व्यक्ति की कुछ जिम्मेदारियाँ होती हैं। इन जिम्मेदारियों को मनुष्य निभाना नहीं चाहता। इसलिए वह अपनी स्वतन्त्रता का सौदा करता है। अपना दायित्व वह दूसरों के हवाले करके अपनी आजादी बेच देता है।

आज तो यही देखने में आ रहा है। राजनीतिक दलों और नेताओं की तरफ लोगों का ध्यान क्यों जाता है ? क्योंकि वे सब जनता के पास जाकर कहते हैं कि 'आप हमें वोट दें, हम आपका सारा काम कर देंगे। हम गरीबी दूर करेंगे, हम बेकारी समाप्त करेंगे।' ऐसे-ऐसे नारे इन लोगों के होते हैं। 'हम कर देंगे' यह सुनना लोगों को अच्छा लगता है। वह कहेंगे कि लीजिये, हमने आपको कुर्सी पर बैठा दिया, अब आप हमारा शासन चलायें। और इसी कारण फिर सर्वोदय-वालों की बात इन्हें पसन्द नहीं आती। क्योंकि हम जनता के पास जाकर क्या कहेंगे ? हम तो उनके पास जाकर कहेंगे कि हम आपके लिए कुछ करनेवाले नहीं हैं। भाई, आप स्वशासित बनें। अपना राज्य आप स्वयं चलाना सीखें। यह 'आप करें, आप करें, आप करें!' सुनना लोगों को बहुत कड़वा लगता है।

मैं मुसहरी में बैठा हूँ, तो लोग मेरे पास अपनी शिकायतें और मुसीबतें लेकर आते हैं। तब मैं उनसे कहता हूँ कि ग्रामसभा के पास जायँ। अब, उन्हें ऐसा

लगता होगा कि 'यह कैसा नेता है ! हम इसे नेता मानकर इसके पास आये, तो यह कह रहा है कि ग्रामसभा के पास जाओ !' इन बेचारों को अभी यह बात समझ में नहीं आती।

हमें एक दायित्वपूर्ण समाज खड़ा करना है

यह विचार लोगों के गले उतारने का काम वास्तव में बहुत कठिन है। घर में आप अपने लड़कों पर जिम्मेदारी डालकर देखें। मिल-कारखानों में काम करते मजदूरों से कहें। ब्रिटेन आदि में भी आज यही हाल है। मजदूरों से यदि कहो कि आप स्वयं संचालन में रुचि लें, तो वे कहेंगे कि हम तो ठहरे मजदूर, अपनी माँगों के लिए हड़ताल करनी हो तो करेंगे, बाकी व्यवस्था और संचालन तो ऊपरवालों को ही करना होगा।

परिस्थिति तो आज की यह है। और सर्वोदय का विचार यह है कि मिल, कारखाना, गाँव, सभी जगह एक परिवार बने, समुदाय बने, जिसमें सब अपनी-अपनी जिम्मेदारी निभायें। जैसे ग्रामस्वराज की बात है, उसी तरह कारखाना-स्वराज की भी है। हरएक जगह लोग स्वयं रुचिपूर्वक हिस्सा लेने लगें। आज की लोकशाही भी प्रत्यक्ष और लोगों की सक्रिय साझेदारीवाली बने। ये लक्ष्य हैं हमारे सामने। लेकिन आज भी लोगों का मानस जिम्मेदारी से भागने का है। इस मनोभावना को जड़मूल से बदलना है। जनता के मानस-परिवर्तन के बिना ग्रामस्वराज या प्रत्यक्ष लोकतन्त्र नहीं आ सकेगा। इसके लिए जन-मानस को प्रशिक्षित करना है, अनुकूल बनाना है। जनता के राज का एक नकशा हमारे मन में है, उसके अनुसार जनता को समझाकर एक नयी समाज-रचना खड़ी करने का यह काम है। यानी कि यह एक बिलकुल नया काम है। आज एक अनुत्तरदायी समाज है, उसकी जगह हम उत्तरदायी समाज खड़ा करना चाहते हैं; उत्तरदायी पिता, उत्तरदायी मजदूर, उत्तरदायी शिक्षक, उत्तरदायी नागरिक ! इस तरह जब तक सभी उत्तरदायी नहीं बनेंगे, तब तक शासन-मुक्ति सम्भव नहीं। शासन की जगह अनुशासन (स्वानुशासन) आये, तभी एक उत्तरदायी समाज बनेगा।

गांधीजी हमेशा कहा करते थे कि स्वराज के बाद इस देश में राम-राज्य की स्थापना होनी चाहिए। राम-राज्य यानी धर्म का राज्य, न्याय का राज्य, नीति का राज्य, मानवता का राज्य। किन्तु आज वह कहाँ है ? आज तो इन्दिराजी का राज है, नाईकजी का राज है, करुणानिधि का राज है। समझने की बात यह है कि यह राम-राज्य नहीं है, लोक-राज्य नहीं है और ग्राम-स्वराज्य नहीं है। इंदिराजी का या नाईकजी का नहीं, बल्कि लोगों का राज्य, गाँव का राज्य

कैसे हो, इसीके लिए यह ग्रामदान का आन्दोलन चल रहा है। दलमुक्त तथा लोग जिसमें सीधे हिस्सा लें ऐसी प्राणवान् प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की रचना हमें करनी है। गाँव-गाँव में गांधीजी की कल्पना ग्रामस्वराज्य (विलेज रिपब्लिक्स) स्थापित करना है। यह आन्दोलन अगर सफल हुआ, तो आज की राजनीति की शक्ल बदल जायगी और आज के राजनीतिक ढाँचे में तथा सामाजिक व्यवहारों में बुनियादी परिवर्तन आयेगा।

सारी दुनिया ऐसा कुछ चाहती है

और आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में ऐसा कोई क्रान्तिकारी कदम उठाया जाय, सारी दुनिया ऐसा चाहती है। आज की डेलीगेटेड डेमोक्रेसी—प्रातिनिधिक लोकतन्त्र—से अब किसीको सन्तोष नहीं है। दुनियाभर के प्रगतिशील विचारक आज 'डिरेक्ट एण्ड पार्टिसिपेटरी डेमोक्रेसी'—प्रत्यक्ष और सहभागी लोकशाही का समर्थन करते हैं। उनकी बातों में आपको हमारी ग्रामस्वराज, लोकनीति आदि बातों की प्रतिध्वनि सुनायी देगी। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि ग्रामदान-आन्दोलन जिन मूलभूत विचारों को आधार बनाकर चल रहा है, वह कोई पुरानी लकीर पीटने का काम नहीं है, बल्कि दुनिया की जो सबसे आगे बहनेवाली धारा है, उसके साथ-साथ यह धारा बह रही है। मुझे विश्वास है कि सारी दुनिया को आखिर इसी रास्ते पर आना होगा। इसके सिवा अब ऐसा कोई दूसरा मार्ग नहीं है, जो संसार में समता, बन्धुता और स्वतन्त्रता की स्थापना कर सके। यदि मुट्ठीभर लोगों के पास सारी सत्ता केन्द्रित रही और बाकी लोग उनके मोहताज रहे, तो निश्चय ही दुनिया में एक ऐसा भयानक संघर्ष होगा, जो मानवता को विनाश के कगार पर पहुँचा देगा। इसलिए हमें हर हालत में सत्ता और सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण करके मानवमात्र के विकास की ओर कदम बढ़ाना होगा।

यही जनता की असली राजनीति है

लोकनीति की कल्पना में यह सब आता है। यही असली राजनीति है, बुनियादी राजनीति है, जनता की राजनीति है। इसीलिए मैंने कहा कि हम राजनीति से भाग नहीं गये हैं, बल्कि उलटे हमने उसकी अधिक गहराई में प्रवेश किया है। देश की मुख्य धारा भी यही है। मुख्य धारा लोकसभा में नहीं, जनता के बीच है। और सर्वोदय-आन्दोलन पूरी तरह जनता के बीच से चल रहा है।

इस आन्दोलन में हमने अपने लिए कुछ मर्यादाएँ स्वेच्छा से विचारपूर्वक स्वीकार कर ली हैं। चुनाव में सीधे हिस्सा लेना, उम्मीदवार के रूप में खड़े रहना, किसीका प्रचार करना, इन सबका लोकनीति के विचार के साथ मेल नहीं बैठता,

बल्कि लोकनीति के विचार के यह बिलकुल विरुद्ध है । इसलिए समझ-बूझकर सर्वोदय-ग्रान्दोलन इन सबसे ग्रलग रहा है । उसकी ग्रपनी स्पष्ट नीति रही है कि वह 'पावर पॉलिटिक्स' में नहीं पड़ेगा । इसमें पलायनवाद का या संकुचितता का या दकियानूसीपन का कोई सवाल नहीं । इसमें कुछ मर्यादाएँ ग्रा जाती हैं, तो वे स्वेच्छा से विचारपूर्वक स्वीकारी हुई मर्यादाएँ हैं ।

वास्तव में, सर्वोदय-ग्रान्दोलन का साध्य क्या है, वह क्या करना चाहता है, उसका भावार्थ एक बार ग्रच्छी तरह समझ में ग्रा जाय, तो इसमें किसीको कुछ ग्रनुचित नहीं लगेगा । किन्तु लोगों के दिमाग से राजनीति का बोझ उतरा नहीं है । राजनीति ने लोगों के दिमाग को जकड़ रखा है । इसलिए इतनी स्पष्टता के बावजूद भी सर्वोदय-ग्रान्दोलन के सम्बन्ध में उनके मन में गलतफहमी रहा करती है । लेकिन लोगों को जरा गहराई से सोचना चाहिए, लोकनीति के विचार का गहरा भावार्थ समझना चाहिए । ऐसा होगा तो सर्वोदय-ग्रान्दोलन ग्राज ग्रामस्वराज की स्थापना के लिए जो कोशिश कर रहा है, उसका वास्तविक मूल्य उन्हें समझ में ग्रायेगा और दलीय तथा सत्ता की राजनीति के बदले जनता की ग्रसली राजनीति खड़ी करने की दिशा में यह ग्रान्दोलन कितना महत्त्वपूर्ण काम कर रहा है, इसका खयाल भी ग्रा जायगा ।

लोकशाही की मर्यादाएँ १०

लोकशाही का जो मूलभूत तत्त्व है, वह अभी लोगों की समझ में अच्छी तरह नहीं आया है। लोकशाही में मुख्य बात यह है कि दण्डशक्ति कम-से-कम होती जानी चाहिए और लोकशक्ति का विकास होते रहना चाहिए। सरकार और सरकार के काम गौण हों तथा जनता और जनता का काम मुख्य हो। क्योंकि लोकशाही में जनता स्वयं ही अपनों में से अपनी पसन्द की सरकार बनाती है और कर आदि देकर उसे टिकाये रखती है।

किन्तु देखने में आता है कि आज अधिकतर लोगों की राज्यशक्ति पर अटूट श्रद्धा है। लोग राज्य की आलोचना करते हैं, परिस्थिति के विषय में भारी असन्तोष भी व्यक्त करते हैं, फिर भी इन सारी समस्याओं का यदि कोई हल है या कोई हल किया जा सकता है, तो वह राज्य के द्वारा ही हो सकता है, ऐसी एक रूढ़ मान्यता भी इन लोगों के मन में बस गयी है। बहुत बड़े-बड़े लोग भी यही मानते हैं कि देश की समस्याओं के लिए सरकार ही एकमात्र प्रभावकारी साधन है।

सबसे पहले तो जनता को स्वयं जागृत होना है। जब तक स्वयं जनता का नेतृत्व पैदा नहीं होता, तब तक कोई भी लोकतन्त्र सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। सारी दुनिया में एक भी देश का उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा, जिसका उत्थान केवल राज्य की शक्ति द्वारा ही हुआ हो। कोई भी राज्य बिना लोगों की शक्ति के देश का उत्थान नहीं कर सकता। तानाशाही में भी लोगों को काम में लगाना ही पड़ता है। मात्र राज्य की शक्ति से सब कुछ नहीं होता। वहाँ लोकशक्ति को निर्माण में लगाने के लिए बल का, धमकी का, शासन की आज्ञा का सहारा लिया जाता है। लोकशाही में यह काम नहीं आता। वहाँ लोगों को समझाकर ही लोकशक्ति जागृत करनी पड़ती है। उन्हें यह समझाना पड़ता है कि अपना भला आप स्वयं ही कर सकेंगे, कोई अधिकारी, मुख्यमन्त्री अथवा प्रधानमन्त्री आपका भला नहीं कर सकेंगे। ऐसा कोई मसीहा नहीं है, जो सारी समस्याओं का हल ढूंढ़ दे। जनता को अपनी समस्याओं का हल स्वयं अपने हाथों से निकालना

होगा। सरकार उसकी मदद कर सकती है, किन्तु मुख्य अभिक्रम जनता को ही करना होगा, तभी काम होगा।

लोकतंत्र के महत्त्व को समझा नहीं गया है

लेकिन इस लोकतन्त्र के मूलभूत तत्त्व को समझा नहीं गया है और इसीलिए लोग समझते हैं कि सब कुछ सरकार कर देगी, हमारी कोई जिम्मेदारी ही नहीं है। लोगों में जिम्मेदारीपूर्वक अपने अभिक्रम से जिम्मेदारी निभाने की आज तैयारी नहीं है। फलस्वरूप देश की विशाल मानव-शक्ति अभी खर्राटे लेती पड़ी है और देश की उपयोगी पूंजी बनने के बदले आज बोझरूप बन बैठी है। जब कि ५५ करोड़ मनुष्यों की शक्ति, ५५ करोड़ मस्तिष्क और ११० करोड़ भुजाओं की शक्ति असीम होती है। लेकिन उसे नींद से झकझोरकर जागृत करना है। कुछ वर्ष पूर्व गया जिले के पकरीबरामा गाँव के एक व्यक्ति ने एक आवेदन-पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने मुझसे गाँव की नाली-सफाई की व्यवस्था करने की माँग की। उन्होंने मान लिया कि गाँव की नाली गाँववाले गंदी करें और उसकी सफाई सरकार या अन्य एजेन्सी करे। ऐसा लोक-मानस रहेगा तो वह लोकतन्त्र क्या और कैसा होगा?

एक बार मैं पटना से आश्रम जा रहा था। मेरे साथ जापान से आये एक मित्र थे। हम कुछ मील गये होंगे कि उन्होंने कहा: "आप तो कहते थे कि भारत बहुत गरीब देश है।" मैंने कहा: "हाँ, वह तो है ही। आपने स्वयं नहीं देखा?"

उन्होंने जवाब दिया: "नहीं, मैं यह नहीं मानता। जिस बगीचे के निकट से हम गुजरे, वहाँ मैंने देखा कि दिन के समय भी लोग आराम से बैठे हैं। फिर तो ये लोग बहुत अमीर होंगे, सम्पन्न होंगे, मौज करते होंगे।"

मुझे बहुत शर्म लगी। फिर भी मैंने कहा: "यह लोग इसलिए बैठे हैं कि इनके पास कुछ काम नहीं है, वे बेकार हैं।"

वह जापानी मित्र तुरन्त ही बोले: "काम नहीं है? हम पानी पीने गये तब आसपास कितनी गन्दगी थी? क्या उसकी सफाई करने का काम नहीं है?"

मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं था। मैं अवाक् रह गया। हम लोग विचार करें तो हमें अपने इर्द-गिर्द काफी काम दीखेगा। लेकिन आज तो निरी अकर्मण्यता दीखती है।

किन्तु इसमें राजकीय पक्षों का, सरकार का और सरकार की नीति का भी बहुत दोष है। इस कारण भी जनता निष्क्रिय बनती है, अभिक्रमशून्य बनती है। सरकार ने बहुत सारे कार्य किये हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक

प्रयोगशालाएँ खोली हैं, विशाल बाँध बनवाये हैं, फौलाद के कारखाने खोले हैं आदि-आदि बहुत सारे काम सरकार के द्वारा हुए हैं। किन्तु अभी करोड़ों लोगों को कार्य में प्रेरित नहीं किया जा सका है। लोकशाही में प्रजा का सहयोग, जनता का सक्रिय भाग लेना आदि आवश्यक माना जाता है। प्रजा की प्रचण्ड शक्ति यदि एक बार संगठित होकर कमर कस ले तो दुनिया की कोई भी सरकार उनके आगे बौनी लगेगी।

लोकशक्ति की उपेक्षा

वास्तव में होना तो यह चाहिए कि लोग अपनी सूझ-बूझ के साथ अपनी आन्तरिक शक्ति के बल पर खड़े हों और अपने पास जो कुछ साधन-सामग्री हो उसे लेकर कुछ करना शुरू कर दें। और फिर सरकार उसमें आवश्यक मदद करे। उदाहरण के लिए गाँववाले बड़ी-बड़ी पंचवर्षीय योजनाएँ नहीं समझ सकेंगे, किन्तु वह लोग यह बात जरूर समझ सकेंगे कि अपने गाँव में कहाँ कुआँ चाहिए, कहाँ सिंचाई की जरूरत है, कहाँ पुल की आवश्यकता है। वास्तव में बाहर के लोग इन सब बातों से अनभिज्ञ होते हैं। और फिर भी हमने सरकारी ढाँचा इस तरह खड़ा किया है कि गाँव की योजना बाहर के अनभिज्ञ आदमी भी दिल्ली में बैठे-बैठे बना लें। सही बात यह है कि गाँव के लोगों के लिए तो ग्रामस्वराज्य की योजना ही एकदम सीधी-सादी है। आवश्यकता तो इस बात की है कि उनमें एक खास दृष्टि पैदा हो। यदि उन्हें यह दृष्टि मिल जाय, तो हमारे राजनीतिज्ञ और अधिकारी की तुलना में वे लोग स्वयं ग्रामस्वराज्य की और गाँवों के विकास की योजना बहुत ही अच्छी तरह बना सकते हैं और अपने काम स्वयं ही सँभाल सकते हैं। किन्तु इसके लिए 'सब सरकार और बाहरवाले किया करेंगे' यह जो गाँठ बँध गयी है, उसे खोलने की जरूरत है।

सरकार द्वारा आज लोगों के अनुभवों का पूरा उपयोग नहीं किया जाता। उदाहरण के तौर पर रासायनिक खाद, जन्तुनाशक दवाओं आदि के पीछे सरकारी तन्त्र काफी शक्ति खर्च करता है। किन्तु गाँव के लोग इन विषयों में काफी उपयोगी जानकारी और अनुभव रखते हैं। सरकार की तरफ से उस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। आप जानते होंगे कि पश्चिम के देशों में अब आज biological fight against pest—अमुक प्रकार के कीटाणुओं के नाश के लिए दूसरे प्रकार के कीटाणु रखने शुरू किये गये हैं। हमारे यहाँ गाँव के लोगों को आधुनिक कीटाणुनाशक दवाओं का ज्ञान भले न हो, किन्तु कीटाणुओं के मारने का काफी ज्ञान होता है। मैंने देखा है कि हमारे कुछ किसान मिर्च के खेत में रेंड़ी के पौधे लगा देते हैं। उससे कीड़े रेंड़ी में लग जाते हैं और मिर्च बच जाती है।

सरकार की दृष्टि ऐसी नहीं है, जिससे जनता की अपनी सूझ-समझ को प्रोत्साहन मिले। ब्रिटिश शासन में जनता और सरकार एक-दूसरे से अलग पड़ गये थे, उस समय की खाई आज तक भरी नहीं है। सरकार वर्षों से खाद्य में आत्मनिर्भरता के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना रही है, तरह-तरह के वादे भी आये दिन सुनने को मिलते हैं, कठिन परिश्रम करके उत्पादन बढ़ाने के लिए आये दिन भाषण सुनने को और पढ़ने को मिलते हैं, पर कहीं कुछ भी नहीं होता। सरकारी लोगों ने तो अपना काम केवल भाषण देना और फाइलों का जंगल फैलाना ही मान रखा है।

वास्तविकता से दूर का हवाई आयोजन

जब हम गाँवों में जाकर प्रत्यक्ष देखेंगे तो पहली प्रतिक्रिया यह होगी कि दिल्ली और पटना में की जा रही बड़ी-बड़ी घोषणाएँ जमीन पर की वास्तविक स्थिति से कितनी दूर और अयथार्थ हैं। बुलन्द अल्फाज, शानदार योजनाएँ, अनेकानेक सुधार! लेकिन किसी-न-किसी कारण वे सभी या उनमें से अधिकांश आसमान में त्रिशंकु की भाँति लटके रह गये हैं। वे जमीन को मुश्किल से स्पर्श करते हैं। गाँवों में तो बस ये ही वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं—घोर दारिद्र्य, दुःख, विषमता, शोषण, पिछड़ापन, गतिहीनता, पस्ती और निराशा।

स्वराज्य के बाद के इतने वर्षों के अन्दर सरकारी योजनाओं और कानून द्वारा कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं लाया जा सका है। समाजवादी समाज-रचना के वादे तो बहुत हुए हैं और योजनाओं के पीछे अरबों रुपये भी खर्च हुए हैं, फिर भी ऐसी स्थिति है कि देश में लाखों घरों में अभी दिन में दो बार चूल्हा नहीं सुलगता और बच्चे रो-रोकर भूखे सो जाते हैं। औद्योगिक विकास जरूर हुआ है, देश की सम्पत्ति में वृद्धि भी हुई है, किन्तु उसका लाभ किसे मिला है? महालनवीस कमेटी की रिपोर्ट तथा अन्य अध्ययनों का यह निष्कर्ष है कि गरीब अधिक गरीब बने हैं और धनिक अधिक धनी। बेकारों की संख्या बढ़ी है। अभी सबको आवश्यक अन्न नहीं मिलता। रहने के लिए मकान नहीं। हजारों गाँवों में अभी पीने के पानी की भी व्यवस्था नहीं है। देश में कुछ भी नहीं हुआ है, ऐसा मैं नहीं कहता। किन्तु जो कुछ हुआ है उसका आर्थिक लाभ धनवानों को, उच्च मध्यम-वर्ग को, बड़े किसानों को मिला। छोटे दूकानदार, मध्यम-वर्ग, गरीब, भूमिहीन, आदिवासी आदि तो वैसे के वैसे ही रहे, अथवा उनकी स्थिति और अधिक बिगड़ गयी। गाँवों में खेती के नये तरीके, नये बीज, साधन और अधिक उत्पादन, यह सब आया है, किन्तु इससे गाँव का नकशा नहीं बदला। क्योंकि अधिकतर गरीबों के पास तो

जमीन ही नहीं है और जिनके पास है भी तो वह बहुत कम है । फलस्वरूप गरीब और पैसेवाले के बीच की खाई अंग्रेजों के समय की अपेक्षा आज अधिक बढ़ी है ।

ऐसा क्यों है ? देश में लोकशाही है । लोगों के मत से चुनी गयी सरकार है । सभी को मत देने का अधिकार मिला है । उनमें अधिक-से-अधिक १५ प्रतिशत मतदाता धनवान् और सुखी होंगे । शेष ८५ प्रतिशत तो निम्न श्रेणी के और गरीब ही हैं । फिर भी इन सबके मत से ही चार-चार, पाँच-पाँच बार चुनी गयी सरकार ने भी गरीबों की तरफ सबसे पहले ध्यान क्यों नहीं दिया ? हिसाब लगाने पर गरीबों की गरीबी ही बढ़ी । ऐसा चमत्कार कैसे हुआ ?

क्योंकि विकास का ऐसा नियम है कि समाज की रचना बदले बिना नये विकास की योजना लागू करें तो पहले जिनका विकास हुआ हो, उसी वर्ग का आगे भी विकास होता जायगा । किसी तालाब में से नहर में पानी छोड़ें तो क्या होगा ? उस नहर की जो शाखा बड़ी होगी उसमें अधिक पानी जायगा और छोटी शाखा में थोड़ा पानी जायगा । और जहाँ नहर अभी पहुँची ही नहीं होगी, वह भाग तो सूखा ही रहेगा । आज ऐसा ही हो रहा है । हरित क्रान्ति में बड़े किसान तीन-तीन फसल उगा सकते हैं, जब कि मध्यम और छोटे किसानों को मामूली लाभ मिला है । और भूमिहीन मजदूर तो अछूते ही रहे हैं । सरकार और सहकारी मण्डलों से मिलनेवाले लाभ बड़े किसानों ने ले रखे हैं । इस तरह हरित क्रान्ति के कारण गाँवों में विषमता बढ़ी है । हमारे नेताओं ने विकास का जो मार्ग पकड़ा, उसने हमें इस मंजिल पर पहुँचाया है ।

'थियरी ऑफ परकोलेशन' नहीं, अन्त्योदय चाहिए

इन सबका विचार करके ही गांधीजी ने कहा था कि हमारे देश के आर्थिक विकास की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए, जो सबसे पिछड़े लोगों की तरफ सबसे पहले ध्यान दे । उन्होंने हमें सिखाया है कि सर्वोदय के रास्ते चलने के लिए सबसे पहले किनारे पड़ गये या पिछड़े रह गये लोगों से शुरुआत करनी जरूरी है । सर्वोदय का यह एक बुनियादी विचार है । किन्तु गांधीजी की इस अन्त्योदय की बात की तरफ आज कोई ध्यान नहीं दिया जाता । अमेरिका आज दुनिया का सबसे अधिक धनवान् देश है । इसके बावजूद वहाँ भी १५ प्रतिशत लोग वहाँ के हिसाब से गरीबी में सड़ते हैं । ऐसा कब तक चलेगा ?

बात यह है कि आज के विकास की प्रचलित विचारधारा इस प्रश्न की एकदम उपेक्षा करती है । वे यह अनुमान करके चलते हैं कि विकास का लाभ धीरे-धीरे छूटे हुए और सबसे पिछड़े हुए लोगों को मिलेगा । इसको 'थियरी ऑफ

परकोलेशन' कहा जाता है। यानी कि विकास का लाभ ऊपर से धीरे-धीरे उतरकर नीचे तक पहुँचेगा। आज इस देश में जो आयोजन हो रहा है और सर्वोदय जिस तरह का आयोजन करना चाहता है, उन दोनों की दिशा में बीच का मूलभूत भेद ही यही है।

सच देखा जाय तो विकास की योजनाओं का मुख्य और सर्वप्रथम लक्ष्य यह होना चाहिए कि हरएक व्यक्ति को जीवन की प्राथमिक जरूरतों की चीजें मिल सकें। किन्तु आज हमारे देश में इतना भी कब सध सकेगा, यह कोई नहीं कह सकता। योजना-आयोग द्वारा दस-पन्द्रह वर्षों में इतना होगा ही, इसका आश्वासन वह नहीं दे पाता। अब, कोई रास्ता तो निकलना चाहिए। एक तरफ हम नक्सल-वादियों को गाली देते हैं, दूसरी तरफ हरएक व्यक्ति को भोजन देने की व्यवस्था न कर सकें, तो ऐसा कब तक चल सकेगा ?

कानून मात्र कागजों में

यह हुई आयोजन की बात। और यही बात कानून के पालन के बारे में भी है। राज्यों में हदबन्दी के कानून बने, तो सम्पत्ति अधिकतर बोगस और बेनामी ट्रांसफर कर दी गयी। जमीन का हस्तान्तरण कर दिया गया, भिन्न-भिन्न रूप में वह बाँट दी गयी। उसी तरह घरों तथा हिस्सों के बँटवारे, न्यूनतम मजदूरी, साहूकारी आदि के जो कानून बने हैं, उनका भी पालन कहाँ हुआ है ? अधिकतर यह सब कागजों में ही रहा है। यदि लोगों के मन परिवर्तित न हों, ग्रामसमाज लोकशाही के रूप में न चले, भूमिवानों तथा संपत्तिवानों की ही तरफ सत्ता का पलड़ा झुकता रहे, उसमें अन्तर न आये, तो यह कानून जिनके लाभार्थ बने हैं, उन्हें उनका कोई लाभ नहीं मिलेगा।

कुछ समय से मुसहरी-प्रखण्ड को मैंने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया है। वहाँ मैं गाँवों में घर-घर और झोंपड़ी-झोंपड़ी घूमकर लोगों से मिला। आज के गाँवों का जीवन बिलकुल करीब से देखने का मुझे अवसर मिला। वहाँ मैंने देखा कि यद्यपि बिहार में बटाईदारी और बासगीत के कानून १९४८ में ही लागू हुए, फिर भी इतने वर्षों में मुसहरी में कुछ भूमिहीनों को ही बासगीत की जमीन का अधिकार-पत्र मिला है। लेकिन उसमें जमीन इतनी कम है कि कुछ पूछिये मत ! प्राप्त जमीन से हकदार को हटाने के उदाहरण भी मेरे सामने आये हैं। हटानेवाले जमींदारों के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करने का कुछ स्पष्ट प्रावधान कानून में नहीं है। वर्तमान कानून के द्वारा पानी की तरह पैसा बहाकर इन्साफ पाना इन मुफलिस हकदारों के लिए सम्भव नहीं है।

न्याय का नाटक

इसी तरह न्यूनतम मजदूरी के कानून के सम्बन्ध में छानबीन करने पर मुझे देखने को मिला कि यह कानून और उसका पालन करानेवाले अफसरों की स्थिति एकदम लाचारी की है। मजदूरों को उससे आधी दर पर ही मजदूरी करनी पड़ती है। कम दर से मजदूरी चुकायी जाती हो तो स्वयं अफसर भी कोई कार्यवाही नहीं कर सकता। यदि मजदूर शिकायत करे तभी वह कुछ आगे कर सकता है। लेकिन जहाँ मजदूर मुँहमाँगे मिलते हों वहाँ कम मजदूरी मिलने की शिकायत करने का साहस किसे होगा? फिर भी अगर किसीने इसकी शिकायत की, तो पहले अफसर उसकी जाँच करेगा, फिर केस दाखिल होगा और शिकायत करनेवाले मजदूर को लेबर कोर्ट में उपस्थित होकर बयान देना होगा। कोर्ट अपनी सहूलियत और सुविधा से केस चलायेगा और शिकायत का फैसला होने में कितने वर्ष निकल जायेंगे! फटेहाल किसान-मजदूरों को मीलों दूर शहरी अदालतों के ऐसे धक्के नहीं पोसाते। वे लड़ नहीं सकते, इसलिए लाचार होकर मालिक के अधीन रहते हैं अथवा भूख से व्याकुल होकर गाँव छोड़ देते हैं।

ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि न्याय और व्यवस्था के संरक्षक गरीबों का पक्ष लेते हों। वह आसानी से सत्तावान् और धनवान् लोगों के प्रलोभन के शिकार बन जाते हैं। ये गरीब जब कुछ तोड़फोड़ या तबाही कर बैठते हैं, तब हम सब ऊँचे और शिक्षित लोगों के मन में नैतिकता, कानून और व्यवस्था तथा लोकशाही पद्धति-सम्बन्धी प्रश्न उठते हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि ताकत के बल से यह छल-कपट से जब इन गरीबों पर अन्याय हो रहा था, तब ऐसा कोई प्रश्न नहीं उठा था और न तो लोकशाही के खतरे में होने की आवाज उठी थी। उस समय उन लोगों की मदद के लिए न तो कानून आया था और न तो सामाजिक व्यवस्था ने उनकी कुछ मदद की थी।

आज नक्सलवादी हिंसा के सम्बन्ध में देश में चिन्ता फैली है। अंशतः यह हिंसा राजनीतिक विचारधारा से प्रेरित कृत्रिम प्रयासों का परिणाम है, लेकिन यदि गरीबी, बेकारी और बहुत सारे सामाजिक-आर्थिक अन्याय कायम न होते और इससे हिंसा के पनपने के लिए जमीन न तैयार की गयी होती, तो यह हिंसा जड़ कदापि न पकड़ती। मौजूदा सुधार-कानूनों पर अमल नहीं हुआ, इसलिए भी आज गाँवों में हिंसा फूटी और फैली है। पहले कानून की आँख में धूल डालना और फिर लाठी और पुलिस के जोर से सुरक्षा हासिल करना, यह सब कब तक चलेगा?

हिंसा के वास्तविक जनक कौन ?

मैं मानता हूँ कि इस हिंसा के जनक तथाकथित नक्सलवादी नहीं हैं, बल्कि वे हैं, जिन्होंने लगातार इतने वर्षों तक उक्त कानूनों की अवज्ञा की है और उनके उद्देश्यों को पराजित किया है—चाहे वे राजनेता हों, प्रशासक हों, भूमिपति हों या महाजन हों । वे बड़े किसान, जिन्होंने हदबन्दी-कानून को बेनामी तथा फर्जी बन्दोबस्तियों के जरिये धोखा दिया है; वे भद्र लोग, जिन्होंने सरकारी जमीन और गाँव की सामूहिक भूमि हड़प रखी है; वे भूमिपति, जिन्होंने अपने बटाईदारों को कानूनी हक देने से हमेशा इनकार किया है और उन्हें उनकी जमीन से बेदखल किया है तथा जो अपने मजदूरों को कम मजदूरी देते रहे हैं और उन्हें बासगीत भूमि से भी वंचित कर रखा है; वे व्यक्ति, जिन्होंने धोखाधड़ी या जबरदस्ती से कमजोर-वर्ग के लोगों की जमीन छीन ली है; वे तथाकथित ऊँची जाति के लोग, जो हरिजन भाइयों को हमेशा घृणा की नजर से देखते रहे हैं, उनके साथ बुरा व्यवहार करते रहे हैं तथा उनके प्रति सामाजिक भेदभाव बरतते रहे हैं; वे महाजन, जिन्होंने अत्यधिक ब्याज वसूल करते हुए गरीबों तथा कमजोरों की जमीन अधिकृत कर ली है; वे राजनेता, प्रशासक और सभी अन्य लोग, जिन्होंने इन अन्यायपूर्ण कार्यों में मदद पहुँचायी है या उन्हें प्रोत्साहित किया है—ये सभी लोग इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं कि आज गरीबों और दलितों के मन में अन्याय, दुःख और उत्पीड़न-जन्य भावना इकट्ठी हो गयी है, जो अब हिंसा के रूप में बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ रही है । इस स्थिति के लिए ये कानून की अदालतें और न्याय पाने की पद्धतियाँ तथा उसके लिए चुकाये जानेवाले मूल्य भी जिम्मेदार हैं, जिन्होंने हमारे समाज के दुर्बल वर्गों के साथ षड्यन्त्रपूर्वक न्याय नहीं होने दिया है । फिर यह शिक्षा की व्यवस्था और नियोजन का ढंग भी जिम्मेवार है, जो अपने गलत तरीके से शिक्षित, निराश और बेकार युवकों की बढ़ती हुई सेना तैयार कर रहे हैं और आर्थिक विषमताओं को भी बढ़ा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप विभिन्न वर्गों का और भी अधिक ध्रुवीकरण हो रहा है । और फिर ये राजनेता भी जिम्मेवार हैं, जिनकी स्वार्थ-साधन की भावना ने लोकतन्त्र को, दलीय व्यवस्था को और उसकी विचार-धाराओं को मजाक की वस्तु बना दिया है । आश्चर्य तो यह होता है कि समाज में हिंसा के लिए ऐसे अनेक कारण मौजूद होने के बावजूद आज की अपेक्षा और अधिक हिंसा क्यों नहीं होती ?

यानी हमें यदि नक्सलवादी हिंसा रोकनी हो तो इस परिस्थिति में परिवर्तन लाकर ही उसे रोका जा सकेगा । समाज में जो अप्रत्यक्ष और छिपी हिंसा है, उस सम्बन्ध में सोचना ही पड़ेगा । लखपति करोड़पति बने और मेहनत करनेवाला

भूखा सोये और फिर भी समाज में शान्ति रहे, ऐसा नपुंसक समाज गांधीजी नहीं चाहते थे। समाज में आज घोर शोषण है, अन्याय है, विषमता की सीमा नहीं है, यह सब स्पष्ट हिंसा ही है। अहिंसक व्यक्ति यह हिंसा कभी सहन नहीं कर सकेगा। समाज का यह स्वरूप जड़मूल से बदलना पड़ेगा।

यदि सही अर्थ में जनता का राज लाना हो, तो सामाजिक परिवर्तन करना ही पड़ेगा। जनता को आर्थिक, नैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता दिलानी होगी। देश के थोड़े लोगों के पास ढेर सारी सम्पत्ति हो और बाकी के लोगों में इतनी गरीबी हो, तो जनता का राज नहीं हो सकता। जब गरीबी, बेकारी, शोषण का खात्मा होगा और जनता स्वयं अपने कामों में सीधा हिस्सा लेने लगेगी, तब यह लोकशाही सही अर्थ में जनता का राज है, ऐसा कहा जा सकेगा। ●

११ हिंसक पद्धति की निरर्थकता

हिंसक क्रान्ति की हिमायत बार-बार की जाती है और बहुतों को इसका भारी आकर्षण भी होता है। जब लोकतन्त्र की संस्थाएँ और प्रक्रियाएँ दयनीय रूप से त्रुटिपूर्ण हों और उस रास्ते से समाज में तीव्र गति से परिवर्तन होता हुआ न दीखता हो तो क्या आश्चर्य कि असन्तोष, निराशा, क्षोभ और अभाव कुछ लोगों के दिमाग को हिंसा की तरफ मोड़ दे और वे उसको ही एकमात्र तारक शक्ति मान बैठें ? यह सब तो हम समझ सकते हैं। फिर भी यह सवाल प्रासंगिक है कि क्या हिंसा तारक सिद्ध होगी ? शान्तिपूर्वक सोचेंगे तो पता चलेगा कि इसके पूर्व भी इतिहास में अनेक हिंसक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं और उनके परिणामों ने दुनिया के समझदार लोगों के मन में हिंसक मार्ग के प्रति विकर्षण की ही भावनाएँ पैदा की हैं।

हिंसक क्रांति की तीव्रता : एक भारी भ्रम

मैं अपनी बात कहूँ तो हिंसक क्रान्ति के लिए मुझे कोई नैतिक आपत्ति नहीं। मुझे यदि कोई आपत्ति है तो वह व्यावहारिक है। पहली बात तो यह कि हिंसक क्रान्ति के परिणाम जल्दी आते हैं, यह एक बड़ा भारी भ्रम है। कोई यह कहे कि रक्त-क्रान्ति अहिंसक क्रान्ति से ज्यादा जल्द होती है, तो दुनिया की क्रान्तियों का इतिहास देखने से ऐसा लगता नहीं। बल्कि अनुभव तो यह है कि रक्त-क्रान्ति से जो नया समाज बनता है, वह उस समाज से बहुत भिन्न बनता है, जिसकी कल्पना क्रान्तिकारियों ने पहले की होती है। जिन उद्देश्यों को लेकर रक्त-क्रान्ति होती है, वे उद्देश्य तो पूरे होते नहीं, बल्कि उसके विपरीत परिणाम ही आते हैं। समाज की रचना क्रान्ति के पहले जैसा क्रान्तिकारी सोचते थे, करना चाहते थे, क्रान्ति के बाद वैसी रचना नहीं हो पाती।

दुनिया की कोई भी हिंसक क्रान्ति थोड़े वर्षों में नहीं हुई है और आज तक अपने मूल उद्देश्य तक नहीं पहुँच सकी है। क्रान्तिकारी जमात के हाथ में सत्ता आ जाय, यह कोई क्रान्ति की सफलता नहीं। इससे क्रान्ति का उद्देश्य पूरा नहीं

होता । इस 'सफलता' का क्या अर्थ होता है ? उसका अर्थ इतना ही होता है कि पुरानी समाज-व्यवस्था को ध्वस्त किया जा चुका, लेकिन ध्वंस ही किसी क्रान्ति का लक्ष्य नहीं हो सकता । उसका लक्ष्य तो हमेशा एक नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना होता है । लेकिन हिंसक क्रान्ति के सफल होने के बाद क्रान्तिकारियों को यह नयी व्यवस्था लाने में कितने वर्ष लगते हैं ? उक्त सफलता के बाद उनका पहला काम हमेशा यह देखा गया है कि वे सत्ता के लिए आपसी खूनी संघर्ष में पिल पड़ते हैं । अपने सपनों का समाज—यदि वे सपने आपसी रक्तपात में बह न गये हों—बनाने में कितना समय लगता है ?

इससे क्रान्ति का मूल उद्देश्य सिद्ध नहीं होता

इतिहास में क्या ऐसी एक भी हिंसक क्रान्ति हुई है, जो अपने अभीष्ट आदर्शों को प्राप्त करने में सफल हुई हो ? जरा फ्रांस की क्रान्ति पर तथा उसके समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुता के आदर्शों पर विचार करें । फ्रांस की क्रान्ति को हुए लगभग दो सौ वर्ष बीत चुके, लेकिन समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुता के उसके मूल उद्देश्य सिद्ध हुए ? रूस की क्रान्ति को लगभग ५५ वर्ष हुए । लेकिन क्या वहाँ मजदूरों के हाथ में सत्ता आयी है ? लेनिन का प्रथम सूत्र था : 'सर्वसत्ता सोवियतों (पंचायतों) में ।' श्रमिकों, सैनिकों, किसानों की सोवियतों को सत्ता मिली है ? अभी तो सम्पूर्ण सत्ता साम्यवादी पार्टी के नेताओं के हाथों में है । मास्को, लेनिनग्राद में तरुण यहाँ की तरह मुक्तभाव से बोलचाल नहीं सकते । इसीलिए उनको गुप्तरूप से बुलेटिन निकालनी पड़ती है। क्रान्ति को 'सफल' हुए ५५ वर्ष बीत गये, फिर भी यह स्थिति है ! अब भी रूसी जनता के सर पर पार्टी की तानाशाही मजबूती से कायम है । पता नहीं यह तानाशाही और कब तक कायम रहेगी और सोवियतों के हाथ में सत्ता कब आयेगी !

इसलिए इसे समझने की जरूरत है कि हिंसक क्रान्ति में कोई कम समय नहीं लगता और तिस पर भी आखिरकार उससे मूल उद्देश्य पूरा नहीं होता । जब कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी दल की स्थापना हुई, उसके बाद उसके कार्य की रूपरेखा लेकर मैं गांधीजी के पास गया । वे उसे पढ़ गये । और फिर उसके एक मुद्दे पर अपनी उँगली रखकर कहा कि 'जयप्रकाश, तुम लोग यदि यह कर लो, तो मैं सोलहो आने तुम लोगों के साथ हूँ ।' वह वाक्य था—To each according to his needs and from each according to his capacity—हर व्यक्ति को आवश्यकताभर मिलेगा और हर व्यक्ति शक्तिभर समाज को देगा । रूस और चीन में जो हिंसक क्रान्तियाँ हुई, उनका भी लक्ष्य यही था । लेकिन इतने

वर्षों बाद अभी भी क्या रूस या चीन में ऐसा हो सका है ? इसके बदले वहाँ तो अभी भी 'काम बराबर दाम' का पूँजीवादी सिद्धान्त ही कायम है। आज भी उन लोगों के सामने यह एक बड़ा सवाल है कि किस तरह जनता को नये मूल्यों में प्रशिक्षित करें, किस तरह समाज में ऐसा मानस-परिवर्तन लायें, ताकि जिन आदर्शों को सामने रखकर क्रान्ति हुई थी, वे आदर्श व्यवहार में लाये जा सकें। मैं नहीं कह सकता कि रूसवाले कब इस आदर्श तक पहुँच सकेंगे ?

अहिंसा में परिवर्तन और नवनिर्माण एक साथ

इस तरह, दुनियाभर की हिंसक क्रान्तियों का इतिहास देखेंगे तो पता चलेगा कि पुराने समाज को तोड़ने में हिंसक क्रान्ति लम्बे अर्से के बाद सफल होती है और उसके बाद नये समाज के निर्माण में भी बहुत समय लगता है तथा निर्माण धीरे-धीरे ही हो पाता है। दूसरी तरफ, अहिंसक क्रान्ति में पुराने समाज को बदलने और नये समाज को गढ़ने का काम साथ-साथ होता रहता है। अहिंसक प्रक्रिया में यह गुण है कि परिवर्तन और नवनिर्माण दोनों साथ-साथ चल सकते हैं। इन सब बातों को देखते हुए मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि भारत में अगर कभी रक्त-क्रान्ति होगी, तो ज्यादा विलम्ब से होगी। और अहिंसक क्रान्ति उससे कहीं जल्दी होगी और हो रही है ग्रामदान-आन्दोलन द्वारा, अपनी आँखों के सामने हो रही है।

दूसरी बात समझने की यह है कि राजनीतिक हिंसा क्रान्तिकारी और प्रति-क्रान्तिकारी दोनों तरह की हो सकती है। यह निश्चित नहीं है कि हिंसक क्रान्ति-कारी आन्दोलन हमेशा सामाजिक क्रान्ति की तरफ ही हमें ले जायगा। उसमें से प्रतिक्रिया भी पैदा हो सकती है और अन्त में वह एक फासिस्ट तानाशाही का रूप ले सकती है। अथवा अन्ततः उसमें से अराजकता, व्यापक दुःख-कष्ट, राष्ट्रीय विघटन एवं गुलामी के परिणाम भी पैदा हो सकते हैं। जो लोग हिंसा का प्रचार करते हैं, उन्हें इन संभावनाओं पर विचार करना चाहिए।

हिंसा से सत्ता जनता के हाथ में नहीं आती

तीसरी बात यह है कि यद्यपि सभी क्रान्तियों में केन्द्रीय प्रश्न सत्ता का ही होता है और सभी क्रान्तियों का आयोजन जनता के लिए सत्ता प्राप्त करने के नाम पर किया जाता है, तथापि सत्ता हमेशा ही क्रान्ति करनेवालों में से ऐसे मुट्ठी-भर लोगों द्वारा हड़प ली जाती है, जो सबसे ज्यादा निर्मम होते हैं। ऐसा होना अनिवार्य ही है। कल्पना करें कि चारों तरफ आन्तरिक कलह शुरू हो गया। समाज में सर्वत्र हिंसा फैल गयी। ऐसी अराजकता अधिक समय तक चलेगी,

तो क्रान्ति ही व्यर्थ सिद्ध होगी। तब क्रान्तिकारी कहेंगे कि राज्यसत्ता हाथ में लेकर हम यह अराजकता दूर करते हैं। लेकिन एक बार सत्ता उनके हाथ में गयी, तो फिर वह जनता के हाथ में वापस कब आयेगी ?

और, सत्ता जब बन्दूक की नली से निकलती हो, तब इसके सिवा दूसरा कुछ होगा भी कैसे ? माओ एक श्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न क्रान्तिकारी हैं। उनके कम्यून, 'हाफ-हाफ स्कूल' आदि के विचार तो गांधीजी के विचारों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। उनका जीवन और कार्य अद्भुत है। माओ का यह मत है कि क्रान्ति का जन्म बन्दूक की नली से ही होता है। किन्तु समझने की बात है कि बन्दूक सामान्य जनता के हाथ में नहीं होती, बल्कि होती है हिंसा के उन संगठित तन्त्वों के हाथ में, जो हर सफल क्रान्ति में से 'क्रान्तिकारी' सेना तथा उसकी सहायक जमातों के रूप में पैदा होती हैं। यही कारण है कि हिंसक क्रान्ति हमेशा किसी-न-किसी प्रकार की तानाशाही को जन्म देती है। और यही कारण है कि क्रान्ति के बाद शासकों तथा शोषकों का एक नया विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग कालान्तर में पैदा हो जाता है, जिसके अधीन बहुसंख्यक जनता फिर एक बार गुलाम हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि हिंसक साधनों से जनता के हाथ में सत्ता नहीं आती।

क्रांति के लिए ऐतिहासिक परिस्थितियाँ पूर्ण परिपक्व होनी चाहिए

चौथी और बुनियादी बात यह है कि क्रान्तियाँ क्रान्तिकारियों की बिलकुल मर्जी पर ही नहीं हुआ करतीं। क्रान्ति की सफलता के लिए सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियाँ परिपक्व होनी चाहिए। इसमें पूरी शताब्दी लग सकती है, जैसा कि इतिहास में अक्सर हम देखते हैं। स्वराज्य के बाद भारत में हिंसा में आस्था रखनेवाले लोगों ने विनोबा से पहले काम शुरू किया है। वे तेलंगाना के रक्तपात के समय से ही क्रान्ति करने का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन इन २२-२३ वर्षों में वे कहाँ तक आगे बढ़े हैं ? तेलंगाना में हिंसक क्रान्ति सफल हुई ? बंगाल में हुई ?

बंगाल के साम्यवादी नेता श्री हरेकृष्ण कोनार ने एक बार मुझसे कहा था कि 'यह नक्सलवाद तो infantile leftism (बचकानी उग्रवादिता) है। वे कहते हैं कि पूरा देश हिंसक क्रान्ति के लिए तैयार है, केवल आह्वान करने-भर की देर है। परन्तु पूरा देश तो क्या, केरल या बंगाल भी अभी तैयार नहीं है।' इस infantile leftism (बचकानी उग्रवादिता) के विरुद्ध लेनिन ने कितना सारा लिखा है। आप ही सोचिये कि रक्त-क्रान्ति से भारत इतनी जल्दी आजाद होता ?—हरगिज नहीं। सिंगापुर टूटा, बर्मा गया, जापान की सेना भारत का द्वार खटखटाने लगी। तब इस क्रान्तिकारी परिस्थिति का

लाभ किसने उठाया ? साम्यवादियों ने नहीं, बल्कि गांधीजी ने । ऐतिहासिक परिस्थिति का लाभ उठाना क्रान्तिकारी का स्वधर्म है ।

जब तक समाज भीतर से तैयार नहीं होता, तब तक क्रान्ति नहीं होती । यह क्रान्ति-शास्त्र का axiom—स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है । पुराना समाज अन्दर से जर्जर हो जाता है, तब परिस्थिति परिपक्व होती है और क्रान्ति होती है । फ्रांस में लुई की, रूस में जार की और चीन में च्यांग-काई-शेक की सत्ता अस्तित्व में आयी और उसके दौरान अन्दर से सारा तन्त्र हिल उठा, तब क्रान्ति हुई । जार के समय में सैनिक बन्दूकें लेकर भागते थे और कहते थे कि 'हमें रोटी और शान्ति दो ।' लेनिन ने कहा : 'यह दोनों चीजें हम देंगे ।' ऐसी परिस्थिति में वहाँ क्रान्ति हो सकी । किन्तु भारत की परिस्थिति आज हिंसक क्रान्ति के लिए उस तरह से अनुकूल नहीं है । इसलिए यहाँ हिंसावालों की बात कदापि आगे नहीं बढ़ेगी । चुटकी बजाते ही हिंसक क्रान्ति के चक्र गतिशील किये जा सकते हैं, यह एक भोली मान्यता है, इससे गलत और कोई बात हो नहीं सकती । माओ का भी कथन है कि 'हम मछलियाँ हैं, जनता सागर है ।' भारत में आज यह सागर हिंसक क्रान्ति के लिए तैयार नहीं है । यहाँ आज जो कुछ है, वह मात्र आतंकवादियों के कुछ pockets (केन्द्रों) तक सीमित है ।

इस तरह, हिंसक क्रान्ति की हिमायत करनेवालों को शान्ति से पुनर्विचार करने की जरूरत है । मैंने पहले ही कहा था कि हिंसक क्रान्ति के बारे में मुझे कोई नैतिक आपत्ति नहीं, मेरी आपत्ति तो व्यावहारिक है । आज की परिस्थिति में मुझे वह व्यावहारिक नहीं लगती और मूल उद्देश्य भी उससे पूरा होता नहीं लगता ।

निराशा में से उत्पन्न आतंकवाद

और, हमारे यहाँ तो क्रान्ति जैसा कुछ दीखता भी नहीं । जो कुछ है वह आतंक का, जुल्म का वातावरण है । यह frustration—नैराश्य में से उत्पन्न स्थिति है । मार्क्स और लेनिन के विचारों से परिचित कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि नक्सलवादियों की कार्यपद्धति और विचारधारा क्रान्तिकारी होने के बजाय आतंकवादी है और यद्यपि वे माओ का नाम बहुत लेते हैं, लेकिन वे माओ-वादी भी नहीं हैं । चे-ग्वेवारावादी हो सकते हैं, लेकिन किसीने चे-ग्वेवारा को मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं कहा है ।

आतंकवाद के बल पर, जो सदैव निराशा से उत्पन्न होता है, कभी भी सच्चे अर्थों में स्वदेशीय सामाजिक क्रान्ति नहीं हो सकती । आज बहुतेरे युवक हिंसा के दर्शन में विश्वास रखने का गर्व-सा अनुभव करते हैं । किन्तु उन्हें समझना चाहिए

कि आतकवाद और राजनीतिक हत्याओं से सामाजिक क्रान्ति हो सकती है, ऐसा कभी इतिहास में हुआ नहीं और इससे कुछ होगा नहीं।

अविवेकपूर्ण चीन-भक्ति

इस रास्ते पर चल रहे नौजवान आज 'माओ जिन्दाबाद' और 'माओ हमारे चेयरमैन' का नारा लगाते हैं। मैं पूछता हूँ कि यदि चीन के पैसे और हथियार से आपने शासन पर अधिकार किया, तो क्या फिर देश आपका रह जायगा ? मैं इन लोगों से कह देना चाहता हूँ कि माओ राष्ट्रवादी हैं, इसलिए उन नौजवानों को, जो माओ को अपना सब-कुछ मानने लगे हैं, पहले राष्ट्रवादी बनना चाहिए।

देश-प्रेम कोई गलत चीज नहीं है। हाँ, विस्तारवादी या आक्रामक राष्ट्रवाद गलत है। लेकिन भारतीय राष्ट्रवाद उस श्रेणी में नहीं आता है। बल्कि सचमुच यदि देखा जाय तो चीन का हान राष्ट्रवाद, खासकर उसका वह रूप, जो उसके इस दावे से प्रकट होता है कि कोई भी क्षेत्र, जो साम्राज्यवादी पेकिंग का कोई अंग रहा था या उसके असर में था, हमेशा के लिए चीन का अंग है, आपत्तिजनक ही नहीं, खतरनाक राष्ट्रवाद है। माओ तो चीन के पुराने साम्राज्यवादी शासकों के ढंग से विश्व पर अपने देश का आधिपत्य कायम करने का सपना देखते हैं।

इसलिए इन नवयुवकों की चीन-भक्ति बिलकुल अविवेकपूर्ण है। यों कुछ हद तक तो सभी प्रकार के साम्यवादियों में शायद मार्क्सवादियों में ही सबसे कम—परदेशीय भक्ति का दोष होता है। लेकिन, अध्यक्ष माओ हमारे भी अध्यक्ष हैं, यह नारा राष्ट्रवाद-विरोध में तथा विदेशी मालिकों के अनुसरण में सबको मात कर देता है।

दूसरे देशों से विचार ग्रहण करना और उनकी कार्यपद्धति अपनाना—ऐसा तो हम हमेशा करते हैं—तथा दूसरे देशों के नेताओं को अपने वैचारिक नेता के रूप में स्वीकार तक कर लेना एक बात है, लेकिन किसी विदेशी राज्य के अधिपति को अपने भावी क्रान्तिकारी राज्य के अधिपति के रूप में मान्य करना बिलकुल दूसरी बात है। स्टालिनवाद के उत्थान के दिनों में भी ऐसी बात नहीं देखी गयी थी, लेनिन और स्तालिन अपनी अंतर्राष्ट्रीयता के बावजूद रूसी राष्ट्रवादी थे, यद्यपि लेनिन, खासकर क्रान्ति की प्रारम्भिक स्थितियों में, विश्वक्रान्ति की सफलता के लिए सम्भवत: रूस के राष्ट्रीय हितों का बलिदान तक करने के लिए तैयार हो जाते। स्वयं माओ एक अच्छे राष्ट्रवादी हैं, उन्हें चीन के इतिहास और उसकी संस्कृति पर गौरव है।

नक्सलवादियों की नादानी !

अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के बारे में हमें भी ऐसी समझ और ऐसा गौरव होना चाहिए। दुनियाभर से विचार भले लें, किन्तु उन्हें अपने देश की धरती के अनुकूल बना लें। हमारे नौजवानों को यह समझना चाहिए कि महात्मा गांधी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—ये सब हमारे देश की संस्कृति के प्रतीक बन चुके हैं। हमारी क्रान्ति भी इस देश की सांस्कृतिक विरासत के अनुरूप होगी। उनकी प्रतिमाओं पर प्रहार करने से या पुस्तकें जलाने से क्रान्ति नहीं होगी।

नक्सलवादी गांधीजी का खूब विरोध कर रहे हैं। शायद उन्होंने यह समझा है कि गांधी-विचार से उन्हें खतरा है। गांधीजी तो मौजूद हैं नहीं, लेकिन कागज पर उनके जो विचार लिखे हुए हैं, उनसे भी इनको खतरा लगता है। इसीलिए वे गांधीजी की पुस्तकें जलाते हैं और उनके विचारों के अनुसार काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को धमकियाँ देते हैं। यह निरी नादानी है, मूर्खता है। पुस्तकालयों में आग लगा देने से दुनिया से अहिंसा समाप्त हो जायगी? गांधी को गोली से उड़ा दिया, ईसामसीह को सूली पर चढ़ा दिया, तो क्या हुआ? अहिंसा का विचार मिट गया इस पृथ्वी से?

इस तरह सत्य को कभी मिटाया नहीं जा सकता। उसको मिटाने की जितनी कोशिश होगी, उतना ही अधिक वह निखरेगा और चमकेगा। दुनिया में धर्म के नाम पर, धन के नाम पर, सत्ता के नाम पर सत्य को मिटाने के बहुत प्रयत्न हुए, सत्य के शोधकों को मिटाने के बहुत प्रयत्न हुए। लेकिन सत्य के जो विचार हैं, सत्य-शोधकों के जो काम हैं, उनके जो प्रयोग हैं, उन्हें मिटाने का चाहे जितना भी प्रयत्न हो, वे कभी मिट नहीं सकते। उनके अन्दर जो शक्ति छिपी हुई है, मानव-समाज के लिए और मानव-भविष्य के लिए, वह शक्ति इससे घटती नहीं, बल्कि बढ़ती है। इस विरोध से देश में गांधी-विचार की शक्ति बढ़ेगी। हममें से कुछ लोग शिकार हों जायँ माओवादियों की गोलियों के, तो हमारी शक्ति बढ़ेगी ही। इस आतंकवाद से गांधी-विचार समाप्त हो जायगा, ऐसा यदि वे मानते हों, तो यह उनकी मूर्खता है। इसमें गहराई नहीं है, छिछलापन है।

हिंसा कभी जनता के लिए तारक सिद्ध नहीं हुई

जिनके नाम पर हिंसा की यह पद्धति अपनायी जाती है, उस जनता को और खासकर गरीब तथा शोषित जनता को, अपने-आपसे पूछना है कि क्या यह हिंसा और आतंक कभी उनको मुक्ति दिला सकते हैं? हिंसा के मार्ग पर आगे

बढ़ रहे लोग उन्हें जो सुहावने सपने दिखला रहे हैं, वे सपने क्या इस मार्ग पर चलकर कभी साकार किये जा सकते हैं ? जरा शान्ति से विचार करेंगे, तो उन्हें स्पष्ट होगा कि इस मार्ग से तो वे मुक्ति पाने के बदले गुलाम ही बनेंगे । मात्र शान्तिमय जन-आन्दोलन द्वारा ही जनता कभी मुक्ति पाने तथा अपनी गरीबी-कंगाली मिटाने की आशा रख सकती है ।

भूमिहीनों और गरीबों को मैं इस बारे में गम्भीरता से विचार करने के लिए कहूँगा । वे स्वयं सोचें कि यह पद्धति उनके लायक है या नहीं है तथा इसके कारण उन्हें कुछ लाभ होगा या नहीं ? उन्हें ऐसी बातों की खुली निंदा करनी चाहिए, जिसमें उनकी कंगालियत का, उनकी मजबूरी का इस्तेमाल किया जा रहा हो अपने राजनीतिक दलों के स्वार्थ-साधन में, ताकि फिर कोई ऐसा करने की हिम्मत न करे ।

अन्त में मैं कहूँगा कि नहीं, हिंसा कभी तारक सिद्ध नहीं हुई है, जैसा कि पीड़ित और शोषित लोगों को समझा दिया गया है । टॉल्स्टॉय की एक प्रसिद्ध उक्ति है, जिसको थोड़ा बदलकर कहा जा सकता है कि क्रान्तिकारियों ने जनता के लिए सब-कुछ तो किया है, केवल उसकी पीठ पर से उतरने का कष्ट नहीं किया है !

१२ गांधी का क्रान्तिकारी रचनात्मक मार्ग

यदि लोकशाही अक्षम सिद्ध होती हो और हिंसा से भी कोई समाधान न निकलता हो, तो फिर रास्ता क्या है ? मुझे लगता है कि रास्ता पाने के लिए हमें गांधीजी की ओर लौटना होगा। यद्यपि गांधीजी के अनुयायियों ने आजादी के बाद जिस प्रकार देश का शासन चलाया और अधिकांश रचनात्मक कार्यकर्ता जिस तरह लकीर के फकीर बने रहे, उस कारण गांधी-विचार-धारा के सम्बन्ध में भ्रम पैदा हुआ है और गांधीजी का असली स्वरूप धुँधला पड़ा है। तरुण पीढ़ी तो गांधीजी के विचारों से लगभग अपरिचित ही है। इसीलिए आजकल अक्सर यह सवाल उठा करता है कि वर्तमान युग के लिए गांधीजी कोई अर्थ रखते हैं या नहीं ? उनके विचार और कार्य हमारा कुछ मार्ग-दर्शन कर सकते हैं या नहीं ? इस युग में गांधीजी की कोई प्रासंगिकता भी है या नहीं ?

अमेरिका के सेनापति मेकआर्थर ने गांधीजी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा था कि "यह एक ऐसा महापुरुष था, जो अपने जमाने से कहीं आगे जीता था।" और फिर आगे उन्होंने कहा था कि "किसी-न-किसी दिन दुनिया को गांधीजी की बात सुननी ही पड़ेगी, नहीं तो हिंसा के रास्ते दुनिया का विनाश हो जायगा।" इसी तरह फिलिप नोएल बेकर ने भी कहा था कि उनकी महानतम उपलब्धियाँ तो अभी आगे आनेवाली हैं।

स्वराज्य की बुनियाद ग्रामराज्य

गांधीजी कह गये हैं, इसलिए उनके शब्दों को रटते रहने का कोई अर्थ नहीं है। लकीर का फकीर नहीं बनना है। गांधीजी स्वयं भी नित्य विकासशील थे। इसलिए उनकी हर बात पर वर्तमान सन्दर्भ में पुनर्विचार करना पड़ेगा। फिर भी आज अनेक क्षेत्रों में हम गांधीजी से कुछ-न-कुछ सीख सकते हैं। हमें उनकी कही बातों का आगे विकास करना होगा, दुनिया की आज की परिस्थिति के साथ उसका मेल बैठाना पड़ेगा। लेकिन उनकी बातों में ऐसे बहुत-से तत्त्व हैं, जो आज भी प्रासंगिकता रखते हैं।

गांधीजी हिंसा की व्यर्थता तथा लोकतान्त्रिक राज की स्वभावगत सीमाओं से परिचित थे। इसीलिए उनकी योजना राज्य-शक्ति के साथ-साथ लोक-शक्ति के निर्माण की थी। तदनुसार वे स्वयंसेवी कार्यकर्ताओं की एक बड़ी सेना लेकर जनता की सेवा करने, लोगों को शिक्षित एवं परिवर्तित करने, उन्हें संगठित तथा स्वावलम्बी बनाने और सामाजिक परिवर्तन एवं पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में उन्हें प्रत्यक्ष रूप से शामिल करने के उद्देश्य से जनता के बीच वापस जाने की तैयारी कर रहे थे।

गांधीजी यह बात अच्छी तरह समझ चुके थे कि अब 'लोकसम्मति की सरकार' से काम नहीं चलेगा, अब तो स्वयं लोगों की सरकार चाहिए। लोग स्वयं अपना काम चलाने लग जायँ। इसीलिए उन्होंने कहा था कि स्वराज्य की बुनियाद ग्रामराज्य है। वे यह चाहते थे कि अधिक-से-अधिक अधिकार जनता के हाथ में आने चाहिए। एक विशेष प्रकार की समाज-रचना करने की आकांक्षा रखनेवाले मुझ जैसे कार्यकर्ता के लिए यह बात बहुत मूल्यवान् है। यदि मैं अपने लिए कुछ चाहता होता, तो बात अलग थी। किन्तु मैं तो सत्ता पर जनता का अधिकार चाहता हूँ। इस सन्दर्भ में गांधीजी की ग्रामराज्य की बात बहुत महत्त्व रखती है।

ग्रामराज्य यानी बैलगाड़ी की संस्कृति नहीं। आज के गाँवों को तो गांधीजी ने dung-heaps (गोबर के ढेर) कहा था। उनकी जो गाँवों की कल्पना थी, वह तो कृषि-औद्योगिक छोटी-छोटी समुन्नत बस्तियों के रूप में थी। और इस सम्बन्ध में हमें भी गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा। अन्यथा, आज तो विज्ञान दुनिया को एक कर रहा है और बड़े राष्ट्र दुनिया के टुकड़े कर रहे हैं, अपना-अपना साम्राज्य मजबूत कर रहे हैं। और ऐसा लगता है कि इसके लिए उनमें आपसी समझौता हो गया है। इसीलिए वे एक-दूसरे के साम्राज्य में हस्तक्षेप नहीं करते और एक-दूसरे के दुष्कृत्यों की तरफ उँगली नहीं उठाते। यह एक भयानक स्थिति है। अगर दुनिया को इससे मुक्त होना है, तो गांधीजी की ग्रामराज की कल्पना पर ध्यान केन्द्रित करना ही पड़ेगा।

हिंसा की जड़ों का उन्मूलन

गांधीजी एक ऐसी दुनिया का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें हिंसा का कोई स्थान न हो और मानव-जाति युद्ध के अभिशाप से मुक्त रहे। इसके लिए बुनियाद से ही प्रयत्न करना होगा और अहिंसा की शक्ति विकसित करनी होगी। पश्चिम के शान्तिवादियों ने इस दिशा में अभी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। वहाँ शान्त प्रतिकार, असहयोग या विरोधी प्रदर्शनों पर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

दूसरे लोग युद्ध पैदा करते रहें और शान्तिवादी यह महसूस करते रहें कि जब युद्ध शुरू हो तो उसका प्रतिकार करें या उसे खत्म करें, यह स्थिति मुझे बहुत बेतुकी लगती है। जब तक यह स्थिति रहेगी, तब तक हमारे कामों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

वास्तव में युद्ध को समाप्त करने के लिए युद्ध की जड़ों में घुसना पड़ेगा और उन्हें काटकर समाप्त कर देना होगा। युद्ध की जड़ें मनुष्यों के मन में हैं, उनकी शिक्षा-पद्धति में हैं, उनकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाओं तथा पद्धतियों में हैं। जब तक शान्तिवादी और युद्ध-विहीन जगत् बनाने के इच्छुक अन्य लोग अपना ध्यान इस विशाल कार्यक्षेत्र की ओर नहीं देंगे, तब तक वे सफल नहीं होंगे।

गांधीजी ने यह सब भलीभाँति समझ लिया था। तभी उन्होंने व्यक्ति तथा समाज के मानस में जड़मूल से परिवर्तन लाने के लिए अपना ध्यान केन्द्रित किया था। उनका रचनात्मक कार्यक्रम, शिक्षण-पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का उनका आग्रह, आर्थिक और राजनैतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण और जड़मूल में जानेवाला लोकतन्त्र (जिसकी कल्पना उन्होंने ग्रामराज्य के रूप में की) और स्वावलम्बन तथा आत्मनिर्भरता पर उनका जोर, सादे जीवन के विषय में उनके नैतिक उपदेश, सर्वधर्म-समभाव पर उनका आग्रह, अन्तर्राष्ट्रीयता के परिपूरक के रूप में इन सबका उद्देश्य यही था कि हम ऐसे विश्व का निर्माण करें, जिसमें हिंसा न रहे।

रचनात्मक कार्यक्रम क्रांति के लिए

गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों के पीछे एक विचार था, एक तत्त्व था, एक जीवन-दर्शन था, समाज-दर्शन था। उन्होंने रचनात्मक कार्यकर्ताओं से कहा था कि थोड़ी-बहुत सेवा करना, बेकारों को कुछ काम देना, थोड़ा उत्पादन करना, गरीबों की जेब में दो पैसे अधिक डालना, केवल इतना ही अपना उद्देश्य नहीं, बल्कि इन रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा हमें समाज में अहिंसक क्रान्ति लानी है। अहिंसक समाज का निर्माण करना हमारा मूल उद्देश्य है।

उद्देश्य आँखों से ओझल

लेकिन गांधीजी के जाने के बाद इस उद्देश्य से हमारा ध्यान हटता गया और गांधीजी के सभी रचनात्मक काम निस्तेज बनते गये। अधिकांश काम सरकार-आश्रित हो गये। खादी, ग्रामोद्योग आदि का उत्पादन आँकड़ों में पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा। किन्तु उनके द्वारा अहिंसक क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़ने का जो

उद्देश्य था, वह पूरा नहीं हुआ। ये सारे काम एक 'रूटीन' जैसे हो गये, चाहे खादी हो या हरिजनोद्धार हो या आदिवासी-सेवा हो। रचनात्मक कामों के पीछे गांधीजी के जो मूल उद्देश्य थे, उन्हें भूलकर कार्यकर्ता दैनन्दिन कामों में ही उलझकर रह गये।

अन्तिम दिनों में, रचनात्मक कार्यों के लिए गांधीजी ने स्वयं कहा था कि "स्वराज्य के बाद का काम बहुत कठिन है। हमारे बारे में लोगों की मान्यता यह है कि हम wooden minded हैं, जड़ मानसवाले हैं, हमारे दिमाग में भूसा भरा है। लेकिन अब जो रचनात्मक कार्य करने हैं, वे बौद्धिक दृष्टि से अच्छी तरह समझ-बूझकर किये जाने चाहिए। चाहे वह खादी का काम हो या दूसरा कोई काम हो। सभी कामों के बारे में हमको पूरी बौद्धिक जानकारी और समझदारी होनी चाहिए।

किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो सका। फलस्वरूप आज खादी, ग्रामोद्योग आदि के समान बहुत से रचनात्मक काम हो रहे हैं, किन्तु वर्तमान सामाजिक स्थिति में इन प्रवृत्तियों के कारण कोई रद्दोबदल पैदा नहीं होता। उदाहरण के लिए किसी गाँव में खादी का काम दस-बीस साल से चल रहा होगा, फिर भी ग्रामीण समाज के ढाँचे पर उसका जरा भी असर नहीं पड़ा होगा।

रचनात्मक संस्थाओं का अब तक यह अनुभव रहा है कि संस्था की चहार-दीवारी में तो वे कुछ कर सके हैं और शायद कुछ चुने हुए गाँवों में भी। लेकिन संस्था के आसपास के गाँव और दूसरे असंख्य गाँव अभी अछूते ही हैं। बुनियादी पाठशालाओं, चरखों, ग्रामोद्योगों आदि के मार्फत वे लोगों को कुछ काम और शिक्षण दे सके हैं। लेकिन उनकी यह साधना अगले ५० वर्षों तक चलती रहे, तो भी मुझे नहीं लगता कि उससे गांधीजी के अहिंसक समाज की रचना का मूल उद्देश्य सिद्ध हो सकेगा। गाँवों में इन सब कामों की कोई बुनियाद नहीं, कोई भूमिका नहीं। हम जो बीज बोते हैं, उसके लिए जमीन ही तैयार न की गयी हो, तो फिर वह बीज अंकुरित कैसे होगा, जड़ कैसे पकड़ेगा और कैसे फले-फूलेगा ?

इस तरह का रचनात्मक कार्य निष्फल है या अधिक-से-अधिक थोड़ी राहत पहुँचानेवाला है। गांधीजी की रचनात्मक काम की कल्पना ऐसी नहीं थी। मुझे पूरा विश्वास है कि आज गांधीजी होते, तो इन रचनात्मक कामों को बिलकुल नया मोड़ देते और एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम हमारे सामने रखते। वह जो कुछ भी थे, पर सबसे पहले वे क्रान्तिकारी थे। उन्होंने खुद लिखा है : "कुछ लोगों ने मुझे अपने जमाने का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कहा है। यह गलत हो सकता है, लेकिन मैं अपने-आपको एक क्रान्तिकारी मानता हूँ—एक अहिंसक क्रान्तिकारी।"

विनोबा की अलौकिक प्रतिभा

विनोबा की अलौकिक प्रतिभा ने उस अहिंसक क्रान्ति के मार्ग का आविष्कार किया है। उनका ग्रामदान-ग्रामस्वराज का कार्यक्रम अनेक रचनात्मक कार्यों में से एक कार्य नहीं है। वह सारे रचनात्मक कार्यों का अधिष्ठान है। इस सन्दर्भ में सभी रचनात्मक कार्य सृजनात्मक बन जाते हैं, उनके अभाव में वे सब निर्जीव चेष्टामात्र रह जाते हैं। ग्रामदान-ग्रामस्वराज नित्य प्रवाहिनी नदी के समान है और रचनात्मक प्रवृत्तियाँ नौकाएँ हैं। पानी की धारा न हो, तो ये सारी नौकाएँ कीचड़ में फँसकर रुक जाती हैं। नदी उन्हें जिन्दगी और रफ्तार देती है और तब वे यात्रियों को पार लगाती हैं।

उसी तरह आज ग्रामदान का काम किये बिना दूसरे रचनात्मक कार्य चलनेवाले नहीं हैं। उसके बिना उनका अस्तित्व ही जोखिम में पड़ जायगा। आज समाज में हिंसा की शक्ति कितनी बढ़ रही है। एक तरफ हम अहिंसा-अहिंसा रटते रहें और दूसरी तरफ हिंसा का मानस विकसित होता रहे तो कैसे चलेगा ? रचनात्मक कार्यकर्ताओं को यदि एक नाले में न पड़ा रहना हो, उन्हें राष्ट्रीय जीवन के मूल प्रवाह में आना हो, तो उसके लिए ग्रामदान-ग्रामस्वराज के सिवा दूसरा कोई कार्यक्रम आज मुझे नहीं सूझता। इस कार्यक्रम को लेकर यदि हम लोगों में जागृति ला सकें, तो देश के प्रवाह को अपनी इच्छित दिशा में मोड़ने का हमें मौका मिलेगा, एक रास्ता खुलेगा।

ग्रामदान की बुनियाद पर गाँवों की पुनर्रचना

विनोबा पूरे समाज का परिवर्तन करना चाहते हैं। उनका उद्देश्य है, सम्पूर्ण मानवीय क्रान्ति समग्र क्रान्ति की बात करके उन्होंने एक कार्यक्रम दिया है। उसमें स्वामित्व-विसर्जन होता है, जमीन पर व्यक्ति की जो कानूनी मालिकी है, वह छूटती है, पूरी जमीन का बीसवाँ भाग और हर साल आय में से एक अंश दिया जाता है। ग्रामसभा सर्वानुमति से काम करने का निश्चय करती है। ग्रामीणों में स्वावलम्बन और सहकारी पुरुषार्थ की भावना जगती है। गाँव में प्रत्यक्ष और लोगों की सक्रिय भागीदारीवाली लोकशाही पनपे, इसके लिए सामाजिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण बनते हैं।

इस प्रकार ग्रामदान की भूमिका में गाँवों की पुनर्रचना करनी है। ग्रामदान एक बुनियाद है। नवनिर्माण के लिए जिस सामुदायिक चेतना की आवश्यकता है, वह ग्रामदान द्वारा पैदा हो सकती है। एक मानव-समाज बनता है, क्योंकि उसमें Caring and sharing—एक-दूसरे का ख्याल रखने और बांट-बूंटकर

खाने की भावना है। ठेठ नीचे से लोक-शक्ति जगाने का काम है यह। ग्रामस्वराज खड़ा करना है। ऐसा एक व्यापक आन्दोलन आज चल रहा है। यह एक आशा-जनक कार्यक्रम है। मुझे तो आज गांधीजी के सपने को साकार करने के लिए ग्रामदान-ग्रामस्वराज से बढ़कर तीव्र तथा प्रभावकारी और कोई दूसरा कार्यक्रम नहीं दीखता। मेरे लिए इसकी अपेक्षा कोई दूसरा कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। विनोबा आज गांधीजी के काम को आगे बढ़ा रहे हैं।

शान्ति-सेना : एक ठोस कार्यक्रम

गांधीजी ने इसी तरह शान्ति-सेना की बात भी कही थी। विनोबा ने उसे भी आगे बढ़ाया है और शान्ति-सेना के विचार को ठोस कार्यक्रम का रूप दिया है। इतने बड़े देश में अशान्ति और असन्तोष तो कहीं-न-कहीं उमड़ता ही रहेगा। प्रश्न यह है कि इस देश में लोकतान्त्रिक परिस्थिति में शान्ति रहेगी तो कैसे रहेगी? क्या वह पुलिस की गोलियों से या मार्शल लॉ कायम होने से रहेगी? अगर ऐसा होगा तो समझ लीजिये कि लोकतन्त्र को हमने खो दिया। लोकतन्त्र को कायम रखते हुए अगर हम देश में शान्ति चाहते हैं तो विनोबाजी के शान्ति-सेना के कार्यक्रम के सिवा दूसरा कोई कार्यक्रम नहीं है।

हमारे प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी ने एक महत्त्व की बात कही थी कि अंग्रेजी राज्य के जमाने का कोई भी १५ साल का काल आप ले लें—और स्वराज के बाद के १५ साल को ले लें, तो अंग्रेजी राज्य के किसी भी १५ वर्षों में इतने गोलीकाण्ड नहीं हुए थे, जितने स्वराज के बाद के वर्षों में हुए। कितने गोलीकाण्ड हुए! अशान्ति बढ़ती ही जा रही है। जो भी मसला खड़ा हुआ, उसके साथ अशान्ति बढ़ती गयी। अब इसका क्या हाल है? इसका हल पुलिस और फौज-वाले हरगिज नहीं कर सकते। यह मान लेना चाहिए कि वे यह काम नहीं कर सकते, यह उनके बूते के बाहर की बात है। इसको यदि ठीक करना है तो हमें और आपको ही करना है।

शान्ति-सेना में यही बात है कि हर नागरिक यह प्रतिज्ञा ले कि वह सबके साथ शान्तिपूर्वक व्यवहार करेगा और अपनी बस्ती में शान्ति कायम रखने की कोशिश करेगा। अशान्ति होगी तो जरूरत पड़ने पर अपनी जान को भी खतरे में डालकर उसे रोकने की चेष्टा करेगा।

एक सर्वसुलभ कार्यक्रम

विनोबाजी ने शान्ति-सेना के कार्यक्रम के साथ 'सर्वोदय-पात्र' की योजना जोड़ी है। मैं उसे 'शान्ति-पात्र' भी कहता हूँ। यह एक सर्वसुलभ योजना है।

घर-घर में शान्ति-पात्र रहे, जो इस बात का प्रतीक है कि हम शान्ति चाहते हैं। हम संकल्प करते हैं कि हमारी तरफ से कभी समाज में अशान्ति नहीं होगी। इसके प्रतीकस्वरूप हम अपने यहाँ एक पात्र रख लें, उसमें एक पैसा या एक मुट्ठी अनाज रोज डालते जायँ। और यह कार्य बच्चों से ही करायें, जिससे उनमें बचपन से ही शान्ति और सामाजिक दायित्व के संस्कार दृढ़ हों। उस पैसे या अनाज का शान्ति-सेना के काम में इस्तेमाल होगा।

मैं भूलता न होऊँ तो १९२६ में जब दंगा हुआ था, उसी समय गांधीजी ने शान्ति-सेना की कल्पना समाज के सामने पेश की थी। उसे आज विनोबा ने एक कार्यक्रम का रूप दिया है। सर्वोदय-आन्दोलन के एक अंग के रूप में शान्ति-सेना का यह कार्यक्रम चल रहा है। देश में जहाँ कहीं दंगा-फसाद हुआ है, वहाँ शान्ति-सैनिक पहुँचे हैं और वहाँ उन्होंने शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया है। कई बार उनके बीच-बचाव के कारण संघर्ष की संभावनाएँ टली हैं या संघर्ष जल्दी समाप्त हुए हैं। जमशेदपुर, राउरकेला, अहमदाबाद आदि जगहों में अशान्ति के समय शान्ति-सैनिकों ने अच्छा काम किया है। पर यह तो अभी शुरुआत ही है। मुट्ठीभर कार्यकर्ताओं द्वारा इतना हुआ है, लेकिन ये ही लोग देश में सर्वत्र शान्ति रख सकेंगे, ऐसा मान लेना गलत होगा। जनता स्वयं इस शान्ति-सेना का काम उठा लेगी, तभी वह सम्भव हो सकेगा।

खैर, मैं तो यह कह रहा था कि ग्रामदान, शान्ति-सेना आदि कार्यक्रमों द्वारा विनोबा ने गांधीजी के रचनात्मक कार्य का क्रान्तिकारी स्वरूप समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। जब लोकतन्त्र असमर्थ सिद्ध हो और हिंसा द्वारा समस्याओं के सुलझने की आशा न रहे, तब हमें आखिर गांधी-विनोबा के इसी मार्ग पर चलना होगा। इस तरह के रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा ही लोकतन्त्र की बुनियाद मजबूत हो सकेगी और समाज से हिंसा की जड़ों का उन्मूलन सदा-सदा के लिए हो सकेगा।

दीर्घं पश्य, मा ह्रस्वम् ! १३

एक सवाल प्रायः उठा करता है कि ग्रामदान के काम का प्रभाव क्यों नहीं पड़ता ? समाज में उसका इम्पेक्ट क्यों नहीं दीखता ? विनोबाजी ने इस सम्बन्ध में बहुत समझाया है, फिर भी इम्पेक्ट का सवाल रह-रहकर उठता ही रहता है !

अनेक बार यह भी पूछा जाता है कि नक्सलवाड़ी में एक छोटी-सी घटना घटती है और पूरे देश में हलचल मच जाती है, साम्यवादी मित्रों को ऐसा लगता है, जैसे एक बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई। किन्तु दूसरी तरफ इतने सारे ग्रामदान हुए, फिर भी कार्यकर्ताओं को या जनता को ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती कि कोई बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई है ?

मुझे ऐसा लगता है कि इसका एक कारण तो यह है कि दुनिया में क्रान्तियाँ जिस प्रकार से आज तक हुई हैं, उनकी अपेक्षा यह क्रान्ति बिलकुल भिन्न रूप में हो रही है, इसीलिए इसका महत्त्व जल्दी ध्यान में नहीं आता। हकीकत यह है कि इस क्रान्ति का जो नया तरीका है, नयी पद्धति है, वह अभी लोगों की समझ में अच्छी तरह आयी नहीं है।

अभी हमने इसका महत्त्व समझा नहीं है

बात यह है कि दूसरे की साधन-सम्पत्ति अगर कोई जोर-जबरदस्ती से छीन ले, तो एकदम सबको लगता है कि कोई बड़ी क्रान्ति हो गयी। किन्तु शान्ति से और स्वेच्छा से जो बड़ा परिवर्तन हो रहा है, वह ध्यान में नहीं आता। अकेले बिहार को ही लें, तो वहाँ साढ़े तीन से चार लाख एकड़ तक भूदान की जमीन भूमिहीनों में बाँटी जा चुकी है। लेकिन यह बिना कोर्ट-कचहरी के, बिना किसी नक्सलवादी खून-खराबी के हुआ है, इसलिए इसका महत्त्व हमारी समझ में जल्दी नहीं आता। जब कि तीन लाख तो क्या मात्र तीन हजार एकड़ जमीन भी यदि जोर-जबरदस्ती से छीन ली गयी होती, तो वह एक mile stone (मील के पत्थर) के रूप में क्रान्तिकारी घटना मानी जाती ! इसलिए पहले इस आन्दोलन द्वारा जो कुछ हुआ है, उसका सही मूल्यांकन हमें करना चाहिए।

गाँव में भूमिवान् हैं और भूमिहीन हैं। खूनी क्रान्ति की पद्धति है, भूमिहीनों को संगठित कर भूमिवानों के समक्ष खड़ा कर देना। जब कि इस आन्दोलन का लक्ष्य समुदाय को विभाजित कर उसके एक हिस्से के विरुद्ध दूसरे को खड़ा करना नहीं, बल्कि समुदाय का एकीकरण करना है, सामुदायिक चेतना एवं पारस्परिक दायित्व की भावना पैदा करना है। इसलिए अहिंसक क्रान्ति की नयी पद्धति अपनायी गयी है। इसमें भूमिवान् और भूमिहीन दोनों को क्रान्तिकारी बनाना है, दोनों को क्रान्ति की प्रक्रिया में डालना है। विभिन्न विरोधी हितों को ग्रामसभा में एक-दूसरे के आमने-सामने लाकर उनके अन्दर यह एहसास पैदा करना है कि वस्तुतः वे परस्परावलम्बी हैं। ग्रामदानी गाँवों में यह प्रक्रिया चलती है। मैं तो कहता हूँ कि भूमिवान् ग्रामदान-पत्र पर केवल दस्तखत कर देता है और अपनी जमीन की मालिकी का कानूनी अधिकार ग्रामसभा को सौंप देता है, तो भी यह एक बहुत बड़ी बात होती है। यह परिवर्तन स्वेच्छा से होता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। दूसरा कोई इतना परिवर्तन करके तो दिखाये !

जनमानस पर प्रभाव

दूसरी बात यह है कि ऐसे आन्दोलनों का असर तो ग्लेशियर (बरफ के तैरते पहाड़) जैसा है, जो पानी की सतह पर कम दीखते हैं। इसी प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलनों का जनमानस पर क्या प्रभाव पड़ा, यह उनके बाह्य परिणामों से नहीं आँका जा सकता। ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि मौजूदा परिस्थिति इस काम के प्रतिकूल है, हम प्रवाह के विरुद्ध तैर रहे हैं, प्रवाह हमसे उलटी दिशा में है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो पता चलेगा कि आज दुनिया में जो परिस्थिति बन रही है, वह इस काम के अनुकूल है। दुनिया को यदि शान्ति के रास्ते आगे बढ़ना है, तो उसे उद्योग, खेती, राजनीति, व्यापार आदि के बारे में पुनर्विचार करना पड़ेगा; इनके वर्तमान स्वरूप और प्रक्रिया में फेरबदल करना पड़ेगा। दुनिया के विचारकों और विद्वानों का ध्यान इस तरफ खिंच चुका है।

इसलिए मेरा यह मानना है कि ग्रामदान-ग्रामस्वराज का कार्यक्रम आज के विश्व-प्रवाह के बहुत ही अनुकूल है। अभी एरिक फ्रॉम की नयी पुस्तक Revolution of Hope—'आशा की क्रान्ति' प्रकाशित हुई है। उसमें मैंने देखा कि उनका और इस आन्दोलन का चिन्तन बिलकुल एक दिशा में चल रहा है। इससे लगता है कि ग्रामस्वराज का तत्त्व औद्योगिक और राजकीय क्षेत्रों में भी लागू हो सकता है। ग्रामस्वराज की कल्पना इस आन्दोलन का मुख्य आधार है। व्यक्ति की स्वायत्तता पर उसका झुकाव है। अपने इलाके के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक मामलों में (लोग) सक्रिय रूप से भाग लें, यह उसका

इरादा है। मानवीय दृष्टिकोण इस आन्दोलन की विचारधारा का मुख्य अंग है। और आज सारी दुनिया के विचारकों की यही मनोवृत्ति दिखाई देती है।

यह कितना बड़ा काम है !

यह एक समग्र आन्दोलन है, यह बात हमेशा ध्यान में रहनी चाहिए। हमारा एक व्यापक दर्शन होना चाहिए। यह कितना बड़ा काम है, इसका ध्यान रहना चाहिए। इस आन्दोलन द्वारा हम अहिंसक क्रान्ति लाना चाहते हैं। अहिंसक समाज का निर्माण करना चाहते हैं। आज तक दुनिया में ऐसा कहीं हुआ नहीं है। गांधीजी ने अहिंसा के रास्ते राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलायी, लेकिन अहिंसा के रास्ते से सामाजिक क्रान्ति अभी तक कहीं हुई नहीं है। आर्थिक और राजनैतिक सत्ता के ढाँचे में समूल परिवर्तन हो, इसे मैं सामाजिक क्रान्ति कहता हूँ। इस अर्थ में आज दुनिया में सर्वत्र क्रान्ति की जरूरत है। कितनी ही समाजवादी सरकारों ने लोककल्याण का, विकास का काम किया है, किन्तु गांधीजी की ग्रामस्वराज की बात उसमें से सधती नहीं। मात्र जनता के 'लिए' नहीं, बल्कि जनता 'का' राज हो और जनता 'द्वारा' ही चले, ऐसा अभी तक कहीं नहीं हुआ है। हमें कोशिश करके यह मार्ग ढूँढ़ निकालना है। भगवान् की कृपा मानें कि विनोबा जैसा नेता हमें मिला है। उनके नेतृत्व में पिछले बीस वर्षों में जो कुछ हुआ है, वह मेरी दृष्टि में कम नहीं हुआ है।

इसलिए इस काम का समाज पर कोई इम्पेक्ट नहीं है, उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है, मैं ऐसा नहीं सोचता। दुनिया में अब तक बहुत-सी हिंसक क्रान्तियाँ हुई हैं। उनमें कितनी ही पीढ़ियाँ खाद बन गयीं। फिर भी आज हम उन हिंसक क्रान्तियों के कितने परिणाम अपनी आँखों के सामने देख सकते हैं ? अतः हम जिस महान् काम में लगे हैं, उसे देखते हुए बहुत ही विशाल दृष्टिकोण से इन सब बातों पर विचार होना चाहिए।

व्यापकता के बिना क्रान्ति सम्भव नहीं

यह आन्दोलन परिणामात्मक बन गया है, गुणात्मक नहीं रहा है, ऐसा भी मैं नहीं मानता। क्रान्ति के काम में व्यापकता होनी ही चाहिए। उसके बिना क्रान्ति हो नहीं सकती। क्रान्ति करनी हो, तो किसी मास एक्शन का, लोक-आन्दोलन का कार्यक्रम चाहिए। अन्यथा बहुत सारे धार्मिक लोग तो अच्छे-अच्छे विचार तो हमेशा देते ही रहते हैं। लेकिन सामाजिक क्रान्ति तो एक व्यापक कार्यक्रम के बिना कभी हो नहीं सकती। इसलिए संख्या का भी महत्त्व है ही !

ग्रामदान होता है तो लोग तुरन्त दौड़ पड़ते हैं गाँव में यह जाँचने के लिए कि

गाँववाले कितना समझे हैं ? अब, मैं कहता हूँ कि किसी भी राजनीतिक दल के कार्यकर्ता को बुलाकर पूछें कि बता दो अपनी पार्टी का कार्यक्रम, समझा दो हमें। समझा देगा वह ? अच्छे-से-अच्छे कांग्रेसी नेताओं से पूछिये कि कांग्रेस-समाजवाद क्या है ? तो वे समझा सकेंगे ? फिर साधारण ग्रामीणों और छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं से आप कैसी-कैसी अपेक्षाएँ रखते हैं ? इसलिए इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए इस आन्दोलन के विषय में सोचें।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज तक जो काम हुआ है, वह भले कागजी ग्रामदान ही हुआ हो, लेकिन इसके कारण आगे के काम की अनुकूल भूमिका बनी है। यदि हम शुरुआत से ही छोटे-छोटे क्षेत्र लेकर काम करने जाते, तो समाज के परिवर्तन के लिए व्यापक क्रान्ति का कोई स्वरूप ही हमारी नजरों के सामने न आ पाता। इसलिए जो हुआ है उसका मुझे सन्तोष है। मैं यह नहीं मानता कि जनता का ध्यान इस काम की तरफ नहीं है।

हम गांधीजी से यही कहते थे !

दुनिया के इतिहास में ऐसा कोई भी आन्दोलन नहीं है, जिसकी प्रगति का ग्राफ हमेशा ऊपर ही चढ़ता हो। आन्दोलन के ग्राफ में तो चढ़ाव-उतार होता ही रहेगा। क्रान्तिकारी हंगेरियन लेखक आर्थर कस्लर एक बार मुझे इंग्लैण्ड में मिले। उन्हें सर्वोदय-आन्दोलन में काफी रुचि है। आन्दोलन के सम्बन्ध में बातें करते-करते उन्होंने मुझे एक चीनी कहावत सुनायी : मछुआरों के जीवन के दो 'काल' होते हैं, एक जाल डालकर मछलियाँ पकड़ने का और दूसरा जाल को सुखाकर पुनः पानी में डालने की तैयारी का। आन्दोलनों में भी ऐसे काल घूम-फिरकर आया करते हैं—मछलियाँ पकड़ने का और जाल सुखाने का। अपनी आजादी के आन्दोलन का ही उदाहरण लें। देश को आजादी मिलनी चाहिए, इसके लिए उस समय जनता में लगभग सर्वानुमति थी। पूर्ण स्वराज के विरुद्ध बहुत थोड़े ही लोग थे। गांधी जैसा अद्‌भुत नेता था, फिर भी उस आन्दोलन में कितने ज्वार-भाटे आये ! जब कि आज सर्वोदय के लिए उतनी सर्वानुमति नहीं है, फिर भी हमें हृदय-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन द्वारा एक अभिनव क्रान्ति लानी है। यह कोई छोटा-मोटा काम नहीं है।

गांधीजी के आन्दोलन में चढ़ाव-उतार बहुत आये। लोगों को लगता कि अब खत्म, अब आशा नहीं ! लेकिन गांधीजी आत्मविश्वास की अमर ज्योति लेकर आगे बढ़ते गये, बढ़ते गये। मुझे याद आता है वह पहले का जमाना, स्वराज्य की लड़ाई का जमाना, जब हम लोग जवान थे। हम जेल जाते, तब

वहाँ रात-दिन चर्चा चलती कि क्या इस सत्याग्रह से स्वराज्य मिलेगा ? जेल भरने से स्वराज्य मिलेगा ? हम जवान लोग गांधीजी से बहस करते, हमारे असन्तोष और क्षोभ से प्रकट होता कि आज देश की जो हालत है, उसमें आपके रचनात्मक कार्यक्रम से क्या होनेवाला है ? हम लोगों को लगता कि अंग्रेज कितना अन्याय कर रहे हैं, देश में कितना अत्याचार हो रहा है, भगतसिंह को फाँसी दी गयी और भी क्या-क्या नहीं हुआ, लेकिन यह बुड्ढा बस चरखे की ही बात करता है, रचनात्मक कार्यक्रम के ही गीत गाया करता है ! कभी नमक बनाने की बात करता है, तो कभी व्यक्तिगत सत्याग्रह कराता है । और उधर अंग्रेज सरकार ऐसी चिपककर बैठी है कि जरा भी टस-से-मस नहीं होती । इसलिए हम कहते कि दूसरा अचूक और प्रभावकारी कार्यक्रम होना चाहिए, लड़ाई में तीव्रता आनी चाहिए आदि । पर गांधीजी तो एक ही जवाब देते कि मेरे पास देश को देने के लिए इस रचनात्मक कार्यक्रम के सिवा दूसरा कुछ नहीं, स्वराज पाने के लिए इसको ही पकड़े रहना है ।

आन्दोलन के नेता में हिम्मत हो

आज ग्रामस्वराज के लिए विनोबा के त्रिविध कार्यक्रम के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी है । मेरा यह मानना है कि आज की परिस्थिति में इसके सिवा दूसरा कोई कार्यक्रम हमारे पास नहीं । इसीलिए जब विनोबाजी ने भी गांधीजी की तरह ही कह दिया कि मेरे पास अब देने के लिए इस त्रिविध कार्यक्रम के सिवा दूसरा कुछ नहीं रहा, तब मैं बहुत खुश हुआ । आन्दोलन के नेता में ऐसा कहने की हिम्मत होनी चाहिए ।

यों देखा जाय तो इस आन्दोलन को शुरू हुए अभी कितने साल हुए हैं ? हाँ, आज जमाने में ही तीव्रता आ गयी है, इसलिए हमारे अन्दर भी तीव्रता आनी चाहिए । लेकिन साथ-साथ क्रान्तियों का इतिहास भी देखें और इन बीस वर्षों में जो कुछ हुआ है, उसका सम्यक् मूल्यांकन भी करें । क्योंकि संतुलित और स्वस्थ दृष्टि के अभाव में ही हमें बार-बार महसूस होता रहता है कि 'इम्पेक्ट' नहीं पड़ता और हम व्यग्र होते रहते हैं कि किस प्रकार कार्यक्रम में तीव्रता लायी जाय ।

तीव्रता तो विनोबाजी के मन में भी कोई कम नहीं है । उन्होंने सत्तावन में ही भूमि-क्रान्ति पूरी कर डालने की बात कही ही थी । उनकी इस बात का अर्थ यह है कि यदि सारा देश इस काम के पीछे लगा होता, तो यह काम सत्तावन में ही पूरा हो गया होता । गांधीजी ने भी एक वर्ष में स्वराज्य ला देने की बात कही थी ! किन्तु हमने देखा कि उसके बाद भी स्वराज्य आने में २६ वर्ष लग गये ।

इसीलिए मैं कह रहा था कि विनोबाजी के मन में भी तीव्रता की कमी नहीं। लेकिन उनका दृढ़ विश्वास है कि जो त्रिविध कार्यक्रम हमने उठाया है, वह अपने में सम्पूर्ण है, इसलिए इधर-उधर दूसरा कुछ तलाशने की जरूरत नहीं है। ऐसी दृढ़ आस्था के अभाव में ही लोग इधर-उधर निगाह दौड़ाते रहते हैं।

बुद्धिपूर्वक ग्रहण और श्रद्धापूर्वक काम

किसी भी विचार, किसी भी कार्यक्रम, किसी भी आन्दोलन के लिए कोई भी यह नहीं कह सकता कि उसमें शंका की कोई गुंजाइश ही नहीं है। प्रश्न तो अनेक उठने ही चाहिए। प्रश्न-परिप्रश्न से ही विचार आगे बढ़ते हैं, ज्ञान-विज्ञान का विकास होता है। लेकिन इसके साथ-साथ जीवन में श्रद्धा का भी स्थान है। हर समय केवल शंकाएँ ही करते रहेंगे, तो हेमलेट जैसी ही दशा होगी। आखिर काम होगा श्रद्धा से ही। जीवन के हरएक क्षेत्र में अगला कदम श्रद्धापूर्वक ही उठाना पड़ता है।

गांधीजी के समय में कैसे-कैसे महारथी थे! पण्डितजी, सरदार पटेल, राजाजी, मौलाना, राजेन्द्रबाबू आदि। कितने-कितने प्रश्न उठते थे। फिर भी श्रद्धा थी गांधीजी में। इसलिए उन पर श्रद्धा रखकर सब लोग कूद पड़ते थे। इस श्रद्धा के कारण ही जो कुछ हो सका, हुआ। मैं खुद यह नहीं कहता कि विनोबा की सभी बातें मुझे मान्य हैं। किन्तु मुझे उन पर तथा उनके इस कार्यक्रम पर श्रद्धा है। इसलिए मेरी जो भी शक्ति है, वह इस कार्यक्रम में लगाता हूँ। हमें तथ्य को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करना चाहिए और श्रद्धापूर्वक काम करना चाहिए। इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं।

क्या विनोबा गांधीजी को समझते ही नहीं?

सत्याग्रह की बात भी हमेशा होती रहती है। और यह कहा जाता है कि गांधीजी सत्याग्रह करते थे और विनोबा नहीं करते, इसलिए उनके काम का प्रभाव समाज पर नहीं पड़ता। एक बार श्री एस० एम० जोशी ने किसीसे कहा था कि जयप्रकाश तो अभी एस० पी० (सर्वोदय पार्टी) में हैं, मैं उन्हें एस० एस० पी० (सर्वोदय सत्याग्रह पार्टी) में लाऊँगा। तो, ये सब लोग क्या मानते हैं? क्या उन्हें ऐसा लगता है कि विनोबा गांधीजी को समझते ही नहीं? विनोबा का तो दावा है कि ग्रामदान-आन्दोलन एक व्यापक सत्याग्रह ही है। आज गांधीजी होते, तो वे भी ऐसा ही कुछ करते। प्यारेलालजी कहते हैं कि स्वराज के बाद गांधीजी कोई व्यापक कार्यक्रम शुरू करने की सोचते थे। उन्होंने यह भी कहा था कि यह कार्यक्रम अंग्रेजों को निकालने जैसा नकारात्मक नहीं होगा, विधायक होगा।

मैंने इस सम्बन्ध में बहुत सोचा है। मुझे लगता है कि ग्राज सत्याग्रह एक ऐसा शब्द बन गया है, जिसका बिना समझे-बूझे ही चलते-फिरते प्रयोग किया जाता है। वास्तव में देखा जाय तो ग्राज की सरकारों को जनता ने चुना है; इसलिए सत्याग्रह का स्थान ब्रह्मास्त्र का है। प्राचीन काल में गुरु पात्र देखकर ही ब्रह्मास्त्र का मन्त्र देते थे ग्रौर साथ-साथ यह भी कहते थे कि विशिष्ट ग्रौर ग्रनिवार्य परिस्थिति में ही इसका उपयोग करें। यदि इसका दुरुपयोग होगा, तो उसमें से शक्ति निकल जायगी। ग्राज राजनीतिक दलों तथा ग्रन्य ग्रनेक संगठनों ने सत्याग्रह-शस्त्र का दुरुपयोग कर उसे समाप्त कर दिया है, जब कि विनोबा सतत एक बुनियादी सत्याग्रह के काम में लगे हैं।

यों इस देश में ग्रन्याय, जोर-जुल्म ग्रादि की तो कोई कमी नहीं। ग्रनेक प्रश्नों को लेकर प्रदर्शन, प्रतिकार ग्रौर सत्याग्रह हो सकते हैं। लेकिन तब तो ग्रापकी पद-यात्रा के बदले ग्रश्व-यात्रा निकलेगी ! विनोबा क्या किसी तरह का प्रतिकार करने से डरते हैं ? या हम लोग डरते हैं ? मुझे तो न बम का डर है, न पिस्तौल का। यह सब देख चुका हूँ। भूमिगत था तब जान हथेली पर रखकर घूमना पड़ता था, इसलिए डरने की कोई बात नहीं है। लेकिन क्या इधर-उधर सत्याग्रह कर देने से सर्वोदय हो जायगा ? क्या इससे समाज में परिवर्तन ग्रा जायगा ? जरा गहराई से सोचना चाहिए।

ग्राज की परिस्थिति में सत्याग्रह का देशव्यापी कोई ग्रान्दोलन चल सकता है, ऐसा मुझे तो नहीं लगता। सत्याग्रह का ऐसा कोई ग्रखिल भारतीय स्वरूप मुझे नहीं दीखता। क्या है परिस्थिति ग्राज की ? एक ग्रोर जनता इंदिरा के पक्ष में है, दूसरी ग्रोर मार्क्सवादियों के पक्ष में है, तीसरी ग्रोर द्रविडमुनेत्र कड़गम के पक्ष में है ग्रौर चौथी ग्रोर ग्रकालियों के पक्ष में है। पूरी जनता इस तरह बँटी हुई है। इसमें ग्राप कहाँ ग्रौर कैसा सत्याग्रह करेंगे ?

सत्याग्रह का अवसर नहीं ढूँढ़ते फिरते

यह सब मैं सत्याग्रह का विरोध करने के लिए नहीं कह रहा हूँ। मौका पड़ने पर सत्याग्रह करना पड़ता है। लेकिन वह परिस्थिति में से पैदा होता है, न कि किसी फार्मूले से। मौका खोज-खोजकर सत्याग्रह नहीं किया जाता। हम एक बुनियादी काम कर रहे हैं, उसमें कभी ऐसी परिस्थिति ग्रा सकती है, जब हमें स्वाभाविक ही सत्याग्रह का मार्ग ग्रपनाना पड़ जाय। गांधीजी सत्याग्रह के मौके नहीं तलाशते फिरते थे, परिस्थिति जब उन्हें मजबूर कर देती थी, तभी सत्याग्रह करते थे। जैसा कि शेख मुजीब के सामने एक परिस्थिति खड़ी हुई। लगभग

६८ प्रतिशत वोट उनके समर्थन में मिले। यह फैसला था बांगला देश की सम्पूर्ण जनता का। और इसीलिए वे वहाँ एक अभूतपूर्व असहयोग आन्दोलन खड़ा कर सके।

इसलिए हम अपना बुनियादी काम करते जायँ और उस दरमियान यदि कोई प्रसंग आ जाय तो जरूर सत्याग्रह करें। खुद विनोबा ने ही कितनी बार कहा है कि किसी किसान की जमीन छीनी जाती हो, उस वक्त जरूर सत्याग्रह करना चाहिए। एस० जगन्नाथन् ने तथा कई दूसरे लोगों ने बीच-बीच में ऐसे सत्याग्रह किये भी हैं। लेकिन हम सत्याग्रह नहीं करते, इसलिए हमारा कोई असर नहीं पड़ता, इस दृष्टि से सत्याग्रह के अवसर ढूँढ़ते फिरना, यह कोई अहिंसा की पद्धति मुझे तो नहीं लगती।

इस प्रक्रिया में आत्मस्फूर्ति होती है

मैं तो देखता हूँ कि गांधीजी के जीवन में और अहिंसा के अन्य प्रवर्तकों के जीवन में एक spontaneity (आत्मस्फूर्ति) होती है। ऐसी कोई परिस्थिति आती है, जो असह्य होती है, तो सहज ही वे सत्याग्रह का मार्ग पकड़ लेते हैं। तब वे किसीसे पूछने के लिए नहीं रुकते या कोई मीटिंग नहीं बुलाने जाते। यह जो आत्मस्फूर्ति है, वह हरएक सत्याग्रही में होनी चाहिए।

किसी गरीब की झोंपड़ी कोई उजाड़ रहा हो, तो क्रोध आ ही जाता है। और उसमें से अहिंसक कदम उठते हैं। पुण्य-प्रकोप नहीं होता, तो अहिंसक कदम भी नहीं उठते। वह कदम प्रेम और करुणामूलक ही होगा, लेकिन उसकी शुरुआत पुण्य-प्रकोप की परिस्थिति में से होगी।

मैंने मुसहरी में ग्रामदान-पुष्टि का काम उठाया है। मैं अपने इस काम को सत्याग्रह ही मानता हूँ। वहाँ गाँवों में प्रत्यक्ष लोगों के बीच रहकर काम करना पड़ता है। रूबरू बातें होती हैं। मैं उन चेहरों को देखता हूँ। उनकी शक्ल-सूरत देखता हूँ। जीते-जागते लोग एक-दूसरे के सामने बैठे हैं। मैं नजर डालता हूँ और मुझे लगता है कि अभी एक और मौका देना चाहिए। कभी मन में प्रकोप भी जगता है। फिर भी लगता है कि अभी मौका देना चाहिए।

सत्याग्रह विशिष्ट परिस्थिति में ही जन्म लेता है!

लेकिन ऐसी स्थिति भी आ सकती है, जब हृदय-परिवर्तन के लिए दूसरे कदम उठाने की जरूरत पड़े। और वह भी उनके ही हित के लिए, गाँव के हित के लिए,

समाज के हित के लिए । उस वक्त मुझे अपने ऊपर ही सब कष्ट सहन करने होंगे । उनका कुछ बिगाड़ना नहीं, फिर भी ऐसी कोई प्रक्रिया होगी कि उन पर असर हो ।

अब यह जो विशिष्ट परिस्थिति है, जिसमें से शायद सत्याग्रह जन्म ले, वह लोकतान्त्रिक व्यवस्था में एकाएक नहीं उठ खड़ी होती, किसी खास सयोग में परिस्थिति के पकने पर ही खड़ी होती है । कोई यह कहे कि देखो, हम तो पहले से ही कहते थे, अब २० वर्षों बाद आखिर सत्याग्रह की बात पर आये कि नहीं—तो यह उचित नहीं है । प्रेमपूर्वक सेवा करते-करते, उन्हें मदद करते-करते कभी यह अगला कदम उठाना पड़ ही जाय । लेकिन ऐसी कोई आवश्यकता न खड़ी हो, तो उसके लिए कोई आतुरता भी नहीं है ।

डाल-पत्ते तोड़ते रहने से कुछ नहीं होगा

सत्याग्रह के बारे में मेरी भूमिका यही है । इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण विनोबाजी के साथ बिलकुल मिलता है । हमें जड़ तक जाना है, यह विनोबा की दृष्टि है । डाल-पत्ते तोड़ते रहेंगे तो नहीं चलेगा । जड़ में ही प्रहार करना पड़ेगा । सारे शरीर में फोड़े हुए हों, तब एक-एक फोड़े का अलग-अलग इलाज करने से नहीं चलेगा । उसका इलाज रक्तशुद्धि ही हो सकता है । हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि समाज के फोड़े हैं, रक्तदोष के लक्षण हैं ।

यह बात सबके ध्यान में आनी चाहिए कि आज हमारे सामने जो अनेकानेक समस्याएँ हैं, उनकी जड़ में कुछ खास बातें हैं । कई कारणों से ये समस्याएँ खड़ी हुई हैं । समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था में कितने ही गलत मूल्य हैं । मूल्य बदले बिना इन समस्याओं का समाधान नहीं होगा । इसलिए इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें जड़ तक जाना होगा । एक-एक समस्या को हाथ में लेकर लड़ते रहने का कोई अर्थ नहीं है । सम्पूर्ण व्यवस्था को जड़ से बदलने का प्रयास करना चाहिए । यह काम केवल दिखावा करने या जेल जाने से नहीं होगा ।

यह आन्दोलन सत्याग्रह की ही एक प्रक्रिया

ग्रामदान-आन्दोलन बुनियादी परिवर्तन लाने का एक प्रयास है । यह विनोबा की प्रतिभा है कि समग्र क्रान्ति (total revolution) के लिए ऐसा एक कार्यक्रम उन्होंने जनता के समक्ष रखा और इतने लोगों को इसमें खींचा । इस आन्दोलन की सम्पूर्ण प्रक्रिया सत्याग्रह की ही प्रक्रिया है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

इसलिए दूसरी-तीसरी बातों में उलझे बिना इस मूलभूत कार्यक्रम में सबकी शक्ति लगनी चाहिए । और इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अहिंसक

पद्धति से समाज-परिवर्तन और नवनिर्माण का काम आज तक दुनिया में कभी हुआ नहीं है। यह अत्यन्त कठिन काम है। बहुत कठिन पुरुषार्थ करना पड़ेगा। इसलिए ऐसे नये और कठिन काम में इम्पेक्ट वगैरह का विचार किये बिना अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से उसमें खपा देना होगा। खाद बन जाने की तैयारी इसमें तो होनी चाहिए। जैसे कि जमीन में खाद डाली गयी होती है तो भी पता नहीं चलता कि खाद डाली गयी है। लेकिन उसमें से अंकुर फूटते हैं, पौधे निकलते हैं, फल-फूल लगते हैं। मिट्टी में मिल जाने की ऐसी तैयारी हमारी होनी चाहिए।

मुसहरी के प्रत्यक्ष काम का अनुभव १४

ग्रामदान-आन्दोलन व्यापक प्रचार की पहली मंजिल अब पार कर चुका है। देशभर में ग्रामदान के विचार को प्रसारित करना तथा ग्रामदान के कार्यक्रम और शर्तों के संकल्प-पत्र पर हस्ताक्षर करवाना यह पहला कदम था। ग्रामदान के ये संकल्प-पत्र declaration of intent—भावनात्मक अभिव्यक्ति की घोषणा है। देशभर में डेढ़ लाख गाँवों ने इस तरह ग्रामदान के विचार को अपनाया है। और इनमें से सैकड़ों गाँव ऐसे हैं, जहाँ ग्रामदान होने के बाद नैतिक तथा भौतिक दोनों दृष्टियों से बहुत प्रगति हुई है। कितने गाँवों में ग्रामसभा सक्रिय रूप से काम कर रही है, हजारों रुपयों के ग्रामकोष एकत्र हुए हैं, उत्पादन पहले की अपेक्षा दुगुना-तिगुना हुआ है, जमीन के झगड़े सुलझे हैं या समाप्त हुए हैं और परस्पर सहकार की भावना पैदा हुई है।

ग्रामदान-संकल्प-पत्र भराने का यह जो कार्यक्रम चला, उससे आन्दोलन की एक भूमिका बनी है। अब आन्दोलन इन संकल्पों की पूर्ति कराने की दूसरी महत्त्व-पूर्ण मंजिल पर पहुँच रहा है। अब संकल्पों को व्यवहार में लाने का समय आ गया है। सबको व्यवहार में उतारना है। और तब तीसरी मंजिल शुरू होगी——गाँव से लेकर ऊपर तक आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक विकास की। हमें अपने सपने को धरती पर साकार करने की कोशिश करनी है, ग्रामदान से ग्रामस्वराज की स्थापना करनी है।

अचानक ही वहाँ बैठने का निर्णय हुआ

इसी दृष्टि से आज देश के ग्रामदानी क्षेत्रों में ग्रामदान-पुष्टि और ग्रामस्वराज्य के सघन काम शुरू किये गये हैं। मैंने भी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के मुसहरी विकास-प्रखण्ड में ऐसा सघन काम शुरू किया। यों मुसहरी-प्रखण्ड में सघन काम करने का निश्चय अकस्मात् ही हुआ। मैं वहाँ गया, कुछ काम किया, लेकिन वह सब पहले से सोचकर नहीं, सहज भाव से जो समझ में आया, वही किया। इसमें नक्सलवादियों की प्रवृत्ति निमित्त बनी।

मुसहरी-प्रखण्ड में नक्सलवादी लोग सक्रिय थे। उन्होंने वहाँ सशस्त्र डकैती और कितनी ही हत्याएँ की थीं। पूरे प्रखण्ड में आतंक का वातावरण था। मई '७० के महीने में, मैं जब उत्तराखण्ड की यात्रा पर था, तब मुझे बिहार से निर्मला देशपांडे का एक पत्र मिला। उसमें लिखा था कि मुसहरी-प्रखण्ड के दो सर्वोदय-कार्यकर्ताओं को नक्सलवादियों ने मृत्यु के परवाने दिये हैं।

निर्मला का पत्र मिला और तुरन्त अपनी पत्नी प्रभावती के साथ बातें कर मैंने मुसहरी में जम जाने का निश्चय कर लिया। तब मैं किसीसे पूछने के लिए नहीं रुका। हृदय और मस्तिष्क दोनों ने असाधारण रूप से एकमत होकर अविलम्ब कुछ करने के लिए प्रेरित किया। हृदय ने, हर मानवीय हृदय की भाँति, आदेश दिया कि जिन्हें हत्या की धमकी दी गयी है, मैं उनके बीच फौरन् पहुँच जाऊँ और उनके संकट में भागीदार बनूँ। मस्तिष्क ने बार-बार कहा कि नक्सलवादियों की धमकी यह सिद्ध कर दिखाने के लिए एक त्वरायुक्त आह्वान है कि किस प्रकार हिंसा की चुनौती का उपयोग ठोस कार्य द्वारा विनोबाजी के ग्रामदान-ग्रामस्वराज के रूप में शुरू की गयी अहिंसक समाज-परिवर्तन एवं पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को तेज करने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार तलाश की भावना से एक छोटा-सा कार्यक्रम लेकर मैं इस क्षेत्र में इस संकल्प के साथ आया कि 'या तो यह काम पूरा होगा या मेरी हड्डी गिरेगी।'

इसे कोई नाटकीय रंग देने की जरूरत नहीं

मेरी इस घोषणा को समाचारपत्रों ने तथा रेडियो ने सहज ही नाटकीय रूप दे दिया और यह खबर प्रसारित की गयी कि मैंने नक्सलवादियों की 'चुनौती' स्वीकार कर ली है और उनसे 'लड़ने' का फैसला किया है। शायद सनसनीखेज समाचार की अपनी भूख मिटाने के लिए ही समाचारपत्रों ने ऐसे और समाचार भी प्रकाशित किये।

निस्सन्देह मानवोचित अहं-भावना कुछ मेरे हिस्से भी पड़ी है। लेकिन मैं खास तौर से एक अहंकारी व्यक्ति हूँ, ऐसा नहीं है। जब मैं राजनीति में था और तरुण था, उन दिनों भी राजनीतिक विरोधियों को चुनौती देने या उनके विरुद्ध युद्ध घोषित करने की मेरी आदत नहीं थी। इसलिए अखबारवाले मेरे इस कार्यक्रम को नक्सलवाद के विरुद्ध 'लड़ाई' की संज्ञा देना चाहें तो दें, लेकिन मैं तो उस दृष्टि से अपने इस कार्य को नहीं देखता। मेरा काम निषेधात्मक नहीं, विधायक है।

मुसहरी में मैंने जो काम उठाया, वह मेरी दृष्टि में किसीके विरुद्ध लड़ाई नहीं थी। बल्कि वह सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के लिए संघर्ष था। सच तो यह है कि मेरे कार्य के बारे में जो कुछ कहा गया, उसके बिलकुल विपरीत, अत्यन्त नम्रतापूर्वक और प्रार्थनापूर्वक मैंने वर्तमान कार्य उठाया। मेरे इस कार्यक्रम को 'क्रान्तिकारी' भी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि कुछ सर्वोदय-पत्रिकाओं ने इस रूप में उसका चित्रण किया।

उस क्षेत्र में चार महीनों में ही ग्रामस्वराज्य का जो काम हुआ, उसके कारण वहाँ के वातावरण में एक परिवर्तन आया। पहले इन गाँवों में लाल सलाम, कत्ल, नक्सलवादी उत्पात की ही बातें घर-घर होने लगी थीं। अँधेरा होने के बाद घर से बाहर निकलने में लोग डरते थे। किन्तु अब इस आतंक का वातावरण दूर हुआ और गाँव-गाँव ग्रामदान और सर्वोदय की बातें होने लगीं। लोगों की चर्चाओं का विषय बदल गया। पहले जहाँ 'माओ जिन्दाबाद' के नारे दीखते थे, वहाँ अब दूसरे नारे भी दीवालों पर आ गये। सामाजिक चेतना पर इस ग्रामदान के काम का इतना असर जरूर हुआ। वैसे मैं तो ग्रामस्वराज्य का ही काम कर रहा था। लेकिन उसे अधिक गतिशील और प्रभावशाली बनाने की जरूरत मालूम हुई, इसलिए मुसहरी के काम में लगा।

गाँवों की वास्तविकता का निकट से दर्शन

यद्यपि गाँवों में सघन कार्य करने का यह पहला अवसर मेरे लिए नहीं था; फिर भी इतना अवश्य था कि अनिश्चित काल तक के लिए पहले-पहल एक सीमित ग्रामीण क्षेत्र में ऐसा सघन कार्य करने हेतु इस प्रकार मैं जाकर बैठा। इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि गाँवों की वर्तमान सामाजिक, आर्थिक वास्तविकताओं का निकट से दर्शन हुआ।

मुसहरी-प्रखण्ड में भूमि-मनुष्य का अनुपात (केवल खेती की भूमि को लेते हुए) प्रतिव्यक्ति ३० डिसमल है। जमीन के भाव अतिशय ऊँचे हैं। लगभग सवा लाख जनसंख्यावाले इस प्रखण्ड की खेतिहर-मजदूर आबादी अपने आश्रितों को लेकर पूरी ग्रामीण आबादी का ३९.२ प्रतिशत है। अगर हम इस संख्या में शहर में जाकर रोटी कमानेवाले भूमिहीन मजदूरों की संख्या जोड़ दें, तो अपने आश्रितों के साथ भूमिहीन मजदूरों का अनुपात कुल ग्रामीण आबादी के ४५ प्रतिशत से कम नहीं होगा।

उक्त कारणों से भूमिवान् परिवारों का यहाँ असाधारण प्रभुत्व है। मजदूरी की दर, खासकर 'संलग्न' मजदूरों (कमियों) की मजदूरी अपवादरूपेण बहुत ही

कम है, घोर बेकारी है तथा खेतिहर मजदूरों में हद दर्जे की गरीबी और व्यापक असन्तोष का वातावरण वहुत है । इस क्षेत्र के गाँवों की स्थिति नैतिक तथा भौतिक दोनों दृष्टियों से दयनीय है । सामुदायिक जीवन लगभग समाप्त हो गया है । सामूहिक अस्तित्व की भावना का सर्वत्र अभाव है । गाँव आन्तरिक विग्रह और गुटबन्दी से जर्जर तथा मुकदमेबाजी, तनाव और नैतिक अराजकता के शिकार हो गये हैं । सामाजिक एवं आर्थिक विषमता, शोषण, अन्याय, उत्पीड़न का दृश्य सामान्यतः सर्वत्र अपने उग्र रूप में उपस्थित है । आज गाँव-गाँव दुर्योधन के दरबार हैं । द्रौपदी का चीरहरण हो रहा है और भीष्म, द्रोण, विदुर आदि चुप बैठे हैं । गाँवों में अनेक तरह के अन्याय हो रहे हैं, किन्तु कोई कुछ नहीं बोलता ।

यह जाहिर है कि अगर गाँवों को इस गर्त से निकालने के लिए शीघ्र ही कुछ नहीं किया जाता, तो ये उसमें और भी डूबते जायेंगे, साथ ही सारे देश को ले डूबेंगे ।

काम के पीछे हमारा दृष्टिकोण

ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि वहाँ हमारी उपस्थिति को लोग अपनी जीवन-प्रणाली में, जिसके वे अभ्यस्त हैं, अनुचित हस्तक्षेप समझते । लेकिन ऐसा भी अनुभव आया कि हर पंचायत में एक या एकाधिक व्यक्ति ऐसे मिले, जिन्होंने हमारा स्वागत किया और हमारी मदद करने के लिए आगे आये । और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया—तथा हम धैर्य और दृढ़ता के साथ अपने मिशन में लगे रहे, त्यों-त्यों वायुमण्डल क्रमशः बदलता गया और लोग हमारी बातों पर ध्यान देने लगे ।

सामान्यतः भूमिहीन मजदूर सबसे पहले हमारी तरफ मुखातिब हुए और इसके बाद छोटे किसान । धीरे-धीरे मध्यवर्ती किसान भी आये और एक समय आया, जब बड़े किसानों का विरोध भी टूटने लगा । महाजन लोग सबसे आखिर में बदले । अवश्य ही इस सामान्य नियम के अपवाद भी मिले ।

बड़े किसानों के गले में जो बातें अटकती-सी मालूम हुई, वे हैं : (१) भूमि की मालकियत का अधिकार छोड़ने तथा (२) ग्रामसभा की प्रत्यक्ष लोकशाही में शामिल होने की शर्त । उनकी सामंतवादी मनोवृत्ति एवं कुलीनता की भावना उन्हें ग्रामसभा में निहित राजनीतिक समानता को कबूल करने से रोकती है । यद्यपि उन्हें विश्वास दिलाया जाता है कि ग्रामसभा के जो निर्णय होंगे, वे सर्वसम्मति से या ग्राम राय से ही होंगे, फिर भी वे गरीबों के विशाल बहुमत से भय खाते हैं ।

हमारा ट्रेड यूनियन का दृष्टिकोण नहीं है और न इस दृष्टिकोण से एक ऐसी परिस्थिति में सफल होने की आशा है, जहाँ भूमिहीन-मजदूर सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से इतना कमजोर है । अपने दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए हमें

आशा है कि बाद में कभी कुछ चुने हुए मजदूरों और किसानों की एक बैठक बुलाकर उन्हें अपनी-अपनी समस्याओं पर परस्पर विचार-विमर्श करने के लिए प्रेरित कर सकेंगे।

आज तो मालिक की शिकायत है कि मजदूर पूरा काम नहीं करता। और मजदूर कहता है कि मेरा पेट नहीं भरता, तो मैं कैसे काम कर सकूँगा? तो, अब समय आ गया है, जब कि दोनों आमने-सामने बैठें और एक-दूसरे से बात करें। मालिकों को कितना पोसाता है, वह भी देखना पड़ेगा और मजदूरों को कम-से-कम कितना मिलना चाहिए, यह भी देखना पड़ेगा। इस तरह आमने-सामने बैठाकर एक-दूसरे को समझाने की कोशिश करने से ही समस्या हल होगी। केवल घोषणाएँ करने से या कानून बना देने से कभी कोई समस्या का हल होनेवाला है नहीं।

मेरी दृष्टि समग्र क्रान्ति की

मुसहरी में मैंने जिस काम की शुरुआत की, उसके पीछे मेरी दृष्टि केवल ग्रामदान की शर्तों की पुष्टि करानी ही नहीं, बल्कि समग्र क्रान्ति की रही। एक प्रखण्ड के स्तर पर ग्रामस्वराज की दिशा में जितना हो सके, उतना करने का मेरा प्रयत्न रहा। जहाँ भूमिका तैयार हुई, वहाँ काम शुरू हुआ। अहिंसा और ग्राम-स्वराज के रास्ते हम कितना आगे बढ़ सकते हैं, यह मुसहरी में मैंने अनुभव किया।

एक समग्र दृष्टि के साथ वहाँ काम शुरू किया। एक काम पूरा हो जाय, तब दूसरा हाथ में लेंगे, ऐसा मैं नहीं सोचता। सब काम साथ-साथ चलेंगे। एकांगी होने से काम चलेगा नहीं। काम करते-करते अनुभव होते हैं तो उनसे काफी सीखने को मिलता है।

वहाँ ग्रामदान की शर्तें पूरी करने की कोशिश हुई। उसके साथ-साथ बासगीत भूमि के पर्चे दिलाने, गाँव में तरुण शान्ति-सेना संगठित करने, सिंचाई तथा पीने के पानी की व्यवस्था करने आदि के काम भी साथ-साथ चले। कितनी जगह देखा कि बीस-बीस वर्षों से मुकदमे चल रहे हैं। अब यदि इस मुकदमेबाजी को जड़ से नहीं उखाड़ेंगे, तो ग्रामस्वराज टूट जायगा। कई गाँवों में कोशिश करने पर बहुत से पुराने मुकदमे वापस लिये गये और झगड़ों का निपटारा हुआ। मैं मानता हूँ कि इस तरह गाँवों की कठिन समस्याएँ भी सुलझायी जा सकती हैं।

गाँव-गाँव में नया नेतृत्व खड़ा हो रहा है

ग्राम-सभाएँ बनती हैं, उस सन्दर्भ में गाँव-गाँव एक नया नेतृत्व खड़ा होता है। तो उसकी शक्ति बढ़े, इसके लिए बहुत कोशिश करनी पड़ेगी और गाँवों की

समस्याओं की गहराई में जाना पड़ेगा। ग्रामसभा बनी यानी ग्रामस्वराज की स्थापना हुई। यह गाँव की लोकसभा है। वास्तव में यही सच्ची लोकसभा है, जिसमें प्रत्यक्ष लोक 'फंक्शन' करता है। हम ग्रामसभाओं से ग्रामदान की चार शर्तों के अतिरिक्त ११ संकल्प लेने के लिए कहते हैं : गाँव में शान्ति रखेंगे, गाँव का कोई झगड़ा अदालत में नहीं जायगा, जाति और धर्म आदि के भेदभाव मिटायेंगे, शराब आदि व्यसनों से दूर रहेंगे और सबसे मुख्य बात यह कि गाँव में कोई भूखा, बेकार, बेघर नहीं रहेगा, इसकी जिम्मेदारी ग्रामसभा उठायेगी।

यह सब ग्रामसभा बन जाने पर अपने-आप नहीं हो जायगा। उसे मार्ग दिखाना पड़ेगा, जरूरत पड़ने पर उसकी मदद करनी पड़ेगी और धीरे-धीरे उसे ग्रामस्वराज की दिशा में आगे बढ़ाना होगा। ग्रामदान के बाद ग्रामसभा के बन जाने से इतना ही होगा कि गाँव का प्रत्यक्ष लोकतन्त्र समुचित रूप से काम कर सके, इसके लिए आवश्यक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिस्थिति तैयार होगी। लेकिन उस लोकतन्त्र को क्रियाशील बनाने के लिए बहुत कुछ करना पड़ेगा। ग्रामसभाओं को इतना साधनसम्पन्न और नैतिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाना होगा कि वे समुदाय के आन्तरिक झगड़ों को निपटा सकें, अन्याय का होना रोक सकें तथा ग्रामकोष का नियमित एकत्र संग्रह और निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप उसका विनियोग करा सकें। ग्रामसभाओं को सीखना होगा कि वे विकास की अपनी योजनाएँ कैसे तैयार करें, उनके अमल के लिए अपने साधनों का उपयोग कैसे करें तथा सरकारी एजेन्सियों, ऋणदात्री संस्थाओं एवं अन्य सूत्रों से उपलब्ध सहायता कैसे प्राप्त करें।

सरकार के लिए भी एक उदाहरण

मुसहरी में हमने छोटे किसानों की जमीन में चापाकल लगाने का काम हाथ में लिया, इस कार्य में भी बहुत अनुभव हुए और कई सबक सीखने को मिले। पाँच एकड़ तक जमीनवाले किसान को सरकार से सहायता मिलती है। लेकिन बहुत लोगों को इसकी जानकारी नहीं थी। और सरकारी तन्त्र की शिथिलता के कारण सहायता की काफी रकम का उपयोग नहीं हुआ। जब हमने यह काम हाथ में लिया, तो सरकारी तन्त्र के माध्यम से जितना काम होता, उससे कई गुना काम कम खर्च और बहुत कम समय में हमने कर दिखाया। हमारा काम देखकर बिहार के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री कर्पूरी ठाकुर को आश्चर्य हुआ। बिहार रिलीफ कमेटी के काम में भी मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ। उस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट में केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि श्री वर्धीज ने लिखा था कि 'ऐसी स्वतन्त्र एजेन्सियाँ सरकार के

लिए pace-setter (गतिवर्धक) बन सकती हैं। कम समय और कम खर्च में कैसे काम हो सकता है, इसकी यह एक मिसाल है।

इस प्रकार ये सब काम करते हुए हमें ग्रामसभाओं को आगे ले जाना है। हमारी कोशिश हो कि ये सब बातें ग्रामसभा के ध्यान में आती जायँ और ग्रामसभा स्वयं अपनी जिम्मेदारी समझने लगे। ग्रामसभा में आज यह करने की शक्ति नहीं है। लेकिन यह शक्ति उसमें आये, इस ढंग से उसको तैयार करना पड़ेगा।

विकास के प्रश्न पर भी ग्रामसभा को विचार करना पड़ेगा। गरीबी विकास-कार्यक्रमों के बिना मिटेगी नहीं। उत्पादन भी बढ़ना चाहिए, विकास होना चाहिए। केवल खेती के भरोसे रहने से नहीं चलेगा। दूसरे उद्योगों के लिए भी सोचना पड़ेगा।

जरूरत चर्चा की नहीं, प्रत्यक्ष प्रयोग की

रायपुर के सर्वोदय-सम्मेलन से* ग्रामाभिमुख खादी की बात चल रही है। खादी ग्राम-आधारित हो, ऐसी चर्चा तो बहुत हुई। लेकिन अब तक इस दिशा में कुछ हुआ नहीं। इसके लिए भी प्रयोग करने पड़ेंगे। हमने एक नकशा बनाया है। उसे कार्यान्वित करना है। उसके मुताबिक प्रत्यक्ष काम होना चाहिए।

यों देखें तो आज जिस प्रकार की संस्था-आधारित और राज्य-अभिमुख खादी चलती है, वह अब अधिक समय तक चलनेवाली नहीं है। और ग्राम-आधारित खादी का काम आज की संस्थाएँ नहीं कर सकेंगी। संस्थाओं के मौजूदा खादी-कार्यकर्ताओं का एक अपना ढर्रा बन गया है। अपनी 'लीक' पर ही वे चलते हैं। और जब तक ग्राम-भावना नहीं जगती, तब तक ग्राम-आधारित खादी नहीं बन सकेगी। इसलिए ऐसे गाँव निकलने चाहिए, जो स्वयं उद्योग खड़े कर सकें। इसके लिए ग्रामदानी गाँवों को ही शुरुआत करनी पड़ेगी।

मुसहरी में हम लोगों ने इसी दिशा में सोचा कि एक बार ग्रामसभाएँ बन जायँ तो उनके सामने यह विचार रखें। इसके लिए गाँव का सर्वेक्षण (survey) करना पड़ेगा। कितने ऐसे परिवार हैं, जो वस्त्र-स्वावलम्बन की दृष्टि से खादी अपनाना चाहते हैं। उनके परिवार में प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से कितने गज कपड़ा चाहिए। उसके लिए कितना सूत कातना चाहिए। सूत उस परिवार के लोग स्वयं कातें, इसके लिए दो तकुएवाला अम्बर चरखा चाहिए।

---

* रायपुर का सर्वोदय-सम्मेलन सन् १९६३ में हुआ था और इसमें त्रिविध कार्यक्रम स्वीकार किया गया।

इसके अलावा खादी-ग्रामोद्योग द्वारा मजदूरी देने की व्यवस्था भी करनी चाहिए । पूनी बनाये या सूत काते––मान लीजिये कि १०० में से २५ परिवारों को स्वावलम्बी बनाने का तय किया । तो बाकी ७५ परिवारों की कपड़ों की कुल जरूरत का ८० प्रतिशत कपड़ा गाँव में ही पैदा हो, ऐसा नियोजन करना चाहिए । इसके लिए गाँव में कर्मशाला (वर्कशाप) चले । उसमें उत्पादन अधिक करना है, इसलिए ६ तकुएवाला चरखा रखें । ये सभी काम ग्रामसभा करे । गाँव में सबको खादी-ग्रामोद्योग द्वारा मजदूरी मिले, यह सम्भव नहीं है । इसलिए कुछ लोगों को खादी-उत्पादन के काम में लगाना है, यह तय करना होगा । उनके काम के घण्टे, रोजी आदि ग्रामसभा तय करेगी । जो सूत कते, वह ग्रामसभा ले ले । इसके लिए ग्रामसभा को पूँजी उधार मिले, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए । यदि गाँव में बुनकर हों, तो ग्रामसभा गाँव में ही कपड़ा बुनवा ले और ग्रामवासियों को बाँट दे । मेरी दृष्टि से यह हुई ग्राम-आधारित खादी, जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, हमने इसका एक नकशा बनाया है । उसे कार्यान्वित करना है ।

ग्रामस्वराज का 'गणवेश'

विनोबाजी तो आजकल गाँवों में शक्तिचालित छोटे-छोटे कारखाने खड़े करने की बात करते हैं । बिजली का उपयोग हो, चरखे भी बिजली से चलें और गाँव की जरूरत का कपड़ा गाँव में ही पैदा कर लिया जाय । यह योजना भी मुझे मान्य है । मुझे तो 'खादी' शब्द का भी कोई आग्रह नहीं । इस तरह जो कपड़ा तैयार होगा, उसे खादी कहें या नहीं, तो भी क्या फर्क पड़ता है ? इसका कोई अर्थ नहीं है । 'खादी' न कहना हो तो 'लोकवस्त्र' कहें । मेरे दिमाग में कोई सन्देह नहीं है कि अपने देश की वर्तमान परिस्थिति में अन्न के बाद दूसरा नम्बर वस्त्र का आता है। यदि गाँव की यह जरूरत गाँव में ही पूरी की जा सके, तो गाँववाले बाजार के चंगुल से छूटें और उन्हें गाँव में ही काम मिल जाय । इसके लिए संगठन ऐसा बनना चाहिए कि गाँव के आखिरी आदमी को सबसे पहले लाभ मिले ।

इसलिए ऐसे प्रयोग भी करने होंगे । विकेन्द्रित विकास की और building from below––बुनियादी रचना की बात हम लोग हमेशा से करते आये हैं । अब इस दिशा में प्रयोग करके अनुभव हासिल करने होंगे । आज तो गाँव ही नगराभिमुख हैं, पहले उन्हें ग्रामाभिमुख बनाना है । और फिर ग्राम-आधारित खादी तथा अन्य उद्योग खड़े करने हैं । ग्रामदानी गाँव की ग्रामसभाओं को इस दिशा में प्रेरित करते रहना है ।

पाँच वर्षों में बेकारी दूर करनी है

बेकारी की समस्या पर भी जरा गहराई से विचार करना होगा। साल में कुछ समय ऐसा भी होता है, जब गाँव में आदमी खोजिये तो कोई आदमी नहीं मिलता। बहुत दफा लोग एकदम निठल्ले भी बैठे रहते हैं। कितने तो साल में त्योहार-पर्व आते हैं। कोई काम करने के लिए तैयार नही उन पर्व-त्योहारों पर। शादी का मौसम आता है, तो उन दिनों भी कोई काम नहीं करता। यानी हालत यह है कि लोग साल के ३६५ दिनों में ३०० दिन काम करने को तैयार ही नहीं। इसलिए जब तक लोगों का दिमाग नहीं बदलेगा, तब तक इसमें कोई फर्क नहीं आयेगा। इसके अलावा बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है, जो हाथ से काम करना नहीं चाहते। मध्यवर्गीय और ऊँची जाति के परिवारों की औरतें तो खेतों में काम करेंगी ही नहीं। कई ऊँची मानी जानेवाली जाति में तो पुरुष भी हल छू नहीं सकते। ऐसी परम्पराएँ चली आ रही हैं। ब्राह्मण शहर में जूतों की दूकान कर लेगा, लेकिन अपने गाँव में जाकर हल नहीं पकड़ेगा !

यह मानस-परिवर्तन का काम है। 'टोटल रेवोल्यूशन'—समग्र क्रान्ति का एक हिस्सा है। गरीबी कोई छू-मन्तर से दूर नहीं होनेवाली है। मैं सिफारिश करूँगा कि मिरडाल की पुस्तक 'चेलेन्ज ऑफ पावर्टी' आप जरूर पढ़ें। उससे अपनी समस्याओं को समझने में बहुत मदद मिलेगी। बेकारी दूर करने के लिए समग्र दृष्टि से काम करना पड़ेगा।

मैंने मुसहरी में १८ अप्रैल १९७१ की ग्रामसभा में कहा कि पाँच वर्ष में मुसहरी-प्रखण्ड में कोई बेकार न रहे, ऐसी स्थिति बनानी है। हाँ, यह जरूर है कि जो हाथ से काम करना चाहेंगे, उन्हें ही काम दिया जा सकेगा। जो मात्र टेबुल वर्क करना चाहते होंगे, उन सबको भी काम दिया ही जा सकेगा, इसका आश्वासन नहीं। और यह सब जनता का अभिक्रम जगाकर करना होगा। मैंने कहा कि यदि ग्रामसभाएँ ठीक से काम करें, तो पाँच वर्ष के अन्दर गाँव में कोई भूखा नहीं रहेगा, नंगा नहीं रहेगा, बेकार नहीं रहेगा। हरएक को ३६५ में से कम-से-कम ७०० दिनों का काम मिले और हरएक को कम-से-कम दो रुपये रोज मजदूरी मिले। ग्रामस्वराज के रास्ते इतना पाँच साल में हो सकता है।

राजनीति का हस्तक्षेप रोकना होगा

इस तरह, मुसहरी के काम के पीछे एक समग्र क्रान्ति की दृष्टि है। नहीं तो ग्रामदान की शर्तों की पुष्टि का काम किया और चले गये, तो पुनः जैसा का तैसा !

तालाब में एक पत्थर डाला और तरंगें उठीं और पुनः जल शान्त हो गया। यदि ऐसा नहीं होने देना है, तो समाज को निरन्तर प्रेरणा देते रहना होगा।

यह ठीक है कि काम बहुत ही कठिन है। जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं, गहराई में उतरते जाते हैं, वैसे-वैसे अनेक सवाल उठते हैं, अनेक मुसीबतें आती हैं। लेकिन उनका सामना करना ही पड़ेगा।

मुसहरी में हमने ग्रामसभा के प्रतिनिधियों की एक प्रखण्ड-सभा भी बनायी है। उसमें मैंने देखा कि जो लोग पहले से नेता बनते आये हैं और जिन्होंने सर्वोदय के काम में कोई खास रुचि भी नहीं ली है, वे किसी-न-किसी पद के लिए आतुर बने दीखते हैं। आदमी को जो आदत पड़ जाती है, उसे सुधारना बहुत कठिन हो जाता है। 'पद' के साथ यह धारणा दृढ़ हो गयी है कि पद मिलने पर व्यक्तिगत लाभ उठाया जा सकेगा, वाहवाही या कोई सत्ता मिलेगी। इसलिए आज पद-लोलुपता से छुटकारा नहीं मिल पाता। लेकिन सर्वोदय-विचार के अनुसार पद का महत्त्व इतना ही है कि उसके द्वारा समाज की सेवा की जा सके। इसलिए नेता बनने की भावना से जो पदाधिकारी बनेगा, वह कभी निस्पृह भाव से सेवा नहीं कर सकेगा। मुझे लगता है, सर्वोदय-दर्शन को अच्छी तरह ग्रहण करने में लोगों को काफी समय लगेगा। राजनैतिक प्रभाव और राजनैतिक दाँव-पेच के कारण ग्रामस्वराज के इस काम में बाधा पहुँचेगी। यह आन्दोलन किसी राजनीतिक दल के विरुद्ध नहीं है, बल्कि यह तो सबका सहयोग चाहता है। फिर भी हम इतना तो जरूर चाहते हैं कि ग्रामसभाओं के काम में और उसी तरह प्रखण्ड-सभा के काम में राजनीतिक दल हस्तक्षेप न करें। यह काम राजनीतिक दलबन्दी से अलग है और उसका सम्बन्ध सीधे जनता से है।

ग्रामभावना ही गरीब को उबार सकेगी

राजनीतिक दलों को तो ज्यादा-से-ज्यादा दिखावा करने और अपना लाभ कमाने में ही अधिक रुचि है। देखिये न, 'भूमि हड़पो' आन्दोलन का इतना शोर-शराबा हुआ, लेकिन क्या गाँव-गाँव पहुँचकर काम करने के लिए कोई तैयार हुआ ? मैं तो राजनीतिक दलों के इन आन्दोलनों की अपेक्षा ग्रामस्वराज के इस काम को बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। गाँववाले स्वेच्छा से आपस में बाँटकर खायेंगे और ग्रामसभा के माध्यम से ग्रामस्वराज के सहभागी बनेंगे, तभी गाँव आगे बढ़ेंगे। गाँव के स्तर पर वर्ग-चेतना या वर्ग-संघर्ष का कार्यक्रम गाँवों की मुसीबतों का निदान नहीं। आपसी विग्रहवाले समुदाय में कमजोर की हार निश्चित है। जिस समुदाय के सदस्य परिवार-भावना के साथ एक-दूसरे से मिलकर

रहेंगे, केवल ऐसे समुदाय के ही लोग लाभ पायेंगे और उसमें कमजोर लोग भी सामूहिक कार्यक्रमों के सहारे आगे बढ़ते रहेंगे।

इस तरह ग्रामदान-आन्दोलन एक नवसमाज के निर्माण का काम है। और अब वह मात्र तात्त्विक चर्चा में ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष व्यवहार की स्थिति में पहुँच चुका है। इसमें मुख्य आधार ग्रामसभाओं की सक्रियता का रहेगा, तभी गतिशीलता कायम रहेगी। ग्रामसभा को गतिशील बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि हर गाँव में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की चेतना जगाये रखनेवाला विचार-प्रेरित कम-से-कम एक व्यक्ति तो हो ही। वह व्यक्ति गाँव का सेवक भी होना चाहिए। अर्थात् उसे सेवा द्वारा गाँववालों को परिवर्तन के लिए प्रेरित करते रहना चाहिए। हम कोई गाँव-गाँव तो बैठ नहीं सकेंगे। इसलिए वहाँ का ही कोई व्यक्ति होना चाहिए। उसे आवश्यक प्रशिक्षण देना पड़ेगा। उसके लायक साहित्य आदि तैयार करना पड़ेगा।

हम तो मात्र 'केटलिटिक एजेण्ट' बने रहें

बहुत बड़ा काम है। किन्तु इतना कौन करेगा और कब करेगा, यह सोचते हुए बैठे नहीं रहा जा सकता। अन्यथा जैसा कि किसी धुनिये ने रूई से भरा जहाज देखा, तो उसे लगा कि इतनी अधिक रूई मैं कैसे धुन पाऊँगा और वह पागल हो गया, वैसा ही हाल हमारा भी होगा। इसलिए सब हम ही कर डालेंगे, यह अहंकार छोड़कर एकाग्रता और सातत्यपूर्वक अपना बुनियादी काम करते रहना है। ऐसे आन्दोलनों में ऐतिहासिक परिस्थितियाँ, कई संयोग और अन्य दूसरी अनेक प्रभावकारी शक्तियाँ काम कर रही होती हैं। अन्ततोगत्वा इतने बड़े ऐतिहासिक काम के लिए इतिहास ही मदद करता है। हमें तो मात्र 'केटलिटिक एजेण्ट' बने रहना होता है। पता नहीं, इतिहास की मदद कब और किस रूप में प्रकट होगी। लेनिन को क्या पता था कि १९१७ की नवम्बर में क्रान्ति होनेवाली है? अंग्रेज १५ अगस्त १९४७ को चले जायेंगे, ऐसी कल्पना भी क्या किसीने की थी? अतः हमें अपना काम सातत्यपूर्वक करते रहना है। हम जो मानवीय समाज स्थापित करना चाहते हैं, उसके लिए इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं। ●

१५ साथी कार्यकर्ताओं से

दो-चार बातें मैं इस आन्दोलन के अपने साथी कार्यकर्ताओं से कहना चाहता हूँ। इस तरह के अहिंसक आन्दोलनों के मुख्य आधार कार्यकर्ता ही होते हैं। जैसा कि हमने देखा, अहिंसक क्रान्ति सत्ता द्वारा कभी सम्भव नहीं हो सकती। अहिंसक समाज का निर्माण करना हो, तो सर्वप्रथम क्रान्तिकारी विचार सतत जनता के समक्ष प्रस्तुत करते रहना चाहिए। व्यापक विचार-प्रचार के बिना क्रान्ति नहीं होती। इसके लिए इस विचार में आस्था रखनेवाले कार्यकर्ताओं की एक प्रशिक्षित सेना होनी चाहिए। 'हिन्दू', 'टाइम्स', 'स्टेट्समेन' आदि पत्र इसका प्रचार नहीं करेंगे, अथवा नहीं कर सकेंगे। कार्यकर्ताओं को ही गाँव-गाँव जाकर लोगों को समझाना पड़ेगा।

फिर, यह भी समझ लेना है कि लोग केवल प्रचारक की बातें नहीं सुनेंगे, केवल प्रचार का असर भी लोगों पर अधिक नहीं पड़ेगा। इसलिए हम कार्यकर्ताओं को गाँवों में जाना है, तो वहाँ की जनता के सेवक के रूप में जाना है। हमें लोगों का विश्वास प्राप्त करके उन्हें अपने आन्दोलन के लिए तैयार करना है। यह विश्वास हम तभी प्राप्त कर सकेंगे, जब अपने आचरण द्वारा लोगों के मन पर अपनी अच्छी छाप डाल सकेंगे।

लोकमानस पर असर पड़ेगा आचरण का, चारित्र्य का !

हमारे काम का जनमानस पर उतना ही असर होगा, जितना हम अपने आचार का, चारित्र्य का चित्र पेश करेंगे। लोग देखते हैं कि हमारा आचरण कैसा है ! उसीका लोकमानस पर असर पड़ता रहता है। हमारा आचरण शिष्ट और सभ्य होना चाहिए। बैठने-उठने में शिष्टता हो, हममें प्रामाणिकता हो, हमारी बातों में सचाई हो, हिसाब-किताब में ईमानदारी हो। ये कोई संत-महात्मा के गुण नहीं हैं, बल्कि सामान्य नागरिक के गुण हैं। इसमें कोई बड़ी साधना का या तप का सवाल नहीं है। जिसे 'लोक-सेवक' बनना है, उसमें ऐसे गुण तो होने ही चाहिए। मुझे लगता है कि इस तरफ हमारा जितना ध्यान जाना चाहिए, उतना अभी गया नहीं है।

लोग तो हमारी बहुत प्रशंसा करते रहते हैं, हमारे बारे में बहुत ऊँचा ख्याल रखते हैं। किन्तु हम कितने पानी में हैं, यह हम स्वयं जानते हैं। हममें भी चारित्र्य की दुर्बलताएँ हैं। सबकी बात मैं नहीं करता, किन्तु कहीं-कहीं छोटे-छोटे पदों के लिए कटुता और गुटबन्दी भी पैदा होती है। भूदान की कितनी ही जमीन गलत ढंग से बाँटी गयी है। जिनके पास पहले से जमीन थी, उन्हें भी दी गयी। कहीं-कहीं ऐसा करने के लिए रुपया भी लिया गया, थोड़े में कहूँ तो इतना बड़ा काम, इतनी बड़ी क्रान्ति के लिए हम आगे बढ़े हैं, उसका बीड़ा हमने उठाया है, लेकिन उसके लिए हम हर तरह से अभी योग्य नहीं बन सके हैं। फिर भी, हम जैसे अधूरे लोगों द्वारा इतना सारा काम हुआ है, यह एक चमत्कार ही है। मेरा इतना ही कहना है कि यदि इतना अधूरापन हममें न होता, तो शायद अभी और अधिक काम हुआ होता।

तप-वप करने के लिए मैं नहीं कहता

परन्तु मैं यहाँ एक बात साफ कर दूं। यह सब जो मैं कह रहा हूँ, उसका अर्थ यह नहीं कि आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए अधिक तप करने की जरूरत है। तप-वप करने को मैं नहीं कहता। जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा था, इसमें तप-साधना का कोई सवाल नहीं, यह तो सामान्य नागरिक के गुण हैं, जिनकी अपेक्षा लोक-सेवकों से विशेष तौर पर की जा सकती है। बाकी, हरगिज मेरा ऐसा कहना नहीं है कि आप धोती पहनते हों, उसके बदले लँगोटी पहनना शुरू करें, अथवा आठ घण्टे सोते हों, उसके बदले चार घण्टे सोना शुरू करें। ऐसे किसी तप की हिमायत मैं नहीं करता। मुझे वह पसन्द नहीं।

इस विषय में हमारे मन में सफाई हो जाना जरूरी है। क्योंकि हमारे बीच सदा इसकी चर्चा चला करती है। कांचनमुक्ति, तन्त्रमुक्ति, अपनी माँग को अधिक-से-अधिक कसना आदि कई बातें होती हैं। यह सब चर्चाएँ व्यर्थ हैं, ऐसा तो मैं नहीं कहता, लेकिन उसका यदि कार्यकर्ताओं के मन पर ऐसा असर होता है कि इस महँगाई के जमाने में हम १००-२००-५०० रुपये अगर अपने निर्वाह के लिए लेते हैं, तो हमारा त्याग कुछ कम हुआ, या हम दूसरों से कुछ छोड़ने के लिए कैसे कहें, तो यह उचित नहीं। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि इस तरह तो हम जो नहीं हैं, वह बनना चाहते हैं और बन नहीं सकते, इसलिए फिर चिन्तित होते हैं।

मैं अगर इस उम्र में भी तय कर लूं कि घुटने के ऊपर तक की ही धोती पहनूंगा, मोटा कुरता पहनूंगा, तो वह नहीं कर सकता हूँ? ऐसा मैं नहीं मानता। लेकिन समझने की बात है कि यह आन्दोलन संन्यासियों का आन्दोलन नहीं है, यह गृहस्थों का

आन्दोलन है। और इसमें लगे हुए कार्यकर्ताओं की तरफ संन्यासी की दृष्टि से नहीं, बल्कि गृहस्थ की दृष्टि से ही देखना चाहिए। घर-गृहस्थी की अनेक समस्याएँ रहती हैं। और घर-बारवाले कार्यकर्ता अनेक समस्याओं से जकड़े रहते हैं। इसलिए सब संन्यासियों की तरह रहने लगें, ऐसा नहीं सोचना चाहिए।

खैर, समझने की बात यह है कि लोगों से हम संन्यासी बनने को नहीं कहते। कौन-सा त्याग करने को कहते हैं? हम अपना विचार बतलाते हैं और लोग अपनी स्थिति में रहते हुए उन विचारों के मुताबिक कुछ आचरण करें। इतना ही हम कहते हैं। उन्हें संन्यासी जैसा त्याग करना हम कहाँ सिखाते हैं? लोग अपना काम नये ढंग से करें, इतना ही कहते हैं। समाज में विषमता घटे, शान्ति और समृद्धि बढ़े, सब लोग अपना काम अच्छी तरह से कर सकें, इसके लिए एक नयी विचार-धारा हम लोगों के सामने पेश करते हैं। इसमें कोई त्याग की या संन्यासी बनने की बात नहीं है। समाज में सुख हो, शान्ति हो, समृद्धि हो, नीति हो, सदाचार हो, मानवता हो, इस दिशा में हमारा यह प्रयास है।

त्याग का भी अलग-अलग मापदण्ड होता है

और जब हम अपने बारे में सोचें, तो यह याद रखें कि त्याग का भी अलग-अलग मापदण्ड होता है। हाँ, हम कुछ अधिक खा-पी रहे हैं, जिससे हमारा आन्तरिक विकास रुकता है, ऐसा अगर हमें लगे, तो उस विषय में जरूर सोचें। बाकी, हम तप करेंगे, अपने-आपको कसेंगे, ऐसा अगर मानते हों, तो समझना चाहिए कि उसके लिए तमाम साधु-संन्यासी जन हैं ही। त्याग करने और अपने-आपको कसने का एक और उदाहरण पेश करने से कुछ समाज का परिवर्तन होगा, ऐसा नहीं लगता।

गांधीजी ने लँगोटी अपना ली, तो यह उन्होंने कोई नाटक नहीं किया था। उनसे जब रहा नहीं गया, तभी उन्होंने ऐसा किया था। आपको भी ऐसी कुछ अनुभूति हो और आप ऐसा कुछ करें, तो ठीक है। हमारे लिए जो सहज हो, वही करना ठीक है। मैं धोती-कुरता पहन लेता हूँ तो लँगोटीवाले से मेरा असर कम हो गया, ऐसा मैं नहीं मानता। वैसे तो कोई कह सकता है कि यह आदमी ओवल्टीन पीता है, संतरे खाता है, धोबी से कपड़े धुलवाता है। मैं नहीं मानता कि इससे सर्वोदय में कोई कमी आ जाती है। हाँ, मैं नहीं कहता कि ऐश-आराम करें। लेकिन हरएक के जीवन में क्या बैलेंस (संतुलन) हो, वह हर आदमी खुद ही अपने अन्तर में तय कर सकता है। हृदय से मैं बौद्ध हूँ। मध्यम-मार्ग मुझे भाता है।

हम सब अपने-अपने काम-धंधे छोड़कर इस आन्दोलन में आये हैं। यहाँ

हम 'नौकरी' नहीं करते हैं। स्वेच्छा से इस आन्दोलन का काम कर रहे हैं। नहीं तो हममें से कोई वकालत करता, कोई नौकरी-धंधा करता और अच्छा कमा लेता। वह सब छोड़कर हम इस आन्दोलन के काम में लगे हैं और निर्वाह के लिए कुछ लेते हैं, तो कोई पाप नहीं करते। इससे हमारा त्याग कुछ कम हो जाता है, ऐसा नहीं मानना चाहिए।

अपने-आपसे पूछें 'क्या हमने पूरी शक्ति लगाकर काम किया है?'

हम सबको अपनी छाती पर हाथ रखकर हमेशा इतना जरूर पूछते रहना चाहिए कि क्या हमने अपनी पूरी शक्ति लगाकर काम किया है? अपने-आप-से पूछते रहना चाहिए कि इस आन्दोलन के लिए हमने कितना समय दिया और कितनी लगन से काम किया? विनोबाजी हमेशा सातत्य और तीव्रता पर जोर दिया करते हैं। सातत्य एक आध्यात्मिक गुण है, आन्तरिक गुण है। इसलिए जितना सम्भव हो, उतने सातत्य और तीव्रता के साथ काम करते रहना चाहिए।

आज चारों तरफ जो परिस्थिति और हवा है, राजनीति का जो हाल है और जो आर्थिक परिस्थिति है, उसे देखते हुए तथा साथ ही हम सबकी १०० में से ८० या ६० लोगों की है, उसको देखते हुए और हम सबकी जो शक्ति है उसको देखते हुए हम लोगों ने इतने समय में जो भी काम किया है, वह वास्तव में बहुत बड़ा काम है। फिर भी एक विनोबा के सिवा कोई नहीं कह सकेगा कि मैंने अपनी पूरी शक्ति लगाकर सातत्यपूर्वक यह काम किया है। मुझे लगता है कि यदि हम सबने पूरी शक्ति लगाकर सातत्यपूर्वक काम किया होता, तो जितना काम हुआ है, उससे दुगुना काम हुआ होता।

हमें इतना समझ लेना चाहिए कि यदि अहिंसा को हिंसा पर विजय पानी है, तो उसे तीव्र गति से काम करना होगा। अन्यथा घटना-चक्र आगे बढ़ता चला जायगा और हिंसा की बाढ़ में अहिंसा डूब जायगी। लोगों की समस्याएँ यदि अहिंसा द्वारा जल्दी हल नहीं होंगी, तो अहिंसक कार्यकर्ताओं के लिए इतिहास की गति रुकनेवाली नहीं है। वर्तमान समाज-रचना अपने सारे लोभ-लालच, स्वार्थ, मानव-विमुखता, अन्याय, शोषण और विषमता के साथ उन्मूलित ही होनी चाहिए। यदि अहिंसा शीघ्र ही उसे नहीं बदलेगी, तो हिंसा कदम बढ़ायेगी। यह दूसरी बात है कि हिंसा कोई भी समस्या हल नहीं कर सकती और हिंसा के मार्ग से एक तरह के अन्याय, शोषण, लोभ और स्वार्थ की जगह दूसरी तरह के अन्याय, लोभ, शोषण और स्वार्थ ले लेंगे। पर लोगों के ध्यान में यह बात जब तक

आयगी तब तक समय चूक गया होगा और अन्धकार की शक्तियों ने अपना आसन जमा लिया होगा।

इसलिए यह काम हमारी पूरी शक्ति के साथ सातत्यपूर्वक तीव्रता से हो, यह अत्यन्त जरूरी है। और इसके लिए हमें अपना सम्पूर्ण जीवन इसमें खपा देना है। मैं तो किसी दूसरी चीज की कल्पना भी नहीं कर सकता, जो हमारी निष्ठा और पुरुषार्थ के लिए इसकी अपेक्षा अधिक उपयोगी हो। क्रान्ति-सेना की रीढ़ ऐसे ही लोगों से बन सकती है, जिन्होंने क्रान्ति-वेदी पर अपना जीवन समर्पण कर दिया है। फुरसत से काम करने से नहीं चलेगा। इसमें तो जीवन-दान ही देना होगा। जीवनदान का खास आशय यह है कि इस काम के सामने दूसरी सारी प्रवृत्तियाँ गौण माननी चाहिए।

अध्ययन की कमी

दूसरी एक बात यह है कि हममें अभी अध्ययन की कमी है। बहुत बार यह सवाल उठता है कि क्या स्वयं हम लोगों ने इस क्रान्ति के काम को अच्छी तरह समझ लिया है? मैं कोई दार्शनिक तरीके से समझने की बात नहीं करता, सामान्य विचार-स्तर से समझने की बात करता हूँ। बहुत बार कार्यकर्ताओं की तरफ से भी ऐसे-ऐसे सवाल पूछे जाते हैं, जिनके जवाब वर्षों से हमारी पुस्तकों में पड़े हैं, किन्तु उन पुस्तकों को पढ़ने की मेहनत नहीं की गयी है। हम कहते हैं कि हमारा काम तो चलते रहना और समझाते रहना है। किन्तु क्या समझायेंगे? हम स्वयं पहले समझ गये होंगे, तभी तो समझा सकेंगे न? इसलिए अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। हमारी सम्पूर्ण प्रक्रिया तो समझाने की ही है। इसलिए नियमित स्वाध्याय की आदत डालनी चाहिए। बहुतों का यह आक्षेप है कि यह आन्दोलन केवल भावुकता (emotionalism, sentimentalism) पर चलता है। मैं इसे नहीं मानता। इस काम में भावना जरूर है, लेकिन इसमें विचार भी है। और वह ऐसा विचार है, जिससे ऊँचा दूसरा कोई विचार दुनिया में नहीं है। इसलिए हमारे आन्दोलन के पीछे जो वैचारिक भूमिका है, उसे हम सबको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

हमने बुद्धिजीवियों के साथ न्याय नहीं किया

मैंने यह भी अनुभव किया है कि बुद्धिजीवियों के साथ हमने न्याय नहीं किया है। बुद्धिजीवियों का हमारे प्रति, हमारे आन्दोलन के प्रति जो रुख है, उसमें हमारा भी दोष है। उनका जो सीनिसिज्म (संशयवाद) है, वह नकली है। वह बदला नहीं जा सकता, यह मैं नहीं मानता। वह मात्र पश्चिम की नकल है।

मुझे लगता है कि हमारे और बुद्धिजीवियों के बीच की खाई कम करने के लिए हमें थोड़ा प्रयत्न करना चाहिए।

एक बात तो यह कि हमारी भाषा बुद्धिजीवी नहीं समझ सकते। हमारी आध्यात्मिक और भक्तिमार्गी भाषा उन्हें जल्दी ग्राह्य नहीं होती। इसलिए उन्हें यदि अपनी तरफ खींचना हो, तो उनकी भाषा में अपनी बात कहनी चाहिए।

हमारा सम्पर्क उनके साथ भी बहुत कम होता है। हमने लगभग उनकी उपेक्षा ही की है। यह ठीक नहीं। हमारे लिए भी यह लाभदायक नहीं। इसलिए उनके साथ का सम्पर्क जैसे भी हो सके, बढ़ाना चाहिए।

विनोबाजी बहुत बार बात-बात में कहते रहते हैं कि कई लोग सूक्ष्म-दर्शन कर लेते हैं, किन्तु बाकी लोग तो जब तक विराट् स्वरूप निगाहों के समक्ष प्रस्तुत नहीं होता, तब तक उनको कोई दर्शन ही नहीं होता। और ऐसा विराट् स्वरूप अपने आन्दोलन का हम नहीं दिखा सके हैं। फिर बुद्धिजीवियों पर आन्दोलन का एकदम असर हो जाय, ऐसी अपेक्षा कैसे कर सकते हैं? इसलिए उनका सम्पर्क बनाकर उनकी भाषा में उन्हें समझाते रहना चाहिए।

माधवदेव की शिक्षा

यही दो-चार बातें मुझे इस आन्दोलन में लगे अपने साथी कार्यकर्ताओं से कहनी थीं। एक दूसरी बात भी हमारे बीच अक्सर उठती रहती है कि हमारे गुण-दोष क्या हैं? कितनी बातें ऐसी हैं, जिनके बारे में मैं चुप रहता हूँ। जैसे कि अध्यात्म की चर्चा मैं कभी नहीं करता। वैसे ही इसके बारे में भी मैं अपने को चर्चा करने का अधिकारी नहीं मानता। लोग तो मुझे आसमान पर चढ़ा देते हैं। लेकिन मैं जानता हूँ कि मुझमें कितने दोष हैं, कितनी कमियाँ हैं।

मुझे लगता है कि हमारी ऐसी वृत्ति बननी चाहिए कि हम अपने-आपको ही तौलें, अपने-आपको ही परखें, बराबर आत्म-परीक्षण करते रहें, अपना प्रभाव दूसरों पर कितना है, वह सोचें। यह भी अध्यात्म का विषय है। हम अपनी तरफ ज्यादा ध्यान रखें।

फिर, इस तरह भी सोचना चाहिए कि इस आन्दोलन में जो लोग आये हैं, उन्हें क्या प्रलोभन है? राजनीति में तो बहुत तरह के प्रलोभन रहते हैं। लेकिन इसमें तो ऐसा कोई प्रलोभन नहीं है। कोई एक अतिरिक्त शक्ति है, चारित्र्य का कोई गुण है, जो आप सबको इस काम में खींच लाया है। मनुष्यमात्र गुण-दोष से भरा है। विनोबाजी ने सेवाग्राम में ग्रामस्वराज-कोष के समर्पण के समय माधव-देव का एक वचन कहा था। उन्होंने उसमें अधम, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम

मनुष्य की परिभाषा की थी। जो दूसरों के दोष ही देखता है, वह मनुष्य अधम है, जो दूसरों के गुण और दोष दोनों देखता है, वह मध्यम है, जो दूसरों के गुण ही गुण देखता है, वह उत्तम है और जो दूसरों के छोटे गुणों को बढ़ाकर देखता है, वह उत्तमोत्तम है। विनोबाजी ने उस समय कहा कि 'गांधीजी ने मेरे साथ ऐसा ही किया। उन्होंने मेरे छोटे गुण को बहुत बढ़ाकर देखा।' और याद करते-करते विनोबाजी का कंठ भर आया था। हमारे लिए यही पाथेय है। हमारी दृष्टि ऐसी ही होनी चाहिए, जैसा माधवदेव कहते हैं।

असली शक्ति अन्तःशुद्धि

मैं ऐसा मानता हूँ कि इस काम में हम सबके लिए वास्तविक प्रेरणा अध्यात्म की ही है। हमें अहंकारशून्य होकर काम करना है। हमारे दिल में ऐसा भाव रहना चाहिए कि हम जो काम कर रहे हैं, वह एक महान् काम है और ऐसे काम में हमें जो अल्प सहयोग देने का मौका मिला है, वह हमारा सौभाग्य है। हमें यह काम करते-करते अपनी जीवन-शुद्धि की साधना करनी है। और यही हमारी शक्ति है। अपनी अंतःशुद्धि नहीं कर सकेंगे, तो हमारी शक्ति नहीं बढ़ेगी। शक्ति बढ़ाने की दूसरी बाह्य योजना की जा सकती है, किन्तु हमारी असली शक्ति अंतःशुद्धि ही है। ●

एक बुनियादी क्रान्ति की देहलीज़ पर १६

आज हमें समाज के मूल्यों में मूलभूत परिवर्तन करना है। यह छोटा-सा काम नहीं है। करोड़ों लोगों के मानस-परिवर्तन का काम है। ऐसे महान् काम के वाहक बनने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से आज की युवा-पीढ़ी को उठानी है। हमारी पीढ़ी के लोगों को जो काम करना था, वह कर चुके। आनेवाले जमाने की जिम्मेदारी आज की नयी पीढ़ी की है, इस देश के तरुणों की है, युवकों की है।

एक बार सर्वहारा को समाज में क्रान्तिकारी-वर्ग माना गया। किन्तु आज अब मजदूर-वर्ग क्रान्ति का अग्रदूत नहीं बन सकता। अमेरिका, इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्य देशों में मजदूर-वर्ग भी समाज का एक स्थापित हित बन गया है। और स्थापित हित बन जाने के बाद उसमें क्रान्तिकारी शक्ति नहीं रहती।

इसलिए यूरोप के युवा आज कह रहे हैं कि अब जो क्रान्ति होनेवाली है, वह बुद्धिजीवियों की क्रान्ति होगी। विद्यार्थी उसमें सम्मिलित होंगे और क्रान्तिकारी विचारक उसका नेतृत्व करेंगे।

पश्चिम के देशों में युवक-विद्रोह

आज पश्चिम के देशों में यह देखने में आ रहा है कि विद्यार्थी और युवक वर्तमान समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। आज के प्रचलित मूल्य—जैसे कि उनके यहाँ जो वैभवप्रचुर (affluent) समाज विकसित हुआ है, उसके विरुद्ध उनका विद्रोह है। आज की जो टेक्नालॉजी है, जो औपचारिक लोकशाही है, उन सबकी क्षमता और उपादेयता को वे आज चुनौती दे रहे हैं।

भारत के विद्यार्थियों और युवकों के लिए आज अभी ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। बल्कि बहुत बार ऐसा भी देखने में आता है कि राजनैतिक दल तथा जातिवादी और कौमवादी संगठन उनका नाजायज फायदा उठाते हैं। हमारे यहाँ भी विद्यार्थी तथा युवकों में असंतोष है। वर्तमान शिक्षण-पद्धति की जो खराबियाँ हैं, जिस तरह आज हमारे विद्यार्थियों को शिक्षा दी जा रही है, शिक्षा प्राप्त करने के बाद उनको जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, उन

सबके कारण उनमें एक विद्रोह की भावना जागती है। बावजूद इसके आज के सभी प्रचलित मूल्यों को वे चुनौती दे रहे हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

इसलिए हमारे युवकों में एक क्रान्तिकारी शक्ति जागृत हो और वे रचनात्मक मार्ग की तरफ मुड़ें, ऐसा प्रयास करना है। व्यापक समाज-परिवर्तन के काम में युवकों की शक्ति लगाकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को एक मोड़ देना है।

एक अभिनव क्रान्ति आकार ले रही है

आज के युग की यह माँग है। मानव-आत्मा स्वातन्त्र्य चाहती है, आनन्द चाहती है, आत्मसाक्षात्कार चाहती है। आज तक जो क्रान्तियाँ हुई हैं, वह मानव-आत्मा की तड़प के ही परिणाम हैं। किन्तु बाद में इन क्रान्तियों का स्वरूप ऐसा हो गया, जिसमें मानव-आत्मा की उपेक्षा हुई और तन्त्र तथा संस्थाओं पर अधिक जोर दिया गया। क्रान्तिकारी नेताओं ने यह माना कि समाज-संचालन के तन्त्रों को वे बदल सके हैं और क्रान्ति करने में सफल हुए हैं, किन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं था। क्रान्ति के जो मूलभूत ध्येय थे, वह तो अभी दूर ही थे। समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुता, बिरादरी, राज्यविहीन समाज, हरएक को उनकी आवश्यकतानुसार मिले और हरएक अपनी क्षमताभर समाज को दे—ये सब बहुत अच्छे ध्येय थे, किन्तु अब तक वे स्वप्नवत् ही हैं। अब यह सब ध्येय सिद्ध हों, प्रत्यक्ष व्यवहार में उन पर अमल हो, ऐसी आज के युग की माँग है।

समझने की बात यह है कि आज हम एक बहुत बुनियादी क्रान्ति की देहली पर आ पहुँचे हैं। तीन-चार वर्ष पूर्व मैं अमेरिका गया था, तब मैंने देखा कि वहाँ के युवकों के हृदय में एक अभिनव क्रान्ति आकार धारण कर रही है। वहाँ के विश्वविद्यालयों में मुझे युवा विद्यार्थियों से मिलने का अवसर मिला। उनके साथ हुई बातचीत से मुझे बहुत प्रेरक अनुभव हुए। उनमें एक नयी चेतना का संचार हो रहा है। वे केवल वियतनाम या नीग्रो-समस्या की ही बातें नहीं हैं। उनके हृदय में कुछ अधिक गहन चल रहा है। ऊपर से जगमगाती और इतनी अधिक आकर्षक लगती आज की संस्कृति के मूल्यों को वे चुनौती दे रहे हैं।

आन्तर-बाह्य परिवर्तन की दुहरी क्रान्ति

गांधीजी एक बात बार-बार कहते थे, वह मुझे याद आती है। वह कहते थे कि दूसरी क्रान्तियाँ इकहरी हैं, यानी कि ऐसी क्रान्ति है, जो मात्र समाज के बाह्य ढाँचे में ही परिवर्तन लाती है, जब कि मेरी क्रान्ति दुहरी क्रान्ति होगी, मानवीय क्रान्ति होगी, जो मनुष्य के मानस में शुरू होगी और अन्त में समाज के बाह्य ढाँचे

में परिवर्तन लायेगी। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर तो वास्तविक क्रान्तिकारी के लिए सत्ता पर कब्जा करने का कोई अर्थ ही नहीं होगा।

इसलिए अब यह चीज स्पष्ट रूप से समझ में आ जानी चाहिए कि क्रान्ति के लिए ऐसी पद्धति अपनानी होगी, जिसके कारण मनुष्य के मानस में परिवर्तन आये, उसके जीवन-मूल्यों में परिवर्तन आये, जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन आये, वस्तुओं के प्रति, मानवों के प्रति और प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आये। और दूसरा यह कि आज के इतिहास की मंजिल पर मनुष्य जब चन्द्र और शुक्र पर पहुँचा है, तब उसके सामने मानव-बन्धुओं का एक विश्व-कुटुम्ब बनाने से छोटा आदर्श नहीं हो सकता। आज एक यही क्रान्तिकारी ध्येय हो सकता है।

आदर्श की बलिवेदी पर मनुष्य को कुरबान नहीं किया जा सकता

अब सवाल यह उठता है कि मनुष्य को हम बदलेंगे कैसे? गांधी-विनोबा ने उसके लिए व्यापक सामाजिक आन्दोलन का मार्ग अपनाया है। परन्तु बहुत बार विचारक हमें चेतावनी देते रहते हैं कि ऐसे आन्दोलनों में जब-जब मतवाद और कर्मवाद पर अधिक जोर दिया जाता है, तब-तब उसकी कीमत मनुष्य से वसूल की जाती है। ऐसे आन्दोलन स्वयंस्थापित आदर्शों की बलिवेदी पर मनुष्य को कुरबान करते हैं। आन्दोलनकारियों के लिए आदर्श एक मानव-निरपेक्ष मूल्य बन जाते हैं।

यह चेतावनी जरूर ध्यान में रखने लायक है। इस विषय में हमें सावधान रहना है। हम यदि अहिंसा द्वारा जीवन-परिवर्तन और समाज-परिवर्तन करना चाहते हों, तो भी इस चेतावनी का अवश्य ही ध्यान रखना पड़ेगा। किन्तु मैं मानता हूँ कि गांधी-विनोबा के सर्वोदय-आन्दोलन में मनुष्य ही केन्द्र-बिन्दु है, इसलिए उसमें मानवता ही अन्तिम मूल्य है। मनुष्य के प्रति समवेदना न हो, तो कोई ऐसे आन्दोलन में नहीं पड़ेगा।

सर्वोदय-आन्दोलन तो प्रेम और समझदारी से लोगों के समक्ष अपने विचार रखता है, लोगों की सेवा करने की भावना रखता है। किसी अमुक विचार के लिए हमारा कोई आग्रह नहीं। मनुष्य के पूर्ण विकास का उद्देश्य अमुक मार्ग से ही सिद्ध हो सकता है, हमने मन में ऐसी कोई गाँठ नहीं बाँध रखी है। विचार की कोई बद्धता नहीं। और फिर भी विचार-क्षेत्र से कार्य-क्षेत्र में उतरते हैं, तब कुछ काम अनिवार्य रूप से करने ही पड़ते हैं। मनुष्य को अमुक दिशा में एकाग्रता से प्रेरित करने के लिए ऐसा करना पड़ता है। इसलिए अमुक काल और स्थल के

लिए एक कार्यक्रम हमने जरूर निश्चित किया है और वह कार्यक्रम लेकर हम आगे बढ़ते हैं। किन्तु केन्द्र-बिन्दु तो आखिर मनुष्य ही है। फिर भी यह चेतावनी आँखों से ओझल नहीं होनी चाहिए। यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा 'एप्रोच' मानवीय हो और समग्र हो।

यद्यपि कृष्णमूर्ति जैसे तत्त्वज्ञानी तो यह भी पूछेंगे कि मनुष्य को बदलनेवाले हम कौन? यह अधिकार हमें किसने दिया? मैं कहूँगा कि हम सब भाई हैं और ऐसे मानव-बन्धुत्व के नाते ही हमें यह अधिकार मिला है, हमारा यह कर्तव्य बन गया है। हम अपने-आपमें परिवर्तन लाने के लिए निरन्तर चिन्तन-मन्थन करते हैं और अपने मानव-बन्धु में भी परिवर्तन लाना, यह भी हमारे चिन्तन-मन्थन का एक भाग ही है। इसलिए ऐसे सामाजिक आन्दोलन द्वारा मनुष्य में परिवर्तन लाकर समाज में परिवर्तन लाने का प्रयास हम कर रहे हैं।

भौतिक-आध्यात्मिक के समन्वय की शिक्षा

यह एक व्यापक लोक-शिक्षण का काम है। साथ ही गांधी-विनोबा ने तो प्रचलित शिक्षण-पद्धति को भी नया स्वरूप देने की हिमायत की है और नयी शिक्षा का विचार समाज के समक्ष रखा है, जिससे बचपन से ही मनुष्य के मन में नये मूल्य जड़ पकड़ते जायँ। शिक्षा का उद्देश्य दान करना और प्रशिक्षण देना तो है ही, परन्तु इसके साथ ही शिक्षा का एक सर्वमान्य उद्देश्य है—मानव को मानव बनाना, उत्तम मानव बनाना। मनुष्य का पर्यावरण समझने और बदलने के लिए बहुत कुछ किया गया है, लेकिन स्वयं मनुष्य को समझने और बदलने के लिए बहुत कम काम किया गया है।

पिछले कुछ वर्षों से पूर्व और पश्चिम में भीतरी और बाहरी, भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान को जोड़ने का, दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उसके द्वारा ऐसे ज्ञान का विकास होना, जिसमें न तो भौतिकवाद की उपेक्षा होगी और न अध्यात्मवाद की। वह दोनों का सच्चा-सच्चा समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न होगा।

ऐसा होने पर शिक्षा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकेगी, जिसके कारण मानव की आन्तरिक और बाह्य क्रियाएँ परस्पर सम्बद्ध रह सकेंगी और दोनों एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ सकेंगी। आज तो इन दोनों के बीच तर्कसंगत सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए यन्त्र-कला, अथवा व्यापार अथवा राजनीति जैसे विज्ञानों का अन्य विज्ञान—'आत्मा' के विज्ञान से कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। केवल धर्म अपने अधिकार के कारण, न कि विवेक के कारण, जो सम्बन्ध

स्थापित कर सकता है, उतना ही है। कहीं-कहीं विरल मामलों में किसी भी व्यवसाय में लगा हुआ कोई आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभवों से भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकता है। किन्तु आज के जमाने में इस तरह के व्यक्ति को झक्की ही माना जायगा।

विच्छिन्न के बदले सुसंवादी व्यक्तित्व

इसके फलस्वरूप आज मनुष्य का व्यक्तित्व विच्छिन्न हो गया है। और जब तक सुसंवादी ज्ञान और शिक्षा द्वारा 'नैतिक व्यक्ति और अनैतिक समाज के बीच का' विरोध दूर नहीं होगा, तब तक मनुष्य के व्यक्तित्व की यह विच्छिन्नता कायम रहेगी। नैतिकता और आध्यात्मिकता इस जगत् से जब तक विमुख रहेगी, तब तक समाज के दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक विषय भी नैतिकता और आध्यात्मिकता से उतने ही विमुख रहेंगे। यह वस्तु मनुष्य के कल्याण तथा विकास के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

सूक्ष्म और गहरी भूख

मनुष्य केवल पेट भरने के लिए नहीं जीता, उसके भीतर अधिक गहरी और अधिक सूक्ष्म आकांक्षाएँ भी होती हैं, जिनकी वह तृप्ति चाहता है। इसलिए स्कूल-कॉलेजों में विद्यार्थियों को यह समझना-समझाना जरूरी है कि आप अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने बाहरी कार्य-कलापों का अपने आध्यात्मिक और नैतिक विचारों के साथ किस प्रकार सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे। आज आपके सामने प्रश्न है कि आप खण्डित व्यक्तित्ववाले मनुष्य बनेंगे या अखण्डित व्यक्तित्ववाले? यदि आप अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचार को जैसा ऊँचा स्थान दें, वैसा ऊँचा स्थान उसे आप सार्वजनिक या सामाजिक जीवन में दें, तो कहीं अधिक उत्तम और कहीं अधिक उपयोगी अर्थशास्त्री, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, अध्यापक, राजनीतिज्ञ अथवा कुछ भी बन सकेंगे। ऐसा करने से आप न केवल सामाजिक हित में अधिक योगदान करेंगे और अपने देश की अधिक सचाई के साथ सेवा कर सकेंगे, बल्कि ऐसा करने से आपका व्यक्तिगत लाभ भी होगा। आपको अधिक प्रसन्नता और शान्ति मिलेगी। आपका जीवन अधिक उपयोगी और पूर्ण बनेगा।

आज हम जिस बुनियादी क्रान्ति की देहली पर खड़े हैं, उसके लिए कर्ता तैयार करने होंगे और उसके लिए स्कूल-कॉलेजों के द्वारा ऐसी सुसंवादी शिक्षा और सामाजिक आन्दोलनों द्वारा व्यापक लोक-शिक्षण समाज को निरन्तर देते रहना होगा। ●

१७ एक अनुपम व्यक्तित्व

विनोबाजी के विषय में सबसे पहले बजाजवाड़ी, वर्धा में कमलनयनजी आदि से प्रशंसा सुनी थी। वह पिछले महायुद्ध के पहले की बात है। शायद कांग्रेस वर्किंग कमेटी की कोई बैठक उस समय वहाँ थी। कमलनयनजी ने कहा था कि विनोबाजी से मुझे अवश्य मिलना चाहिए। परन्तु उस समय तो यह सम्भव न हो पाया था। बाद में महिलाश्रम में उनसे भेंट हुई थी। यह भी युद्ध के पहले की बात है। उसके बाद जब वर्धा जाता था, कभी-कभी उनसे भेंट करता था।

उस समय की स्मृति धुँधली हो चुकी है, पर इतना याद आता है कि राजनैतिक प्रश्नों पर ही उनके साथ चर्चा होती थी, जिनमें समाजवाद भी होता था। रचनात्मक कार्य, अहिंसा, अध्यात्म आदि की चर्चा नहीं होती थी, क्योंकि इन विषयों में मेरी रुचि कम थी। कौन-सी राजनीतिक चर्चाएँ होती थीं, इसका स्मरण तो नहीं है, परन्तु इतना ध्यान में आता है कि मुझ पर बराबर यह असर पड़ता था कि विनोबाजी एक अत्यन्त सूक्ष्म विचारक हैं, बड़े विद्वान् तथा छुरे की तरह पैनी बुद्धिवाले! मुझे उनमें सदैव असाधारण मौलिकता और प्रेरणा देने की अद्भुत शक्ति मिली। उनकी कुछ रचनाओं में, जिनको मैंने पढ़ा था, अत्यन्त स्फूर्तिदायी ताजगी थी।

मुझे यह भी याद है कि १९४० में गांधीजी ने विनोबाजी को किस प्रकार पहला सत्याग्रही चुना था। और गांधीजी के निधन के बाद सेवाग्राम में जो गांधी-विचारवाले रचनात्मक और राजनीतिक कार्यकर्ताओं का प्रथम सम्मेलन हुआ था, उसमें सबकी दृष्टि विनोबा की तरफ थी और उन्होंने कैसा स्पष्ट मार्गदर्शन किया था, वह भी मुझे स्मरण है।

फिर एक बार मैं पवनार गया। उस समय उनका ऋषि-खेती का प्रयोग चलता था और कुएँ पर रहँट चलाते-चलाते वह प्रार्थना करते थे। विनोबा ने मुझे भी उसमें सम्मिलित किया। चर्चाएँ भी हुईं। उस भेंट के बाद वर्धा में पत्रकारों के साथ बातचीत में मैंने कहा कि I see some light here—मुझे यहाँ कुछ प्रकाश दीखता है।

कैसे हुआ यह सब ?

फिर हुआ भूदान का प्रादुर्भाव ! प्रथम शंकाएँ, अधिक परिचय, विनोबाजी से बाँदा में मुलाकात । भूदान-आन्दोलन में प्रवेश । सभा में दोनों की झड़ी । चांडिल-सर्वोदय-सम्मेलन, 'मैं तो विनोबाजी का भक्त बन गया हूँ ।' आन्दोलन की गहराई में डूबना, बोधगया का जीवन-दान । ग्रामदान, सुलभ ग्रामदान, ग्रामदान-तूफान—पीछे मुड़कर देखने पर आश्चर्य होता है कि कैसे हुआ यह सब ? लाखों एकड़ का भूदान, हजारों ग्रामदान ! और कितने समय में ? एक शताब्दी ? आधी ? नहीं, मात्र १५-२० वर्षों की अवधि में !

जमीन जैसी प्यारी वस्तु का त्याग इतने बड़े पैमाने पर ! इससे भी अधिक आश्चर्य—स्वामित्व जैसे अधिकार का स्वैच्छिक विसर्जन ! लाखों जमीन-मालिकों द्वारा ! केवल छोटे मालिक ? नहीं, बड़े भी । प्रखण्डदान, जिलादान, प्रदेशदान ! बिहार में खादी-कार्यकर्ता, शिक्षक आदि हजारों कार्यकर्ता इस काम में लगे । पंचायत के लोग, सरकारी तन्त्र के लोग, जिला-कलेक्टर से लेकर साधारण कर्मचारी तक का सहयोग मिला । सभी राजनीतिक दलों का भी समर्थन प्राप्त हुआ । कितनों ने काम में सीधे मदद भी की । जितना बड़ा काम हुआ है, वह कल्पनातीत है ।

यह सब कैसे हुआ ? ईश्वर की कृपा ? युग का सन्देश ? अवश्य । परन्तु इतिहास के स्थूल नयनों को दीखता है एक अधनंगा, कृशगात्र मानव ! तो क्या उसका तप जादू कर रहा है ? उसका सातत्य : चरैवेति, चरैवेति ? उसकी विद्वत्ता ? उसका अध्यात्म ? या यह सब इकट्ठा ? हो सकता है । कौन जाने ! किन्तु कुछ है अवश्य, कोई शक्ति उस दुबले-पतले दाढ़ीवाले बाबा में—मानवी कहो, दैवी कहो !

व्यक्तित्व में ही एक तूफान

तो, एक व्यक्ति है, एक नेता है हमारे बीच, जो दूरदर्शी है और जिसमें तीव्रता है कि तूफान की गति से काम होना चाहिए । उनके व्यक्तित्व में ही एक तूफान है । हमारे बीच यदि ऐसा कोई न हो, जो करोड़ों एकड़ की बात करे, एक वर्ष में स्वराज्य की बात करे, ऐसा कोई स्वप्नद्रष्टा या ऋषि न हो, तो फिर हमारे जैसे साधारण मिट्टी के मानवों में जान कहाँ से आये ? शक्ति कहाँ से आये ? विनोबा के अन्दर एक तड़प है, एक तीव्रता है, एक आग जलती रहती है । यही दूसरों को इतनी प्रेरणा देती है ।

कुछ वर्षों में विनोबा ने जो काम किया है, वह अद्‌भुत है। मैं तो सोचता हूँ कि अगर विनोबा ने इस तरह का एक क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू न किया होता, तो हम लोग अभी तक वहीं-के-वहीं होते––चरखा चलाते और तेलघानी से तेल पेरते। अहिंसक क्रान्ति का विचार बिलकुल भूल ही गये होते। बहुत होता तो गांधीजी का फोटो घर में रखते, उनकी मूर्तियाँ स्थापित करते, जन्माष्टमी-रामनवमी की तरह गांधी-जयन्ती के दिन उपवास करते, किन्तु अहिंसक क्रान्ति की बात भूल ही गये होते। और यह लड़ाई हम हार चुके होते। फिर तो इसमें से जिलाने की ताकत पता नहीं कब आ पाती! शायद सैकड़ों वर्ष बाद कोई महापुरुष आकर बचाता या आणविक युद्ध से दुनिया बर्बाद हो जाती और तब वह सोचती कि 'अरे, हम रास्ता भूल गये!' तब वे एटम बम के मलबे के ढेर में से खोजकर गांधी का रास्ता ढूंढ़ निकालते, जैसे कि पुरानी सभ्यताओं को आज हम पृथ्वी के पेट से बाहर निकालते हैं। लेकिन विनोबाजी ने जादू किया और बहुत हद तक हमारी दृष्टि ठीक दिशा में मोड़ दी।

इसके बिना आत्म-प्रतीति न होती

विनोबा के मार्गदर्शन के अभाव में स्वराज्य के बाद भारत में सर्वोदय की वास्तविक प्रगति असम्भव थी। उस समय सर्वोदय तेजी के साथ सत्ता की राज-नीति के पीछे-पीछे चला जा रहा था और रचनात्मक कार्यक्रम सरकारी विकास-योजनाओं के पूरक के तौर पर रह गया था। विनोबाजी यदि उस समय सामने न आते और वैचारिक शुद्धता, निर्माण-शक्ति और आध्यात्मिक गहराई से परिपूर्ण उनके अदभुत नेतृत्व का लाभ हमें न मिला होता, तो सर्वोदय के विचार अत्यन्त धुंधले और दूर के आदर्शमात्र बनकर रह जाते।

गांधीजी के जीवन-काल में विनोबा के नाम की देश में बहुत ख्याति नहीं थी। किन्तु आज ठेठ देहात के गाँव-गाँव में विनोबा और भूदान-ग्रामदान का नाम गूंजने लगा है। भारत के बाहर भी, सुविज्ञ वृत्तों में इस 'पदयात्री सन्त' और उसके भूदान-आन्दोलन का उल्लेख किया जाता है। पश्चिम के कई विचारकों को विनोबा के सन्देश में, मानवता के लिए अभिशाप बने वादों के संघर्ष को समाप्त करने की एक शक्ति दिखायी पड़ी है। गांधीजी के जाने के बाद इस भयाक्रांत विश्व में आशा का ज्वार नहीं तो कम-से-कम एक लहर भी यदि किसी एक नाम ने पैदा की है, तो वह विनोबा के ही नाम ने। उनके द्वारा शुरू किये गये भूदान, ग्रामदान तथा शान्ति-सेना-आन्दोलन ने आज सारे विश्व का ध्यान आकर्षित किया है।

क्रान्ति और शान्ति का अपूर्व संयोग

शुरू से ही उनमें दो प्रेरणाएँ या यों कहें कि एक ही प्रेरणा-स्रोत की दो धाराएँ काम कर रही थीं। एक सम्पूर्ण मानवता के साथ उनके तादात्म्य में से पैदा हुई थी, जो उन्हें स्वाभाविक रूप से अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करने हेतु प्रेरित करती रही। इसी प्रेरणा ने उनके अन्दर बंगाल के क्रान्तिकारियों की दिलेरी, समर्पण, सचाई और शहादत की भावना के प्रति आकर्षण पैदा किया था।

दूसरी प्रेरणा उन्हें हिमालय––आध्यात्मिक साधकों के पारम्परिक धाम–– की ओर ध्यान और आध्यात्मिक सिद्धि के लिए खींच रही थी। इन दोनों प्रबल प्रेरणाओं की आन्तरिक उथल-पुथल के दौरान ही विनोबा गांधीजी के सम्पर्क में आये। गांधीजी के जीवन में विनोबा को इन दोनों प्रेरणाओं का सुन्दर समन्वय दिखायी दिया। और उनके चरणों में विनोबा ने अपना जीवन समर्पित कर दिया। यह घटना १९१६ की है। प्रथम साक्षात्कार में ही विनोबा ने गांधीजी को अपना गुरु मान लिया और अपने उस गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति अविचल रही।

यद्यपि किसी संकुचित अर्थ में उनको शिष्य मानना उनके प्रति अन्याय करना होगा। गांधीजी के जीवन-काल में भी, विनोबा को निकट से जाननेवालों को यह स्पष्ट था कि उनकी उच्च बौद्धिकता और चारित्र्य, उनकी मौलिकता और सबसे ऊपर उनकी आध्यात्मिकता उन्हें मात्र एक अनुयायी की सीमा से निश्चित ही बहुत आगे ले जायगी और उनको उनकी अपनी ही गुरुता प्रदान करेगी। विनोबा उनसे आयु में छोटे थे, फिर भी धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दूसरे अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों में गांधीजी विनोबा के साथ परामर्श करते थे और उनके अभिप्रायों पर बहुत ध्यान देते थे।

सर्वधर्मों के मानवनिष्ठ उपासक

विनोबा के कार्यों और विचारों का बारीकी से अध्ययन करनेवाले जानते हैं कि उनके अपने 'सत्य के प्रयोग' भी कितने महान् हैं और मानवचिन्तन में उनका कितना महत्त्वपूर्ण योगदान है। विनोबा जीवनभर एक विद्यार्थी रहे हैं। गांधीजी से भिन्न संस्कृति, दर्शन और विश्व के सभी धर्म-साहित्य के वे एक प्रकाण्ड पण्डित हैं। उन्होंने कुरान का अरबी भाषा में अध्ययन किया है। इस पवित्र ग्रन्थ का अध्ययन उसकी मूल भाषा में कर सकें, इसीलिए उन्होंने अरबी सीखी थी। बाइबिल और ईसाई धर्म-साहित्य का उनका ज्ञान भी शायद 'दिव्यता की डॉक्टरेट' पाने लायक होगा।

इस सम्बन्ध में एक प्रसंग मुझे हमेशा याद रहेगा। रंगभेद के विरुद्ध, मोण्टगोमरी, अलाबामा के अहिंसक प्रतिकार-आन्दोलन के नेता डॉ० मार्टिन लूथर किंग अपनी पत्नी के साथ विनोबा से मिलने आये थे। यदि मैं भूलता नहीं हूँ, तो क्वेकर-केन्द्र, दिल्ली के जीम ब्रिस्टल ने श्रीमती किंग का परिचय देते हुए इस बात का उल्लेख किया था कि वह बहुत अच्छा गाती हैं और उन्होंने उनसे अनुरोध किया कि वे कोई स्तोत्र तथा नीग्रो भजन विनोबा को सुनायें। वहाँ उपस्थित सब लोगों को यह अनुरोध बहुत अच्छा लगा। मैंने विनोबा की तरफ देखा और पूछा कि "नीग्रो-भजनों के बारे में आपको कुछ जानकारी है क्या ?" इसके जवाब में जब विनोबा अपनी सहज निमीलित निगाहों को श्रीमती किंग की तरफ स्थिर करके धीरे से गुनगुनाये : "Where you there, where you there, when they crucified my lord ?" तब वहाँ बैठे हम सब लोग आश्चर्यचकित रह गये। फिर तो जब श्रीमती किंग ने वह भजन गाया, तो हमारे लिए वह विशेष हृदय-स्पर्शी बन गया।

निराली प्रतिभा

विनोबा एक भाषाविद भी हैं। संस्कृत, पाली और अरबी के अलावा वह अंग्रेजी अच्छी जानते हैं। फ्रेंच पढ़ सकते हैं। अभी-अभी जर्मन भी सीखी है। और भारत की सभी मुख्य भाषाएँ जानते हैं। गणित उन्हें विशेष प्रिय है। ज्ञान की उनकी भूख कभी पूरी नहीं हुई है, किन्तु हम लोग आम तौर पर जिसे ज्ञान मानते हैं, वैसे ज्ञान की नहीं। अधिकांश ज्ञान को तो वे सतही मानते हैं। इसीलिए उनकी दिलचस्पी जीवन के मूलभूत सत्यों की खोज करने में है।

उनका समग्र जीवन उत्कट आध्यात्मिक अनुसन्धान, बौद्धिक अनुशासन, निःस्वार्थ समाज-सेवा तथा अहिंसात्मक सामाजिक कृत्य के लिए किये गये सृजनात्मक प्रयोगों से परिपूर्ण है। सन् १९४० में ही स्वयं गांधीजी द्वारा 'प्रथम और सर्वोत्तम सत्याग्रही' के रूप में स्वीकृत विनोबा ने सत्याग्रह को एक उच्च कोटि के विज्ञान के रूप में विकसित किया है।

इस तरह राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद सर्वोदय-समाज स्थापित करने के गांधीजी के अधूरे काम की जिम्मेदारी विनोबा के सिर पर आयी, यह बिलकुल स्वाभाविक है। प्रेम-करुणा के रास्ते एक सामाजिक क्रान्ति और नव-निर्माण करने का पुरुषार्थ विनोबा ने आरम्भ किया है। इतिहास में यह पहला प्रयास है। विनोबा इस क्षेत्र में नयी राह तलाश रहे हैं। घृणा-द्वेष से त्रस्त तथा हिंसा से ग्रस्त आज की दुनिया पर विनोबा के प्रयोगों के परिणाम दूरगामी प्रभाव

डालनेवाले होंगे । गांधी-विचार तत्त्व विनोबा द्वारा बनाये मार्ग से और विकसित हो सकेगा । विनोबा की यह प्रतिभा है कि गांधीजी द्वारा प्रसारित जीवन-मूल्यों को अमल में लाने के लिए उन्होंने एक आन्दोलन का स्वरूप दिया । इसलिए सच पूछें तो विनोबा के कारण आज गांधी-विचार उन्नत हुआ है ।

आद्यन्त भगवान् के बन्दे

विनोबा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त जरूरी व अन्तिम बात कहनी है, ताकि उनको सही रूप में समझा जा सके । विनोबा एक राजनीतिक नहीं, न तो वे एक समाज-सुधारक या क्रान्तिकारी हैं । आदि से अन्त तक वे भगवान् के बन्दे हैं । मनुष्य की सेवा उनके लिए भगवान् से साक्षात्कार के अलावा और कुछ नहीं है । वे प्रतिपल अपने-आपको शून्य बना लेने, अपने-आपको रिक्त कर देने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, ताकि भगवान् उन्हें लबालब कर दे और उन्हें अपना साधन बना ले ।

ईश्वरपरायण, गहरी अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न साधुपुरुष, उद्भट विद्वान् तथा विचारक, तीक्ष्ण बुद्धि व असाधारण स्मरणशक्तिसम्पन्न, भाषावेत्ता, उच्चकोटि के लेखक, जन्मजात शिक्षक और मौलिक शिक्षा-विचारक, मनुष्य के नेता और निर्माता, समग्र राष्ट्र-स्तर पर दूसरों को क्रियाशील बनानेवाले तथा बालब्रह्मचारी विनोबा का व्यक्तित्व सचमुच अनुपम है । अध्यात्म-विज्ञान, तत्त्वदर्शन, समाज-विज्ञान तथा समाज-रचना के क्षेत्रों में उनकी देन यथार्थतः मौलिक तथा स्फूर्ति-दायक है, जो कि ज्यों-ज्यों वर्तमान दकियानूसी विचार-पद्धति के स्थान पर नयी जिज्ञासा और तर्क को स्थान मिलता जायगा, त्यों-त्यों अधिकाधिक प्रशंसित होगी । परम्परागत भारतीय विचार के अनुसार कहा जा सकता है कि विनोबा में एक ही साथ ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और कर्मयोगी का दुर्लभ समन्वय है । ●

१८ स्वस्थ लोकमत का शिक्षण

मेरे विषय में कुछ गलतफहमी जनता के बीच फैली हुई है। लोगों को लगता है कि इस ग्रादमी ने राजनीति तो छोड़ दी है, फिर भी राजनीति के विषय में तथा राजकीय मामलों में बीच-बीच में बक-झक किसलिए किया करता है, वक्तव्य क्यों दिया करता है ?

बात यह है कि मैंने जो राजनीति छोड़ी है, वह दलीय ग्रौर सत्ता की राजनीति छोड़ी है, लोकनीति की राजनीति नहीं छोड़ी है। इस लोकनीति की राजनीति को मैं ग्रथवा दूसरा कोई भी लोक-सेवक कैसे छोड़ सकता है ? लोक-शिक्षण के लिए राजनीतिक तथा राजकीय मामलों में ग्रपना मन्तव्य जाहिर करना ग्रलग बात है ग्रौर दलीय तथा सत्ता की राजनीति में भाग लेना बिलकुल ग्रलग बात है। यह भेद ग्रच्छी तरह समझ में ग्रा जाना चाहिए। एक बार यह भेद समझ में ग्रा जाय, तो फिर भ्रम न फैले।

सामाजिक जीवन में शायद गलतफहमियों से सर्वथा बचकर नहीं रहा जा सकता, फिर भी जनता मेरी सही भूमिका समझे, तो मुझे ग्रानन्द होगा। मैं तो देखता हूँ कि चाहे जैसा भी सवाल हो, जितनी हद तक राजनीति उसमें घुसती है, उतनी हद तक सवाल उलझते हैं। इस राजनीति में पड़े हुए लोगों पर तरह-तरह के दबाव काम कर रहे होते हैं तथा उन लोगों को वोट पाने की चिन्ता भी सदा बनी रहती है। इस कारण वे सही बात जनता के समक्ष रख ही नहीं सकते। वास्तव में, परिस्थिति क्या है, इस विषय में भी वे शान्ति से सोच भी नहीं सकते। इसलिए ग्रधिकतर लोग तोते की तरह रटी-रटायी बातें ही बोलते हैं। ऐसी स्थिति में दलीय तथा सत्ता की राजनीति से ग्रलग रहनेवाले तटस्थ लोगों को कुछ ग्रप्रिय बनकर भी सही बात जनता के सामने प्रस्तुत करने की तैयारी रखनी ही चाहिए।

जनता तक हकीकत पहुँचनी चाहिए

हमारे यहाँ लोकशाही है, इसलिए हरएक प्रश्न के सम्बन्ध में जनता शान्ति से सोच-समझकर ग्रपना ग्रभिप्राय बनाये, यह ग्रावश्यक है। इसके लिए जनता तक वस्तुस्थिति की जानकारी पहुँचनी चाहिए। किन्तु ग्राज ऐसा नहीं हो पाता।

सभी सूत्र अखबारों और राजनीतिक नेताओं के हाथों में हैं। जनता तो मानो कठपूतली है। उसे जैसे नचाओ, वैसे नाचेगी। इसीलिए बीच-बीच में मैंने लोकमत के इस अप्रवाहित और निष्प्राण जल में प्राण डालते रहने की जिम्मेदारी उठा ली है। मुझे कोई अप्रियता का मोह है इसलिए मैं ऐसा करता हूँ, यह बात नहीं है। बल्कि देश-भक्ति और जनता के प्रति अपनी कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर ही मैं ऐसा किया करता हूँ।

दूसरी बात यह है कि कई दफा देश-भक्ति के नाम पर युद्ध का उन्माद पैदा करनेवाली बातें होती हैं और एक जबरदस्त होहल्ला मचा दिया जाता है। वह ऐसा जबरदस्त होता है कि अगर हमारे प्रधानमन्त्री कुछ शान्ति से सोचना भी चाहते हों, करना भी चाहते हों तो नहीं कर सकते। एक सदस्य इधर से उठ जायेंगे, दूसरे साहब उधर से, तीसरी ओर से कोई साहब उठ जायेंगे, किसी कोने से कोई उठ जायेंगे और विरोध करना शुरू कर देंगे। इसका इतना दबाव और इतना हल्ला होगा कि प्रधानमन्त्री को उन सबको खुश करने के लिए कुछ-न-कुछ बयान दे देना पड़ता है। ऐसे वातावरण में मेरे जैसा कोई आदमी कुछ भिन्न बातें कहता है तो चारों तरफ से हो-हल्ला मचता है कि यह देशद्रोही है, देश को बेचने निकला है। एक बार तो गुजरात में संतबालजी जैसे व्यक्ति ने मुझे देशद्रोही घोषित कर दिया था।

उन्हें भी देशद्रोही न ठहरा दें !

अब, देश के एक अदना सेवक के रूप में मैं आपसे कहना चाहता हूँ—राजनीति में पारमार्थिक दृष्टि से राज्य निर्णय करे, यह सम्भव नहीं, वह राष्ट्रहित देखकर चलेगा, यह भी मैं समझाता हूँ—कि राष्ट्रहित किसमें है और किसमें नहीं, इस सम्बन्ध में तो मतभेद रहेगा न ? ऐसा भी होता है कि तात्कालिक दृष्टि से जो सही लगे, दीर्घकालिक दृष्टि से कुछ दूसरा ही सही लगे ! इसलिए मेरा इतना ही कहना है कि विभिन्न सवालों पर प्रायः मैं जो कुछ कहता हूँ, उसमें मेरी भी राष्ट्रहित की ही दृष्टि होती है।

खैर, यहाँ एक बात यह समझ लेनी जरूरी है कि दूसरे किसी भी राष्ट्र का अहित करके हम अपना हित कदापि नहीं साध सकेंगे। पहले शायद ऐसा सम्भव होता होगा, किन्तु आज तो यह सम्भव नहीं ही है। कभी कहीं छोटा-मोटा लाभ उठा भी लिया जाय, किन्तु बहुत दिनों तक यह लाभ नहीं टिक सकेगा। आज के वैज्ञानिक युग में और आज जो अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ काम कर रही हैं, उन्हें देखते

हुए परस्पर का हित समझकर समाधानपूर्वक प्रश्नों का हल ढूंढ़ निकालने की दृष्टि हरएक को रखनी पड़ेगी ।

तीसरी बात यह है कि आज दुनियाभर में संघर्षों के शान्तिपूर्ण सुलझाव ढूंढ़ने की तरफ लोगों का झुकाव बढ़ा है। और अपने देश—भारत—की नीति तो पहले से शान्ति की रही है । हमने दुनिया के समक्ष शान्ति और अहिंसा की बातें की हैं । अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को हमने शान्तिमय मार्ग से सुलझाने की हिमायत की है । किन्तु शान्ति का रास्ता कोई नारेबाजी नहीं । केवल नारा लगाते जाने से सच्ची शान्ति नहीं आ सकती है, न वह टिक सकती है । इसलिए यदि हम शान्तिमार्गी हैं तो किसी भी झगड़े या मतभेद को शान्तिमय मार्ग से सुलझाने की हमारी तरफ से पूरी-पूरी कोशिश होनी चाहिए । फिर वह नगा-प्रदेश का झगड़ा हो या कश्मीर क. हो या चीन का हो ।

यही मेरी भूमिका है

राजकीय मामलों में मैं जब-तब अपना मन्तव्य व्यक्त करता हूँ, अथवा उसमें रुचि लेता हूँ, तो उसके पीछे मेरी यही भूमिका रहती है । मैं अपना मन्तव्य जनता के सामने रख देता हूँ, ताकि उस पर चर्चा चले और उस मंथन द्वारा एक स्वस्थ लोकमत के निर्माण में मदद मिले । मेरी ही बात सही है, ऐसा मेरा कोई दावा नहीं है । मेरी अपेक्षामात्र इतनी ही है कि इन सब प्रश्नों के विषय में मात्र तोता-रटन्त सूत्रों से नहीं, शान्त चित्त से विचार करने की आदत डालनी चाहिए । इसीलिए बहुत दफा तो मैं इरादापूर्वक अपनी बातें जनता के बीच रखता हूँ, जिससे यदि किसी खास प्रश्न के लिए चिन्तन अत्यन्त जड़ हो गया हो, विचार-प्रवाह अवरुद्ध हो गया हो तो उसमें कुछ प्रवाह आये ।

चीन के साथ का झगड़ा

उदाहरण के रूप में चीन के साथ हमारे झगड़े की बात लें । इस सम्बन्ध में मुझे मुख्य रूप से दो बातों पर जोर देना है । एक तो यह कि चीन के साथ सरहद का झगड़ा युद्ध द्वारा हल नहीं हो सकेगा। मैं अहिंसा में विश्वास करता हूँ, इसलिए ऐसा नहीं कहता । किन्तु मुझे लगता है कि खोया हुआ प्रदेश वापस पाने के लिए हमें जिस हद तक तैयारी करनी पड़ेगी, उसका बोझ देश के लिए असह्य होगा । 'एक-एक इंच जमीन वापस लेंगे' ऐसे नारे लगाने सरल हैं । किन्तु उनके अर्थ अच्छी तरह समझ लेने चाहिए । १७-१८ हजार फुट ऊँचे शिखर पार करके शस्त्रास्त्र एवं रसद पहुँचाना तथा अक्साई चीन में लड़ना सरल नहीं । दूसरी तरफ चीन को वहाँ लड़ने में अनुकूलता है । फिर, कोई भी सैनिक समाधान अन्तिम

नहीं बन सकेगा, क्योंकि हारा हुआ पक्ष हमेशा उसे बदलने का प्रयत्न करेगा। हम ५५ करोड़ हैं, तो वे भी ७०-८० करोड़ हैं। युद्धों का इतिहास देखें। ऐसे प्रश्न इस तरह कभी नहीं हल होते।

युद्ध का प्रभाव काफी लम्बे समय तक रहता है, उसका एक उदाहरण दूं। राम और रावण को हुए हजारों वर्ष बीत गये। वे वास्तव में हुए भी थे या केवल कवि की कल्पनाएँ हैं, यह भी पता नही। फिर भी आज दक्षिण भारत में, इतने वर्षों के बाद भी, उसका प्रभाव कायम है। वहां कितने लोग राम के पुतले जलाते हैं और राम के चित्र आदि फाड़ते हैं। उनका कहना है कि राम आर्यों के साम्राज्य-वादी नेता थे, जिन्होंने हमारे रावण पर चढ़ाई की थी। और उन्होंने 'रामायण' जैसा एक 'रावणायन' लिखा है, जिसमें रावण को महान् नेता के रूप में वर्णित किया है और राम की निन्दा की है। युद्ध की कैसी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उसका यह एक उदाहरण है।

दूसरी बात यह कि दो किसानों के बीच सीमा के झगड़े का जिस तरह कानूनी फैसला होता है, उसी तरह इस प्रश्न का कोई कानूनी फैसला हो सकेगा, ऐसा मैं नहीं मानता। इस प्रश्न का कोई हल हो सकेगा, तो वह राजकीय फैसले की तरह आदान-प्रदान की भूमिका द्वारा ही हो सकेगा। एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कोई विशिष्ट रुख जड़तापूर्वक अख्तियार किये रहने से सफलता नहीं मिलती।

इस तरह कुछ राजनीतिक फैसले हो सकेंगे

आदान-प्रदान का अर्थ शरणागति हरगिज नहीं होता, क्योंकि वह परस्पर होता है। राजनीतिक फैसले के लिए सरहदी क्षेत्र में दोनों देशों के उचित हितों को ध्यान में रखना होगा। मुझे लगता है कि इससे सम्बद्ध किसी बातचीत को यदि सफल बनाना हो, तो चीन की भूमिका भी समझ लेनी चाहिए। अपने सिकियांग प्रान्त और तिब्बत के बीच के सम्बन्ध के लिए चीन को अक्साई चीन का क्षेत्र आवश्यक लगता है। तो क्या बातचीत द्वारा ऐसा कोई हल ढूंढ़ा जा सकता है कि भारत चीन को यह क्षेत्र नागरिक उपयोग (civil use) के लिए पट्टे पर (on lease) दे ? चीन उसका सैनिक उपयोग न कर सके। वहाँ झण्डा भारत का रहे। और अक्साई चीन के बदले में हम चुम्बी घाटी के क्षेत्र की माँग करें। यह क्षेत्र हमारे लिए बहुत उपयोगी है। और मैं ऐसा मानता हूँ कि अक्साई चीन के सम्बन्ध में समाधान हो जाय तो चीन मैकमोहन रेखा स्वीकार करने के लिए तैयार हो जायगा।

ऐसे कितने ही सम्भावित राजनीतिक हल मैं सुझाता आया हूँ। ऐसे दूसरे भी कई हल हो सकते हैं। खैर, समझौता कैसे हो, इस पर अनेक तरह से विचार किया जा सकता है, किन्तु मूल बात यह है कि ऐसा कोई राजनीतिक हल ढूंढ़ने का हमारा प्रयत्न होना चाहिए।

मूलतः मुकाबला विचार-पद्धति का है

इस तरह दो बड़े देश सदियों तक दुश्मन नहीं रह सकते, यह भी समझना चाहिए। लेकिन सरहदी झगड़ों के सम्बन्ध में समझौता हो जाने पर 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारे भी पुनः गूँजने लगेंगे, ऐसे ख्वाब कोई न देखे। चीन और भारत के बीच स्पर्धा तो काफी समय तक बनी ही रहेगी। लेकिन उस स्पर्धा का स्वरूप भिन्न हो जायगा। दोनों की जीवन-पद्धति और विचार-पद्धति भिन्न है। इसलिए दोनों के बीच स्पर्धा चलेगी। एशिया-अफ्रीका में दोनों अपना-अपना प्रभाव फैलाना चाहेंगे। इस स्पर्धा में किस विचार-पद्धति की विजय होगी, यह आज नहीं कहा जा सकता। हम पर चीन का वास्तविक आक्रमण तो विचार-पद्धति का आक्रमण (ideological aggression) है। चीन की इस चुनौती का जवाब देना होगा और इसके लिए सरहद के मोर्चे पर अपनी शक्ति खर्च करने के बदले जनता और सरकार दोनों का पुरुषार्थ देश के आन्तरिक मोर्चे पर केन्द्रित करना होगा, ऐसा मेरा मानना है और यह मैं बराबर देश के समक्ष रखता रहा हूँ।

भारत अणुबम बनायेगा ?

हिन्द-चीन-संघर्ष के सन्दर्भ में अणुबम बनाने की बात भी बार-बार उठा करती है। जनसंघ आदि तो अणुबम बनाने की माँग करते ही रहते हैं। इसलिए इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी स्वस्थ लोकमत निरन्तर विकसित करते रहना है। मात्र गांधी-नेहरू का नाम लेते रहने से अब काम नहीं चलेगा। बेहद खर्च होगा, लोग भूखे मर जायेंगे, यह तर्क रखने से भी काम नहीं चलेगा। इसलिए इस विषय को अधिक गहराई से समझना और समझाना होगा।

मेरा प्रयत्न इसी तरह समझाने का रहा है। खर्च की बात तो है ही, किन्तु उसके अलावा मुख्य बात यह है कि नैतिक दृष्टि से विचार करने पर अणुबम की अपेक्षा अधिक अनैतिक दूसरे किसी शस्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। वह करोड़ों लोगों को एक क्षण में खाक कर देता है, पृथ्वी के वातावरण में जहर फैला देता है और भावी पीढ़ियों को भी बदसूरत और पंगु बना देता है।

व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर हमारे सामने तीन प्रश्न आते हैं : (१) क्या हम स्वतन्त्र रूप से अणुबम बना सकने में समर्थ हैं ? यदि हाँ, तो कितनी जल्दी,

कितनी संख्या में और कितना शक्तिशाली ? (२) उसके आर्थिक और राजनैतिक परिणाम क्या होंगे ? (३) देश के संरक्षण के लिए अणुबम कितना जरूरी है ?

अनुचित, खतरनाक, अनावश्यक

अब, ऐसा कहा जाता है कि मात्र १८ महीनों के भीतर हम अणुबम बना सकेंगे। किन्तु यह तो हमारी 'ऐटोमिक' योग्यता का अनुमान है, बम बनाने की वास्तविक सम्भावना नहीं। क्योंकि एक बहुत बड़ी बाधा यह है कि कनाडा और अमेरिका दोनों ने 'रिएक्टर' के लिए जो सहायता दी है, उसमें शर्त यही है कि अणुशक्ति का उपयोग हम शान्तिमय उद्देश्यों के लिए ही करेंगे। इस शर्त को तोड़ने से नैतिक बदनामी और दूसरे गम्भीर परिणाम झेलने पड़ेंगे। विदेशी सहायता के बिना आगे बढ़ने की सोचें तो भी, जिसका कोई खास सैनिक महत्त्व नहीं है वैसा मिश्रित प्लुटोनियम बम बनाने में भी कम-से-कम पाँच वर्ष लगेंगे। यूरेनियम से बननेवाला अधिक शक्तिशाली बम तो बहुत समय तक हमारी आर्थिक सामर्थ्य के बाहर का साबित होगा।

और फिर, मान लीजिये कि हमने अणुबम बनाने का निश्चय भी कर लिया, तो उसके लिए आणविक प्रयोग कहाँ करेंगे ? चीन के पास वीरान जंगल हैं, अमेरिका के पास पैसेफिक महासागर है, रूस के पास पर्वतमालाएँ हैं, हमारे पास तो ऐसा कोई स्थल नहीं।

दूसरे प्रश्न के बारे में हमें समझना चाहिए कि अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, सभी अणु-अस्त्रों के प्रसार के विरुद्ध हैं। इसलिए हमें आज मिल रही विदेशी सहायता भी बिलकुल बन्द हो सकती है और राजनीतिक दृष्टि से भारत अलग-थलग पड़ सकता है।

अन्तिम प्रश्न यह है कि क्या देश की सुरक्षा के लिए अणुबम जरूरी है ? यहाँ यह सोचना चाहिए कि क्या चीन भारत पर आणविक आक्रमण करना चाहता है ? मेरे ख्याल से चीनी अणुबम का उद्देश्य सामरिक के बजाय राजनीतिक अधिक है। हम डरकर अणुबम बनाने लगेंगे, तो उलटे उसीके हाथ खेलेंगे और उसका उद्देश्य पूरा करेंगे।

सारांश यह है कि जनता को बराबर समझाना है कि भारत का अणुबम बनाना नैतिक दृष्टि से अनुचित है, राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक है और सामरिक दृष्टि से अनावश्यक है। इस तरह लोकमत को धीरे-धीरे विकसित किया जा सकता है।

नगालैंड का सवाल

मुझे ऐसा लगता है कि जनता वस्तुस्थिति से वाकिफ नहीं हो पाती, इसीलिए कुछ सवाल तो उलझते ही चले जाते हैं। नगालैण्ड में मुझे यही देखने को मिला। नगालैण्ड की समस्या के बारे में मैंने केवल अपने मंतव्य ही व्यक्त नहीं किये हैं, बल्कि उस समस्या में दिलचस्पी लेकर उसे शान्तिमय ढंग से सुलझाने की कोशिश भी की है। वहाँ जो हिंसा की परिस्थिति बनी, उसमें असत्य का बहुत बड़ा हाथ है। वहाँ की क्या परिस्थिति है, नगाओं ने क्या किया है, भारत की सेना या पुलिस ने क्या किया है, अधिकारियों ने क्या किया है, इन सब बातों की सही जानकारी अगर देश की जनता को होती, तो मुझे विश्वास है कि कभी इस प्रकार की परिस्थिति वहाँ न बनती।

किन्तु नगालैण्ड की समस्या के बारे में जनता बिलकुल अँधेरे में थी। और इसीलिए नगालैण्ड के हमारे शान्ति-मिशन के काम के सिलसिले में मुझे बहुत गालियाँ सुननी पड़ी हैं। लोगों का ख्याल है कि जयप्रकाश नारायण नगालैण्ड को भारत से अलग करना चाहते हैं, जब कि हकीकत इससे बिलकुल उल्टी है। हमारे मिशन का मुख्य प्रयास ही रहा है, नगा लोगों को भारत से अलग न होने की बात समझाना। मैं अभिमान नहीं करता, लेकिन आज नगालैण्ड में जो शान्ति है और वह भारत के एक भाग के रूप में कायम है, इसका सबसे बड़ा श्रेय अगर किसीको है तो वह हमारे शान्ति-मिशन के काम को है।

मैंने देखा कि यह जो भारतीय संस्कृति है, उसका नगालैण्ड में प्रवेश नहीं हुआ है। ऐसे तो हमारे देश के कोने-कोने में सांस्कृतिक दृष्टि से समन्वयात्मक कोई न कोई चीज देखने को मिलती ही है। किसीका पुराण-कथा के साथ सम्बन्ध होगा, तो किसीका किसी ऋषि के साथ। कहीं आप सुनेंगे कि यहाँ पाण्डव आये थे, राम आये थे। नेफा में भी कहीं कहीं वैष्णव मिलते हैं, बौद्ध मिलते हैं। पर यह नगालैण्ड ही भारतीय संस्कृति से अछूता रहा है। इसका कोई असर वहाँ नहीं दीखता है।

फलस्वरूप नगा लोगों में यह भावना नहीं है कि हम भारतीय हैं। जो नगा नेता और नगा लोग भारत के साथ हैं, उनके दिल में भी यह भावना नहीं है कि वे भारतीय हैं। वे समझते हैं कि हम नगा हैं। एक नगा नेता ने, जो संसद्-सदस्य भी हैं, जवाहरलालजी से कहा भी था कि कोई भी नगा ऐसा नहीं है, जो अपने को भारतीय समझता हो। इस बात को ध्यान में रखकर ही भारत को अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिए। वे कहते हैं, भारत के वे दुश्मन नहीं हैं, लेकिन भारत से पृथक् हैं और उनका अलग राज्य होना चाहिए।

शान्ति-मिशन ने नगा लोगों का हृदय जीत लिया

ऐसी परिस्थिति में हमारे शान्ति-मिशन ने नगा लोगों का हृदय जीत लिया है और उनका विश्वास हासिल किया है। हमारे शान्ति-मिशन की भारत में चाहे जितनी निन्दा हुई हो, लेकिन नगालैण्ड में वह देवता के रूप में है। मेरा यह कहना गलत न होगा कि यदि शान्ति-मिशन वहाँ न हो तो भारत-सरकार का प्रतिनिधि-मण्डल कोई काम नहीं कर सकता। शान्ति-मिशन भारत-सरकार और नगा जनता के बीच जोड़नेवाली कड़ी बन गया है।

जब अंग्रेजों ने भारत से हटने का निश्चय किया, तो एक नगा प्रतिनिधि-मण्डल गांधीजी से मिला और उसने कहा कि "अंग्रेजों ने नगा-क्षेत्र को जीतकर उसका एक हिस्सा भारत में मिला दिया और कुछ हिस्सा बर्मा में मिला दिया। अब अंग्रेजी राज्य १५ अगस्त, १९४७ को समाप्त होनेवाला है तो जैसे भारत स्वतन्त्र होगा, वैसे हमको (नगाओं को) भी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।" गांधीजी ने उनसे कहा कि "आपको भी स्वतन्त्रता जरूर चाहिए और अगर भारत आपकी स्वतन्त्रता में रुकावट डालेगा या आप पर गोली चलायेगा, तो मैं पहला आदमी होऊँगा, जो भारत का मुकाबला करेगा।" यह कहकर गांधीजी ने उनसे पूछा : "यह कपड़ा जो आपने पहना है, वह कहाँ का कपड़ा है ?" प्रतिनिधि-मण्डल का जो नेता था, उसने कहा : "शायद विलायत का है।" इस पर गांधीजी ने कहा : "जब कपड़े के लिए आप विदेश पर अवलम्बित हैं, तो स्वतन्त्र कैसे हो सकते हैं ?" यह बातचीत प्यारेलालजी के पास नोट है।

लेकिन दुर्भाग्य से गांधीजी चले गये और उनके बाद नगाओं के साथ इस तरह व्यवहार किया गया कि जो अलगाव की भावना उनके मन में पहले से थी, वह और मजबूत होती गयी। वह एक लम्बा इतिहास है, जो मैं आपके सामने नहीं रखना चाहता। इतना ही कहूँगा कि कभी उनके साथ नरमी का बर्ताव किया गया, कुछ बातचीत हुई, कुछ समझौते वगैरह हुए और फिर कुछ काल ऐसा बीता, जब उन पर दमन का चक्र जोरों से चला और काफी हद तक चला। नगा लोगों ने भी हिंसा का मार्ग अपनाया। उन्होंने एक अण्डरग्राउण्ड (भूमिगत) सरकार भी बनायी। यह सारा तन्त्र उन्होंने बनाया। वह भूमिगत सरकार गाँववालों से टैक्स भी वसूल करती थी। कई प्रदेशों में उनका अंकुश था।

यह अत्यन्त दर्दभरी दास्तान है

यह अत्यन्त दर्दभरी दास्तान है। हमला। छापा मारना, आमने-सामने गोली चलाना, पुल उड़ा देना, गाँवों तथा निर्दोष घरों को जला देना, सैनिकों को व्यवस्था

सँभालने में सुगमता हो, इसलिए पूरे गाँव को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह बसा देना, और ऐसे अनेक अत्याचारों की यह कथा है। वहाँ कानून और व्यवस्था सँभालने के सैनिक प्रयासों में जनता के करोड़ों रुपयों की होली जलती रही। बहादुर नगाओं के लिए यह एक जबरदस्त शारीरिक और मानसिक वेदना की कथा है। नगरों में स्थायी कर्फ्यू लगा रहता था। सुबह ६-७ बजे से संध्या ६-७ बजे तक के समय को छोड़कर बाकी सारे समय में कर्फ्यू लगा रहता था। सूरज छिपा नहीं कि कर्फ्यू लग गया। अगर हमारे शहर में इस तरह का कर्फ्यू स्थायी रूप से वर्षों तक लगा रहे, तो हमारी क्या हालत होगी ? नगा लोगों को इस तरह की जिन्दगी पिछले दस वर्षों तक झेलनी पड़ी है।

इस परिस्थिति में से हमारे शान्ति-मिशन को मार्ग ढूँढ़ना था। काफी बातचीत और विचार-विमर्श के अन्त में हम दोनों पक्षों से इतना मनवा सके कि अब हम शस्त्रों का सहारा नहीं लेंगे और बातचीत तथा शान्तिमय साधनों द्वारा ही इन सवालों का हल ढूँढ़ेंगे। यह एक बहुत बड़ी सिद्धि थी। इसके लिए वहाँ वर्षों से जो सशस्त्र टक्कर चल रही थी, वह बन्द हो गयी और दस वर्षों बाद नगा लोग पुनः शान्ति की साँस ले सके।

एक बार शान्ति स्थापित होने पर उसका मनोवैज्ञानिक असर होता है

हमारी धारणा यह थी कि एक बार यदि वहाँ शान्ति स्थापित हो जाय, उसके बाद फिर राजनैतिक झगड़े मिटाने में यदि दस वर्ष भी लग जायँ तो कोई बात नहीं। यह शान्ति यदि कायम रहेगी तो उसकी शक्ति काम करेगी और राजनैतिक हल में भी उसका महत्त्वपूर्ण योगदान मिलेगा।

और यह धारणा बिलकुल ठीक निकली। ६ सितम्बर १९६४ को नगालैण्ड में पहली बार सीज-फायर (लामबन्दी) करने का फैसला हुआ। छह महीनों के लिए ही लामबन्दी की सन्धि हुई। किन्तु फिर यह मुद्दत बढ़ती गयी। और आज हम देखते हैं कि १९६४ की उस लामबन्दी ने अब सदा के लिए शान्ति का स्वरूप लिया है। हमने देखा कि एक बार वहाँ जो शान्ति कायम हुई है, उसका एक स्वास्थ्यकर—मानसिक स्वास्थ्य निर्माण करनेवाला—असर, जिसको अंग्रेजी में therapeutic effect कहते हैं, हो रहा है। जनता ने बहुत समय बाद पुनः शान्ति का सुख अनुभव किया। इसलिए यह शान्ति बनाये रखने के लिए जनता की तरफ से ही नगा-नेताओं पर काफी दबाव पड़ा। और फिर तो ऐसी स्थिति बनती गयी कि उस शान्ति को भंग करने की कोई हिम्मत नहीं कर सका।

इस तरह एक बार शान्ति का वातावरण बन गया, फिर हम नगा लोगों को

धीरे-धीरे समझाते गये कि जहाँ तक नगालैण्ड को स्वतन्त्र करने की माँग है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप भी भारत के दूसरे किसी प्रान्त जितने ही स्वतन्त्र हैं। असम पर आज कौन राज करता है? बंगाल पर कौन राज करता है? वहाँ की जनता ही तो? और फिर भी वह सब भारत में ही हैं। उसी तरह यहाँ नगालैण्ड में नगाओं का राज है। इस अर्थ में आप स्वतन्त्र ही हैं। बाकी, स्वतन्त्रता यानी भारत से अलग होना आपके हित में नहीं। इस तरह आपकी स्वतन्त्रता टिक सकेगी या नहीं, यही सवाल है। बर्मा, चीन, पाकिस्तान आपके कितने अधिक निकट हैं। इसलिए भारत के अन्दर रहकर ही स्वतन्त्र रहने में आपका लाभ है।

इस प्रकार नगालैण्ड की समस्या शान्तिमय ढंग से सुलझायी जा सकी है। ऐसी समस्याएँ राजनीति से हल नहीं की जा सकतीं। सैनिक शक्ति द्वारा सुलझायी जा सकती हैं, यह भी बहुत बड़ा भ्रम है। अहिंसा और शान्ति की शक्ति को सक्रिय करके ही उसका स्थायी हल ढूंढ़ा जा सकता है। इन सब राजकीय बातों में मैं जो रुचि लेता हूँ, उसके पीछे मुख्य प्रेरणा यही रही है। मैंने इसे शान्ति-सेना का एक बहुत ही जरूरी काम माना है।

भारत-पाक-सम्बन्ध

भारत-पाक-सम्बन्धों के बारे में भी मैं वर्षों से इसी बात की हिमायत करता आया हूँ। भारत और पाकिस्तान के बीच सदा संघर्ष चलता रहे, इसमें दोनों का अहित है। इस संघर्ष का सबसे घातक परिणाम है—उसके लिए चुकाना पड़ रहा मानवीय और नैतिक मूल्य तथा दोनों देशों की जनता में बढ़ता जा रहा अलगाव। इस महाद्वीप के राजनीतिक विभाजन हो जाने के बावजूद यह हकीकत नहीं भुलायी जा सकती कि भारत और पाकिस्तान की जनता वास्तव में एक ही है। राज्य तो चार दिनों की चाँदनी जैसे हैं, लेकिन प्रजा शाश्वत है, नित्य रहनेवाली है। इसलिए मेरी दृष्टि में भारत और पाकिस्तान के लोगों के बीच का परस्पर अलगाव इस संघर्ष का सबसे बड़ा अभिशाप है।

यदि भारत की जनता को दिन-रात यह कहा जाय कि जो कुछ गलत होता है उसमें सारा दोष पाकिस्तान का है, और पाकिस्तान की जनता को हर क्षण यह कहकर उत्तेजित किया जाय कि भारत ही धूर्त और दुष्ट है, तो दोनों देशों के बीच निरन्तर संघर्ष अनिवार्यतः रहेगा ही। हर देश के समाचारपत्र दूसरे देश को पूर्ण दोषी ठहराने में कोई कोर-कसर उठा न रखें, तो इसका कहीं अन्त नहीं आयेगा। इसलिए इस जहरीली भावना को त्यागना ही पड़ेगा। दोनों देशों के बीच कोई

कड़ी बनानी चाहिए। दोनों देशों की जनता को निकट लाने का प्रयास होना चाहिए।

इसी दृष्टि से मैंने हमेशा कोशिश की है। मैंने देखा कि दोनों देशों के ग्रापसी सम्बन्धों में कश्मीर एक मुख्य बाधा है। किन्तु कश्मीर जैसे विवादास्पद प्रश्न के हल होने के बाद ही दोनों देशों के बीच सद्भाव हो सकता है, ऐसा ग्राग्रह रखेंगे तो कोई भी सवाल हल नहीं होगा। इसलिए मैंने बीच में एक बार ऐसा कहा था कि कुछ समय के लिए कश्मीर जैसे सवाल को शीतागार (Cold storage) में रखकर, दोनों देशों की जनता के बीच मैत्री बढ़े, मेल-जोल हो, इसके लिए प्रयत्न करने चाहिए। एक बार दोनों देशों के सम्बन्ध सुधरेंगे तो उसके वाद कश्मीर जैसा प्रश्न भी इतना बीहड़ नहीं लगेगा। ऐसे प्रश्न मुख्यतः मानसशास्त्रीय होते हैं।

सहयोग का विशाल क्षेत्र

कुछ ऐसी बातें हैं, जिनमें सहयोग हो सकता है। उसके लिए पहले तो साथ बैठकर बातचीत करनी चाहिए ग्रौर दोनों देशों का समान हित किसमें है, यह देखना चाहिए। उदाहरण के लिए दोनों देशों के बीच रेलों का ग्रावागमन शुरू किया जा सकता है। 'वीसा' पद्धति रद्द हो सकती है। दोनों देशों की जनता के बीच जैसे-जैसे श्रद्धा ग्रौर विश्वास बढ़ते जायँ, वैसे-वैसे ग्रायात-निर्यात, करेन्सी, बैंकिंग जैसे ग्रार्थिक मामलों में भी सहयोग हो सकता है। भारत में कोयला है, किन्तु पाकिस्तान को इंग्लैण्ड से मँगाना पड़ता है। भारत में जूट की मिलें हैं, उसके लिए कच्चा माल पाकिस्तान दे सकता है। राष्ट्रपति ग्रयूब ने एक बार भारत-पाकिस्तान के संयुक्त संरक्षण की बात कही थी। उस दिशा में भी सोचा जा सकता है। इस तरह ग्रादान-प्रदान ग्रौर सहयोग हो, तो दोनों देश एक-दूसरे के निकट ग्राते जायेंगे ग्रौर धीरे-धीरे सम्बन्ध सुधरेंगे। दोनों देशों की ग्राम जनता का परस्पर सम्पर्क बढ़ना चाहिए। एक बार परस्पर विश्वास ग्रौर समझदारी का वातावरण बन जाय तो फिर शेष सवालों को हल करना सरल बने।

इस तरह शान्ति की शक्ति सक्रिय बने, इसके लिए मैं लगातार कोशिश करता रहता हूँ। किन्तु भारत-पाक-सम्बन्ध के मामले में ग्रधिक सफलता नहीं मिली है। इसका मुख्य कारण मुझे यह लगा कि दोनों देशों के नेता लोकमत को सही दिशा में साहसपूर्वक मोड़ने का ग्रपना कर्तव्य पूरा नहीं कर सके हैं। फिर लोकमत तो ग्रखबारों में छपनेवाले बड़े-बड़े शीर्षकों से बनता है। ग्रौर इस तरह लोगों के मनोभावों को इस सीमा तक उत्तेजित कर दिया जाता है कि वहाँ से पीछे हटना ग्रत्यन्त कठिन हो जाय। किन्तु लोकमत को सही दिशा में मोड़ने के लिए

दायित्वपूर्वक कौन सोचता है ? वास्तव में नेता का कर्तव्य है कि वह दूरदृष्टि से, कभी अप्रिय बनकर भी, जनता को सही मार्ग पर लाये। प्रतिकूल लोकमत और पार्टी की छोटी-बड़ी गुटबन्दी के डर से पंगु बन जाना, यह तो नेता की कमजोरी है। किन्तु भारत-पाकिस्तान सम्बन्धी मामले में तो अधिकतर नेताओं की ऐसी कमजोरी ही देखने को मिली है। ऐसा करके दोनों देशों के नेताओं ने अपने-अपने देश की कुसेवा ही की है। पण्डित नेहरू ने अन्त में कुछ नयी दिशा में पहल करने की शुरुआत की थी। किन्तु तभी एकाएक उनकी मृत्यु हो जाने से वह प्रयास आरम्भ में ही मुरझा गया।

इसलिए दोनों देशों के बीच का तनाव बढ़ता ही रहा। फलस्वरूप दोनों देशों को तबाह करनेवाले युद्ध बिलकुल समाप्त नहीं किये जा सके। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि भारत-पाक-सम्बन्ध के साथ ही साम्प्रदायिक तनाव का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। दोनों देशों के बीच झगड़ों के चलते रहने से भारत में मुसलमानों तथा पाकिस्तान में हिन्दुओं को सदा आशंकाओं के बीच जीना पड़ता है और भयंकर मानसिक परेशानी भोगनी पड़ती है। कौमी दंगों का भय भी हमेशा सिर पर तलवार की तरह लटकता रहता है। हिन्दुस्तानी हिन्दू, हिन्दुस्तानी मुसलमानों को केवल इसलिए मारने लग जाते हैं कि पाकिस्तानी मुसलमानों ने पाकिस्तानी हिन्दुओं को मारा है। यह एकदम पागलपन है। हमें अपने देशवासियों को समझाना होगा कि अपने इस पागल कारनामों से वे एक ही साथ राष्ट्र, ईश्वर और मानव सबको इनकार कर रहे हैं।

दो राष्ट्र, एक प्रजा !

इस सन्दर्भ में मैं पिछले तीन-चार वर्षों से अपने देशवासियों का ध्यान इस बात की तरफ खींचता रहा हूँ कि पाकिस्तान की आन्तरिक परिस्थिति में जो बहुत बड़ा फेरबदल हो रहा है, वह हमारी दृष्टि से ओझल नहीं रहना चाहिए। मात्र वहाँ के सत्ताधीशों की घोषणाओं को याद करते रहने से उन बातों की ओर हमारा ध्यान नहीं जायगा। जरा गहराई में उतरकर पाकिस्तान की अन्दरूनी हालत कैसी है, इस तथ्य का भी ध्यान रखना चाहिए।

जब १९६९ में अहमदाबाद में भयंकर साम्प्रदायिक दंगा हुआ था, तब शान्ति-सेना के काम से एकाध सप्ताह मैं वहाँ रहा। शहरभर में मैंने जगह-जगह सभाओं में यह बात जोर देकर लोगों को समझाने का प्रयत्न किया। लगभग हर भाषण में मैं कहता था कि 'क्या आपको पता है कि अब पूर्व पाकिस्तान में परिस्थिति बिलकुल बदल गयी है ? अब वहाँ के बंगाली मुसलमान और बंगाली

हिन्दू एक हो गये हैं। वे कहते हैं कि हमारी लड़ाई तो पंजाबियों के साथ है, जो हमारी छाती पर चढ़ बैठे हैं।' उस वक्त पूर्व पाकिस्तान में उर्दू भाषा के उग्र विरोध की, बंगला को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए आन्दोलन की, पाकिस्तानी सत्ताधीशों के विरोध के बावजूद पूर्वी पाकिस्तान की जनता द्वारा रवीन्द्रनाथ टैगोर को अपना सबसे बड़ा कवि माने जाने की तथा खान अब्दुल गफ्फार खाँ के पुत्र वलीखान, शेख मुजीबुर्रहमान, जी० एम० सैयद आदि नये नेताओं के भारत के प्रति सद्भाव की बातें मैंने जनता के सामने रखी थीं। तब मैं जेनेवा के पाकिस्तानी प्रतिनिधि द्वारा लिखे एक लेख का भी सब जगह उल्लेख करता था। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए उस लेख में उन्होंने लिखा है कि They are two nations, but one people—राष्ट्र दो हैं, किन्तु जनता एक है। राष्ट्र दो, जनता एक!

जनता को हकीकतों से वाकिफ नहीं रखा जाता

मुझे विश्वास है कि हमारे समाचारपत्रों और नेताओं ने यदि पाकिस्तान की अन्दरूनी परिस्थिति में हो रहे परिवर्तनों की जानकारी हमारी जनता को दी होती, तो लोगों के विचार और व्यवहार में काफी परिवर्तन आया होता। जनता को हकीकतों से वाकिफ नहीं रखा जाता, इसलिए वास्तविकता का ख्याल उसे नहीं आता और वह पुरानी परम्परा से निकल नहीं पाती। अब तो बांगला देश की घटना के बाद यह सब दीये की लौ की तरह स्पष्ट हो चुका है।

बांगला देश की घटनाओं ने हमारे भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में एक नया प्रकरण शुरू किया है। वे घटनाएँ अभूतपूर्व थीं। पहली बात तो यह कि जिस तरह शेखमुजीबुर्रहमान ने अपनी जनता को एक सूत्र में बाँध लिया, सबका समर्थन प्राप्त करने में जैसी शानदार सफलता हासिल की, वैसा कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। पूर्व पाकिस्तान में १९ दल चुनाव लड़ रहे थे। उस चुनाव में लगभग ९९ प्रतिशत बहुमत से बंगाल की जनता ने शेख मुजीब और उनके दल अवामी लीग में अपना विश्वास व्यक्त किया। साथ-साथ पाकिस्तान की राष्ट्रीय असेम्बली में भी अवामी लीग को ही स्पष्ट बहुमत मिला। इसलिए शेख मुजीब केवल बांगला देश के ही नहीं, बल्कि पूरे पाकिस्तान के प्रधान-मन्त्री बनने के हकदार थे। किन्तु उनके साथ पाकिस्तान के सत्ताधीशों ने कैसा व्यवहार किया?

बहादुरी की अविस्मरणीय गाथा

भयंकर उत्तेजनापूर्ण परिस्थिति और विरोध के बावजूद मुजीब ने जो सहिष्णुता

श्रौर समझदारी दिखलायी श्रौर श्रहिंसक श्रसहयोग का जो श्रान्दोलन चलाया, उसका दूसरा उदाहरण मिलना मुश्किल है। गांधीजी के जमाने में भी ऐसा नहीं हो सका था। हाइकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश से लेकर साधारण जनता तक का ऐसा संगठित श्रान्दोलन दुनियाभर में श्रद्वितीय है।

शेख मुजीब ने तब तक स्वतन्त्र होने की माँग नहीं की थी। वह तो मात्र श्रपने देश में जनता का राज चाहते थे। उनकी माँग तो देशभर में जनता के राज श्रौर श्रपने प्रदेश में पूर्ण स्वायत्तता तक ही सीमित थी। किन्तु याहिया खाँ श्रौर भुट्टो ने उन्हें धोखा दिया। वे एक तरफ शान्तिमय बातचीत का नाटक करते रहे श्रौर दूसरी तरफ जोरदार सैनिक तैयारी भी करते रहे। श्रौर फिर पाकिस्तानी सैनिकों ने पूर्व बंगाल की जनता पर जो कहर ढाया, उसका स्मरण भी श्रत्यन्त कष्टप्रद है। इसलिए उन लोगों के लिए पाकिस्तान के साथ रहना श्रसम्भव हो गया श्रौर उन्हें बांगला देश स्वतन्त्र घोषित करना पड़ा।

पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा बंगाल में जो नरसंहार हुश्रा, वैसा नृशंस क्रूरतापूर्ण राक्षसी काण्ड तो शायद हिटलर के समय में भी नहीं हुश्रा होगा। जिस सेना के लिए बांगला देश की गरीब जनता ने भी श्रपना खून श्रौर पैसा दिया था, उसी सेना ने उस पर कहर ढाया! निर्दोष स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे, विद्यार्थी, शिक्षक, मजदूर श्रादि की क्रूर हत्याएँ की गयीं। माँ को मार डाला, उसकी गोद का बालक रो पड़ा तो उसे भी गोली से उड़ा दिया। यह पाकिस्तान—पवित्र देश! लेकिन इससे भी नापाक काम क्या कोई कर सकता है? कितने लोग मारे गये, उसकी कोई गिनती नहीं।

बांगला देश की जनता ने इसका बहादुरी से सामना किया। सशस्त्र सेना का शस्त्रहीन जनता ने श्रात्मबल से मुकाबला किया। कितनी ऐसी लाशें देखने को मिलीं, जिनके हाथ में मात्र लाठियाँ थीं, यानी लाठियों द्वारा ही बन्दूकों का सामना करते-करते वे मरे थे। लन्दन के 'श्राब्जर्वर' साप्ताहिक ने तो इस पर एक श्रग्रलेख भी लिखा, जिसका शीर्षक था : Mujib's Bamboo-stick Army—मुजीब की लाठी सेना! एक तरफ मशीनगन है, दूसरी तरफ लाठी है। मैंने तो कहा कि यह लगभग श्रहिंसा ही है। जब हिटलर ने पोलैण्ड पर श्राक्रमण किया था श्रौर वहाँ की जनता ने जब उसका बहादुरी से सामना किया, तब गांधीजी ने कहा कि इतनी बहादुरी दिखाने के साथ यदि वे कुछ हिंसा भी करें, तो दुनिया उन्हें माफ कर देगी श्रौर इसे almost non-violence—लगभग श्रहिंसा ही मानेगी।

सभ्यता का मिथ्या आवरण

इसमें से शरणार्थियों की जो समस्या उपस्थित हुई, वह भी अभूतपूर्व ही थी। पूर्व बंगाल से भारत आये शरणार्थियों की संख्या लगभग एक करोड़ पहुँच गयी। अतः बांगला देश के प्रश्न ने स्वयं हमारे लिए भी जीवन-मरण का प्रश्न खड़ा कर दिया। हमारे जैसे घनी आबादीवाले गरीब देश पर यह एक असह्य बोझ था। और यह केवल आर्थिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक और सामाजिक बोझ भी था। २५ मार्च १९७१ के बाद भारत की तरफ शरणार्थियों का जो प्रवाह शुरू हुआ, वह वास्तव में भारत की अर्थ-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था पर पाकिस्तान का हमला ही था।

पाकिस्तानी सैनिकों की इस निरी बर्बरता के बावजूद दुनिया के सभी देश चुप बैठे रहे। हाँ, मानव-जाति की नैतिकता, उसकी विवेक-बुद्धि को झकझोरने के लिए दुनिया के अखबारों ने अद्भुत काम किया। किन्तु दुनिया की सरकारें राष्ट्रीय सार्वभौमत्व, सत्ता का संतुलन आदि के अपने दिवास्वप्नों में ही खोयी रहीं। सत्ता का कृत्रिम संतुलन, जिसे दुनिया की महान् शक्तियों ने खड़ा किया था, जैसे का तैसा बना रहे, इसीकी आतुरता थी सबमें। इन सारी सरकारों ने अपने व्यवहार से यह प्रमाणित किया है कि सभ्यता तो केवल बच्चों का बहुरंगी दुपट्टा है। उनके लिए दूसरी किसी चीज का मूल्य नहीं। मूल्य बस केवल एक ही है और वह है शक्ति।

शान्ति के एक अदना सेवक के नाते

इस परिस्थिति में मात्र शाब्दिक सहानुभूति दरशाकर बैठे रहना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए संभव नहीं था। इसलिए बांगला देश की जनता की सक्रिय सहायता करने के लिए मैं जो कुछ कर सकता था, मैंने किया। मेरे पास कोई सत्ता तो थी नहीं, कोई पद भी नहीं था। किन्तु एक मानव की हैसियत से, एक साधारण नागरिक के नाते, मानव-स्वतन्त्रता के लिए एक अदना सैनिक के रूप में बांगला देश की मुक्ति के लिए जो कुछ कर सकता था, वह मैंने किया। इसके लिए मैंने ४७ दिनों तक दुनिया के देशों की यात्रा भी की। यह यात्रा मैंने 'शान्ति के एक सेवक' के नाते की। इस समस्या का कोई राजनीतिक हल सम्भव हो, तो उसे ढूँढ़ने की कोशिश की। लेकिन मैंने देखा कि दुनिया की सरकारें तो परिस्थिति की नग्न वास्तविकताओं की तरफ से आँखें मूंद लिया करती हैं। जून १९७१ में याहिया खाँ ने जो वक्तव्य दिया था, उससे इतना तो साफ जाहिर हो गया कि इस समस्या का कोई संतोषजनक राजनीतिक हल निकालने की न तो उनकी इच्छा है, न शक्ति है।

इसलिए अन्त में यह निश्चित हो गया कि पाकिस्तान का पूर्वी भाग पश्चिम से सदा के लिए अलग हो गया है और अब बांगला देश की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के सिवा इस समस्या का दूसरा कोई राजनीतिक हल सम्भव ही नहीं। इसीलिए बांगला देश की सरकार को तत्काल विधिवत् मान्यता देकर बांगला देश की मुक्ति के लिए उसे सभी तरह की मदद करने के लिए मैं अपने देश की सरकार से निवेदन करता रहा।

एक विश्व-नागरिक की दृष्टि से ही मैंने यह किया

तब कितने ही लोगों ने यह कहा कि कभी पाकिस्तान के साथ मैत्री की बात करनेवाले जयप्रकाश अब उसके साथ युद्ध करने की हिमायत करते हैं। लेकिन यह बिलकुल गलत बात है। बांगला देश की समस्या को मैंने एक विश्व-नागरिक की दृष्टि से ही देखा है। आज मैं जिस आन्दोलन में लगा हूँ, उसका मन्त्र है, जय जगत्! यानी जब निर्दोष जनता की स्वतन्त्रता की न्यायोचित आकांक्षा को सैनिक अधिकारी कुचल डालना चाहते हों, तब उसके विरुद्ध आवाज बुलन्द करना मैंने अपना स्वधर्म ही माना है। यह तो मानवता का प्रश्न था। हमारा हृदय स्वाभाविक ही बांगला देश की जनता के साथ हो जाता था।

मैं हरगिज पाकिस्तान का विरोधी नहीं हूँ। जैसे मैं अपने देश की अखण्डता में विश्वास रखता हूँ, उसी तरह मैं नहीं चाहता कि पाकितान की अखण्डता खण्डित हो। इसलिए पाकिस्तान टूट रहा था, इस बात की मुझे जरा भी खुशी नहीं थी। किन्तु पाकिस्तान किसने तोड़ा? हमने नहीं, शेख मुजीब ने नहीं, बांगला देश की जनता ने भी नहीं। पाकिस्तान को तोड़ने की जिम्मेदारी यदि किसी पर है तो वह याहिया खाँ और जुल्फीक र अली भुट्टो पर ही है। सारी जिम्मेदारी इन दोनों की है। बांगला देश की अस्थायी सरकार के प्रधानमन्त्री ताजुद्दीन के शब्दों में कहना हो तो Pakistan lies burried under mountain of corpses—लाशों के पहाड़ के नीचे पाकिस्तान दफनाया जा चुका है।

मैं यह हरगिज नहीं चाहता था कि भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध हो। किन्तु बांगला देश को मान्यता और मदद देने के कारण यदि संघर्ष की परिस्थिति खड़ी होनेवाली थी, तो उसका सामना करना ही था। जो कुसंयोग उपस्थित था, उसमें इसके सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं था। देर-सवेर उसका सामना करना ही था। और वास्तव में देखें तो ३ दिसम्बर १९७१ को जो युद्ध शुरू हुआ, उसका आरम्भ उसी दिन ही नहीं, बल्कि २५ मार्च १९७१ को ही हो चुका था,

जब पाकिस्तानी सैनिकशाही ने निःशस्त्र बांगलावासियों पर अचानक हमला किया था।

खैर, इतने अधिक समय तक इतनी सारी यातनाएँ सहने और अपनी शस्य श्यामला मातृभूमि पर इतना खून बहाने के बाद आखिर बांगला देश की जनता को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, इससे मुझे बेहद आनन्द हुआ है। अत्यन्त उलझे हुए उस नाजुक वक्त के दरमियांन हमारी प्रधानमन्त्री इन्दिराजी ने जिस संयम, दूरदर्शिता एवं राजनीतिक सूझ-बूझ से काम लिया, उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्र की इस गम्भीरतम नाजुक घड़ी में उन्होंने देश को प्रशंसनीय नेतृत्व प्रदान किया है। पश्चिमी मोर्चे पर एकपक्षीय युद्ध-विराम की उनकी घोषणा को तो मैं एक सर्वोच्च प्रकार के राजनीतिक निपुणतायुक्त कदम के रूप में देखता और उसकी प्रशंसा करता हूँ। निक्सन के नाम लिखा गया उनका पत्र तो अन्तर्राष्ट्रीय पत्र-व्यवहार के इतिहास में एक बहुत ही शानदार और अत्यन्त मार्मिक पत्र के रूप में स्थान प्राप्त करेगा।

स्थायी शान्ति और सहकार का एक नया अध्याय

बांगला देश की घटना के बाद भारत-पाकिस्तान-सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ है। हमें आशा है कि अब पाकिस्तान के सत्ताधीश मध्ययुगीन 'जेहाद' की हाँक लगाना सदा के लिए छोड़ देंगे, धर्म का नाजायज लाभ उठाकर अपनी भोली-भाली जनता को गलत रास्ते पर ले जाना बन्द करेंगे और जम्मू-कश्मीर पर अपनी कुदृष्टि जमाये हुए उस क्षेत्र में बार-बार मुसीबत खड़ी करने का सिलसिला भी समाप्त करेंगे। जम्मू-कश्मीर के जो भी सवाल हैं, वे तो वहाँ की जनता और भारत-सरकार के बीच के हैं और उसका समाधान वे दोनों मिलकर कर लेंगे।

मैं अत्यन्त गहरी हार्दिकता के साथ यह आशा व्यक्त करता हूँ कि पाकिस्तान की जनता अब ठोस रूप में विचार करेगी, अपने लोकतान्त्रिक अधिकारों का प्रभावकारी ढंग से प्रयोग करेगी, सैनिकशाही को उखाड़ फेंकेगी, अपने देश में लोकशाही की स्थापना करेगी, ताकि जनता आजादी की ताजी हवा में साँस ले सके और अपनी इच्छानुसार अपना काम-काज चला सके। भारत पाकिस्तान की जनता के प्रति सद्भाव की ही भावना रखता है। इसलिए दोनों देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बनें, अब इसके लिए पुरुषार्थ किया जाना चाहिए।

और यह असम्भव नहीं। दोनों देश सदा के लिए दुश्मन ही बने रहेंगे, यह गाँठ बाँधकर बैठे रहने से कुछ नहीं होगा। जरा इतिहास पर नजर डालें। फ्रांस और जर्मनी कट्टर दुश्मन गिने जाते थे। दोनों के बीच वर्षों तक कितनी दुश्मनी

थी ! दोनों के बीच कई बार युद्ध भी हुए । ये दोनों देश भी कभी मित्र बनेंगे, ऐसी किसीको आशा नहीं थी । किन्तु आज क्या स्थिति है ? आज ये दोनों देश सबसे अधिक निकट हैं । यूरोप के साझा बाजार में दोनों मित्र हैं । इस साझा बाजार में ये दोनों मुख्य हिस्सेदार हैं । समझने की बात है कि आखिर इतिहास को बनानेवाले तो हम ही हैं । उसे जैसा मोड़ देना हो, वैसा दे सकते हैं । देश के हित में क्या है, दोनों देशों की जनता के हित में क्या है, इस पर शान्तिपूर्वक सोचना चाहिए । अब, शिमला-समझौते द्वारा इस दिशा में एक नया प्रयास शुरू हुआ है, यह अत्यन्त खुशी की बात है । इस उपमहाद्वीप में शान्ति चाहनेवाले प्रत्येक भारतीय नागरिक को शिमला-समझौते का हार्दिक समर्थन करना चाहिए । इस समझौते से कई ठोस एवं व्यावहारिक कदम उठाये जाने के सम्बन्ध में सहमति हुई है । अगर ईमानदारी से उन पर अमल होगा, तो दोनों देशों के बीच स्थायी शान्ति और सहयोग का एक नया अध्याय शुरू होगा ।

आज एक व्यापक दृष्टिकोण की जरूरत है

हम चाहें या न चाहें, पश्चिम पाकिस्तान ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप का ही एक भाग है। उसका भविष्य इस महाद्वीप की शेष जनता के भविष्य के साथ जुड़ा है । इस कारण भारत तथा बांगला देश के साथ उसका सम्बन्ध सद्भाव एवं सहकारपूर्ण हो, यह जरूरी है । इतिहास, भूगोल, संस्कृति सभी दृष्टियों से यह भारतीय उपमहाद्वीप के लिए दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया में कुंजी की भूमिका अदा करनेवाली स्थिति का निर्माण हुआ है । किन्तु जब तक यहाँ अनबन और संघर्ष का वातावरण चलता रहेगा, तब तक ऐसी भूमिका अदा करने की शक्ति अत्यन्त सीमित रहेगी ।

इसलिए आज की परिस्थिति के अनुरूप नया चिंतन चलना चाहिए और उसके लिए आज एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है । भारतीय उपमहाद्वीप में भी सबसे बड़ी जिम्मेदारी भारत पर है । हम व्यापक दृष्टिकोण रखेंगे, तभी यह जिम्मेदारी पूरी कर सकेंगे । किन्तु यदि उसके बदले संकीर्णता में पड़े रहेंगे, तो भारत दुनिया में अपनी कोई मार्गदर्शक भूमिका नहीं अदा कर सकेगा ।

दूरदर्शी विनोबा का सपना

विनोबा दूरदर्शी हैं । जो ऋषि होता है, वह बहुत दूर तक देख सकता है । इसीलिए उन्होंने ए बी सी त्रिकोण की कल्पना प्रस्तुत की है । 'ए' यानी अफगानिस्तान, 'बी' यानी बर्मा और 'सी' यानी सीलोन । इस व्यापक परिधि में आनेवाले सभी देशों का एक महासंघ बने । उसमें भारत, पाकिस्तान, भूटान,

नेपाल, सिक्किम ग्रादि सभी देश ग्रा जायँ। क्षुद्र संकुचित ख्यालों से ऊपर उठकर जरा निगाह दौड़ायें, तो तुरन्त ख्याल ग्रायेगा कि ऐसा महासंघ ग्राज की geo-politics—भौगोलिक-राजकीय माँग है। इसलिए हमें जरा व्यापक दृष्टि से विचार करने की नीति ग्रपनानी चाहिए। हमारे पड़ोसी देश हमारी तरफ किस तरह खिचें, उसके लिए कोशिश करनी चाहिए।

देश के समझदार लोगों को यह सब समझना है ग्रौर दूसरों को समझाना है। हमारी इतनी ही प्रार्थना है कि इन सब विषयों में शान्तिपूर्वक खुली चर्चा होती रहनी चाहिए। इससे स्वस्थ लोकमत बनाने में बहुत बड़ा योगदान हो सकता है। ऐसे स्वस्थ लोकमत के निर्माण की दृष्टि से ही देश के एक ग्रदना सेवक के नाते ये सारी बातें मैं देश की जनता के समक्ष प्रस्तुत करता रहा हूँ।

ग्राजादी के शुरू के वर्षों में पण्डित नेहरू की विदेश-नीति की भी एक-दो बार मुझे सख्त ग्रालोचना करनी पड़ी थी। यों तो तटस्थता की इस नीति का मैं स्वयं सौ प्रतिशत समर्थक हूँ, इतना ही नहीं, इस प्रकार की नीति के निर्धारण में मेरा ग्रौर मेरे समाजवादी बन्धुग्रों का कुछ हिस्सा है, यह कहना गलत न होगा। फिर भी एक-दो बार मुझे ग्रपनी विदेश-नीति की सख्त ग्रालोचना करनी पड़ी थी, खासकर हंगरी ग्रौर तिब्बत की घटनाग्रों के समय।

हंगरी-चेकोस्लोवाकिया-तिब्बत

मुझे लगता है कि हम तटस्थ हैं ऐसा हम कहते हैं, लेकिन कई मामलों में हम दुहरी नीति ग्रपना लेते हैं, ऐसा दीखता है। उदाहरण के लिए हंगरी के मामले में क्या हुग्रा? वह साफ-साफ ग्राक्रमण था। किन्तु हमारे कृष्ण मेनन साहब ने इस विषय में कहा कि यह उनका घरेलू मामला है। मैं यह पूछता हूँ कि रूसवालों का घर हंगरी में तो नहीं था? फिर भी रूस ने वहाँ की जनता को कुचलने के लिए ग्रपनी सेना क्यों भेजी? एक तरफ नवयुवक थे—नवयुवक क्या, कई तो १२-१४ वर्ष के लड़के थे—ग्रौर दूसरी तरफ रूस के टैंक थे। यह घरेलू मामला था?

मैं निश्चित रूप से यह मानता हूँ कि इस प्रसंग पर यदि हमने जोर देकर कहा होता कि यह रूस का नग्न ग्राक्रमण है, तो दूसरे बहुत सारे देश हमारे साथ मिल गये होते ग्रौर सारी दुनिया की ग्रावाज स्वेज समस्या के समय जैसे फ्रांस ग्रौर इंग्लैण्ड के विरुद्ध हो गयी थी, वैसे ही इस प्रसंग में रूस के विरुद्ध हो जाती। ग्रौर इस कारण शायद रूस को वहाँ से वापस लौटना पड़ा होता। कम-से-कम रूस ने जो दूसरी बार हंगरी पर ग्राक्रमण किया, वह तो न किया होता।

ऐसा ही चेकोस्लोवाकिया की घटना के समय ग्रभी फिर हुग्रा। वहाँ भी मानव-हृदय की स्वातन्त्र्य-चेतना को कुचलने के लिए रूसी टैंक भेजे गये।

साम्यवादी आन्दोलन और साम्यवादी क्रान्ति साम्राज्यवाद के विरोधी माने जाते हैं। परन्तु यदि ५१ वर्षों के बाद भी साम्यवाद का साम्राज्यवादी रूप बदला नहीं है और साम्यवादी दुनिया में यदि जंगल का ही नियम अब तक लागू रहा है कि हिंसक और बलवान् पशु दूसरे पशुओं को खा लेते हैं, तो फिर इस विषय में गम्भीरता से विचार करना चाहिए। इन सब मामलों के विरुद्ध हमारी तरफ से जोरदार आवाज नहीं उठती तो मुझे अपने देश की विदेश-नीति की आलोचना करना अपना फर्ज मालूम पड़ता है।

तिब्बत के मामले में भी मेरा यही कहना था। आज तो ऐसा लगता है कि उस समय हमने जोरदार आवाज बुलंद की होती, तो चीन को एकदम अपनी सरहद तक आने से रोका जा सका होता। किन्तु हमारी गम्भीर भूल यह हुई कि हमने चीन का तिब्बत पर सार्वभौमत्व स्वीकार कर लिया। चीन ने वहाँ ५०-६० हजार लोगों का कत्ल कर डाला, फिर भी हमने उसके विरुद्ध आवाज नहीं बुलन्द की। चीन उस समय हमारा मित्र था, यह सही है, किन्तु मित्र यदि अन्याय करता हो, तो उसकी आलोचना नहीं हो सकती ?

मुझे न कोई पद चाहिए, न कोई सत्ता

ऐसे कुछ मौकों पर मुझे अपनी विदेश-नीति के विरुद्ध आवाज उठानी पड़ी है। कितनों को यह अच्छा नहीं लगा, और उन लोगों ने उस समय मेरी टीका भी की। किन्तु, जिस वक्त जो सच लगे, उस वक्त उसे जनता के समक्ष रखना और इस तरह स्वस्थ लोकमत बनाने में अपना अदना-सा योगदान करना मैंने अपना धर्म ही माना है।

इसलिए देश के एक अदना सेवक के नाते यह सारी बातें देश की जनता के समक्ष रखता रहा हूँ। उसके पीछे एकमात्र दृष्टि रहती है देश-हित की। मैंने बार-बार कहा है कि मैं राजनीति में नहीं हूँ और न मुझे राजनीति से कुछ लेना-देना है। आज तक मैंने कुछ माँगा नहीं है। न मुझे कोई पद चाहिए, न कोई सत्ता। इस देश के विनम्र सेवक के नाते ही मुझे अपनी जिन्दगी व्यतीत करनी है। देश की आजादी और खुशहाली के लिए ही मैंने अपनी जवानी खपायी है और आज इस उम्र में भी देश की सेवा में ही जीवन लगा रहा हूँ और देश-हित की दृष्टि से ही मैं ये बातें जनता के सामने रखता रहता हूँ।

लोकनीति को विकसित करने की कोशिश

यह लोकनीति है। वास्तव में यही असली राजनीति है, बुनियादी राजनीति है, जनता की राजनीति है। इस सम्पूर्ण विवरण से पाठकों ने देखा होगा कि आज

की प्रचलित दलीय और सत्ता की राजनीति के अलावा भी जनता के प्रत्यक्ष व्यावहारिक जीवन की असली राजनीति का कितना विशाल क्षेत्र पड़ा है और उसमें कितना अधिक काम करना बाकी है। बल्कि, वास्तव में देखा जाय तो इस असली राजनीति का काम दल या सत्ता की राजनीति में रमे हुए लोगों की अपेक्षा तटस्थ और निष्पक्ष लोग ही अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। हम यह भी देखते हैं कि कुछ सवाल तो राजनीति के कारण ही उलटे और अधिक उलझते रहते हैं। और जब तक इन सवालों में से राजनीति अपनी टाँग नहीं निकाल लेती और दलीय तथा सत्तामूलक राजनीतिक लाभ की दृष्टि से सोचने के बदले देश-हित की दृष्टि से नहीं सोचा जाता, तब तक ये सवाल कभी हल नहीं होंगे। राजनीति का अपना क्षेत्र है, उसका महत्त्व है, इससे मेरा इनकार नहीं है। लेकिन केवल वही एकमात्र क्षेत्र है, वहीं जाकर सबको काम करना है और तभी देश का उद्धार होगा, देश की समस्या हल होगी, यह बिलकुल गलत बात है। इतना ही नहीं, वास्तव में तो इस प्रचलित राजनीति के बाहर ही असली राजनीति का विशाल क्षेत्र पड़ा है, जिसमें काम करके सर्वोदय-आन्दोलन एक नयी लोकनीति विकसित करने की कोशिश कर रहा है। मेरी यही भूमिका है और इसीके अनुसार मैं अपना काम करता रहता हूँ। ●

व्यापार-उद्योग का सामाजिक दायित्व १९

गांधीजी के समग्र जीवन-दर्शन की आधार-शिला यह है कि हम सब समाज में रहते हैं, इसलिए हमारे पास जो कुछ है, वह समाज का है। हमारा धन, हमारी बुद्धि, हमारा शरीर, सब-कुछ ही समाज की देन है। हम केवल इसके ट्रस्टी हैं। हमें अपनी आवश्यकताभर रखकर शेष सब-कुछ समाज को दे देना चाहिए। यदि हम नहीं देते, तो चोर बनते हैं। जन्म से ही हम समाज की कृपा पर जीवित रहते हैं। समाज ने हमारा पालन-पोषण किया है, समाज ने हमें शिक्षा दी है, समाज ने हमें काम दिया है। करोड़पति के करोड़ों कहीं अकेले में बैठे-बैठे पैदा नहीं होते। मजदूर, ग्राहक, रेलवे आदि सभी के चलते मुनाफा होता है। इसलिए हरएक को समाज का ऋण चुकाना चाहिए।

इस जीवन-दर्शन के अनुसार समाज में जो भी उद्योग-धन्धे और व्यवसाय चलते हैं, वे सब समाज के हित में ही चलने चाहिए। समाज के प्रत्येक सदस्य की सुख-समृद्धि और कल्याण——यही सारे उद्योग-धन्धे और व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य हो सकता है। अभी इनका मुख्य उद्देश्य 'मुनाफा' है। लोगों के मन में व्यापार-उद्योग और मुनाफाखोरी एक-दूसरे से जुड़ी हुई चीजों के रूप में हैं। इससे लोक-मानस में व्यापार-उद्योग की तस्वीर में कुछ धब्बे लगे हैं। किन्तु अब यह बात लोगों को अधिकाधिक समझ में आने लगी है कि मुनाफा, मालिकी, कार्यक्षमता आदि के मामले में पुराने खयाल अब नहीं चल पायेंगे। इन सब विषयों में जड़मूल से पुन-र्विचार करना पड़ेगा। हरएक उद्योग-धंधे तथा व्यवसाय की कुछ विशेष सामाजिक जिम्मेदारियाँ हैं। उसके उपरान्त ग्राहकों और कर्मचारियों के प्रति भी उसकी जिम्मेदारी है। ऐसी जिम्मेदारी की भावना का अभी अभाव है।

गांधीजी की ट्रस्टीशिप की कल्पना

इसलिए व्यापार-उद्योग के आज के सम्पूर्ण ढाँचे में तथा जन-मानस में बुनियादी परिवर्तन करना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में ही गांधीजी ने ट्रस्टीशिप की कल्पना समाज के समक्ष रखी थी। हरएक व्यापार-उद्योग एक ट्रस्ट है और वह समाज के हित में एक ट्रस्ट के रूप में ही चलना चाहिए। मालिक, शेयर होल्डर,

व्यवस्थापक, मजदूर, सभीको अपने-आपको उस ट्रस्ट का अविभाज्य अंग मानना चाहिए।

गांधीजी के साथी किशोरलालभाई और नरहरिभाई तथा प्राध्यापक दांतवाला ने मिलकर ट्रस्टीशिप के विषय में एक मसविदा भी तैयार किया था। गांधीजी ने उसमें थोड़ा-बहुत सुधार करके उसे मंजूर किया था। प्यारेलालजी ने बाद में उसे प्रकाशित किया। कई व्यापारियों और उद्योगपतियों के साथ बातचीत करके गांधीजी इस ट्रस्टीशिप की योजना को कुछ ठोस स्वरूप देना चाहते थे। अगर वे जीवित होते, तो इस सम्बन्ध में कोई न कोई ठोस कदम अवश्य ही उठाते। किन्तु उनकी हत्या हो गयी और वह काम वहीं का वहीं अधूरा रह गया।

विनोबा ने ग्रामदान के सन्दर्भ में जमीन की मालिकी और व्यवस्था को लेकर ट्रस्टीशिप के विचार को अमली रूप देने की कोशिश की है। जब भूदान-आन्दोलन शुरू हुआ था, उस समय प्यारेलालजी ने एक लेख में कहा था कि गांधीजी के ट्रस्टीशिप के विचार को व्यावहारिक और अमली रूप देने का विनोबाजी द्वारा यह एक अत्यन्त मौलिक प्रयोग हो रहा है।

बीच में कुछ समय तक सम्पत्तिदान का कार्यक्रम भी चला था। उसमें सीधे ट्रस्टीशिप की बात नहीं थी, किन्तु 'मैं अपनी आय का या घर-खर्च का अमुक प्रतिशत नियमित रूप से समाज के लिए दूंगा।' यह संकल्प करना था। उस समय मैं बड़े-बड़े उद्योगपतियों से मिला था। जे० आर० डी० टाटा, अरविन्द मफतलाल जैसे कितने ही उद्योगपतियों ने सम्पत्तिदान का यह विचार स्वीकार किया था। उन लोगों ने तीन वर्षों तक सम्पत्तिदान दिया भी था और विनोबाजी को अपने हिसाब भी भेजे थे। लेकिन वह कार्यक्रम अधिक समय तक नहीं चला। शायद अधिक प्रयत्न किया गया होता, तो अधिक सफलता मिली होती।

अभी ज्यादा प्रगति नहीं हुई है

कुल मिलाकर यह कह सकते हैं कि व्यापार-उद्योग के क्षेत्र में ट्रस्टीशिप का विचार किस तरह दाखिल किया जाय, इस विषय में कोई खास काम नहीं हो पाया है। किसी भी उद्योग-धंधे को ट्रस्टीशिप के आधार पर चलाना हो तो कानूनी तथा व्यावहारिक दृष्टि से क्या-क्या कदम उठाने चाहिए, इस सम्बन्ध में बारीकी से विचार होना चाहिए। साथ ही, यदि दो-चार कारखाने ट्रस्टीशिप के आधार पर चलने लगें, तो फिर हम इस विचार को आगे बढ़ा सकेंगे। वैसे कुछ प्रयोग इस दिशा में हुए हैं। कुछ कारखानों में मजदूरों को साझीदार बनाया गया है। इंग्लैण्ड में अर्नेस्ट बाडर ने बहुत सफलतापूर्वक ऐसा प्रयोग अपनी कम्पनी में किया है।

वे भारत भी आ चुके हैं। उस समय उन्होंने यहाँ के सर्वोदय-कार्यकर्ताओं, व्यापारियों, बुद्धिजीवियों, मन्त्रियों आदि से मिलकर इस विषय में चर्चाएँ भी की थीं। उस समय तो बहुतों ने इसमें अच्छी खासी रुचि ली। किन्तु उसके बाद कुछ खास हुआ नहीं।

हमने इस विषय में दो-चार परिसंवाद भी आयोजित किये। उनमें अर्थ-शास्त्रियों, व्यापारियों, कार्यकर्ताओं आदि ने भाग लिया। काफी चर्चाएँ हुईं। लेकिन व्यापार-उद्योग के क्षेत्र में ट्रस्टीशिप के विचार पर अमल कैसे किया जाय, इसके लिए कोई व्यावहारिक योजना अभी नहीं बन सकी है। इतना हुआ ही है कि व्यापार-उद्योग की सामाजिक जिम्मेदारी की बात अब अधिक स्पष्ट होती जा रही है।

यह कैसी कार्य-कुशलता ?

एक बात निश्चित है कि हर व्यापार-उद्योग और व्यवसाय की त्रिविध जिम्मेदारियाँ हैं—अपने मजदूरों और कर्मचारियों के प्रति, अपने ग्राहकों के प्रति तथा सम्पूर्ण समाज के प्रति। ये तीनों जिम्मेदारियाँ यदि ठीक ढंग से निभायी जाती हों तो ही यह माना जा सकता है कि अमुक उद्योग पूरी कार्यक्षमता से चल रहा है। कार्यक्षमता को मात्र अधिक-से-अधिक उत्पादन और मुनाफे के पैमाने से ही मापने का विचार अब बिलकुल पुराना और जीर्ण-शीर्ण समझा जायगा। इसलिए इस पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार होना चाहिए।

उदाहरण के लिए सामाजिक जिम्मेदारी के प्रश्न को लें। यों, आज देखें तो अमेरिका में व्यापार-उद्योग का संचालन दुनिया में सबसे अधिक हो रहा है, ऐसा माना जाता है। किन्तु क्या वास्तव में उसे कार्यकुशलता कहा जायगा? क्योंकि सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति उन्होंने बिलकुल उपेक्षा बरती है। और आज वहाँ इसके कारण अत्यन्त भयानक परिणाम आये हैं। एक तो वहाँ का हवा-पानी इतना अधिक प्रदूषित हो रहा है कि उसके कारण पशु-पक्षी, वनस्पति और इन्सान की जिन्दगी भी भारी जोखिम में पड़ गयी है। दूसरे, वहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति का बिलकुल गैरजिम्मेदारीपूर्वक उपयोग हो रहा है।

वहाँ की परिस्थिति के सम्बन्ध में जो लोग विशेष जानकारी रखते हैं उन्हें इस बात की कल्पना होगी कि वातावरण के प्रदूषण ने आज वहाँ कैसी गम्भीर समस्या खड़ी कर दी है। कुछ ही दिनों पहले अमेरिका और कैनेडा के बीच में जो ईरी सरोवर है उसे विशेषज्ञों ने मृत और वंध्य घोषित किया है। वनस्पति, पशु या जीवाणु—कोई भी प्राणतत्त्व वहाँ शेष नहीं रहा। वैज्ञानिकों का कहना है कि

इस सरोवर के पुनः जीवित होने में कम-से-कम सौ वर्ष लगेंगे। आसपास की खेती-बारी में हर साल विपुल मात्रा में रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाएँ इत्यादि डाली जाती हैं और इन खेतों का पानी बहकर इस सरोवर में जमा होता है, इसीलिए यह दुष्परिणाम आया है। औद्योगिक कारखानों का कूड़ा-कचरा भी नदियों के पानी को प्रदूषित कर रहा है। इसी तरह लास एंजिल्स शहर का वातावरण मोटरों और कारखानों से निकलकर फैल रहे कार्बन मोनोक्साइड तथा अन्य प्रकार की जहरीली गैसों के कारण गम्भीर रूप से प्रदूषित हुआ है। अमेरिकी सरकार इस समस्या के हल के लिए अरबों डालर खर्च कर रही है। इंग्लैण्ड और यूरोप के दूसरे देश तथा जापान आदि भी इस समस्या से पीड़ित हैं। हमारा देश भी इस जहरीली समस्या से मुक्त नहीं है। यदि हमने सावधानी नहीं बरती, तो एक दिन हमें भी पता चलेगा कि हमारी कितनी ही पवित्र नदियों का पानी भी जहरीला हो गया है।

तब सवाल खड़ा होता है कि पहले आँख मूँदकर समस्या खड़ी करें और फिर इस समस्या का हल ढूँढ़ने की जिम्मेदारी जनता के मत्थे मढ़ दें कि वह अपने खर्चे से जोखिम उठाकर इसका हल ढूँढ़े! क्या उद्योग-धन्धों की आज की इस रीति-नीति को कार्य-कुशलता कहेंगे? सामाजिक गैरजिम्मेदारी का इससे अधिक विकृत नमूना तो दूसरा कोई हो नहीं सकता।

प्राकृतिक साधनों का मनमाना उपयोग

दूसरी बात यह कि अमेरिका की समृद्धि बढ़ाने और उसे टिकाये रखने के लिए दुनिया की कुल प्राकृतिक सम्पदा का ४० प्रतिशत मनमाने ढंग से उपयोग में लाया जा रहा है। यह वास्तविकता जब दुनिया समझेगी, तब सभी देश अमेरिकी व्यापार-उद्योगों की सामाजिक गैरजिम्मेदारी की याद करके काँप उठेंगे। और जब वे यह समझेंगे कि बेशरमी से लूटे गये इन प्राकृतिक भण्डारों की परिपूर्ति फिर कभी पृथ्वी पर हो नहीं सकेगी, तब सम्पूर्ण परिस्थिति कितनी अधिक चिन्ताजनक बन जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अमेरिका सहित संसार के सभी देशों की भावी पीढ़ी को इस धरती की कितनी ही महत्त्वपूर्ण और अमूल्य निधियों से वंचित रह जाना पड़ेगा। मानवीय दृष्टि से इससे अधिक अकुशलता और निकम्मी व्यवस्था की कल्पना नहीं हो सकती। औद्योगिक क्षेत्र में तरक्की किये हुए दुनिया के तमाम देश—चाहे वे पूँजीवादी हों, समाजवादी हों या मिले-जुले हों—इस मामले में गुनहगार हैं।

इसलिए व्यापार-उद्योग की इस सामाजिक जिम्मेदारी के विषय में गम्भीरता

से विचार होना चाहिए। पूरे मानव-समाज के प्रति जो जिम्मेदारी है, उसकी कदापि उपेक्षा नहीं हो सकती। इसके अलावा अपने मजदूरों, कर्मचारियों तथा ग्राहकों के प्रति भी जिम्मेदार रहना हरएक उद्योग-धन्धे का धर्म है।

मात्र राष्ट्रीयकरण से कोई फर्क नहीं पड़ेगा

इस सम्बन्ध में एक बात यह भी समझ लेना जरूरी है कि किसी भी उद्योग-व्यवसाय को निजी क्षेत्र से निकालकर सरकारी नियन्त्रण में ले लेने से उस उद्योग-व्यवसाय में अपने-आप इन सभी दृष्टियों से जिम्मेदारी आ जायगी, यह मान लेना गलत होगा। यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। भारतीय रेलवे तथा अन्य सरकारी उद्योगों की तरफ निगाह दौड़ाने से इस बात की प्रतीति हो जायगी। उलटे शायद वे अपने ग्राहकों के प्रति अधिक लापरवाह होते हैं और गैरजिम्मेदारी के साथ पेश आते हैं।

इसी तरह उद्योग-व्यवसाय की इस आन्तरिक लोकशाही के प्रति भी राज्य की या निजी कम्पनी की नौकरशाही ने, ट्रेड यूनियनों ने, समाजवादी या साम्यवादी पक्षों ने, किसीने गम्भीरता से विचार नहीं किया है। राष्ट्रीयकरण में भी आखिर नौकरशाही के हाथ में ही सारा संचालन आ जाता है। मजदूरों और कर्मचारियों की उस उद्योग-धन्धे के संचालन में कोई खास भागीदारी नहीं होती। सच देखें तो होना यह चाहिए कि कर्मचारी स्वयं उद्योग-धन्धे की व्यवस्था सँभालें और स्वयं संचालन करने लग जायँ।

मजदूर-आन्दोलन की भी दिशा बदले

संक्षेप में, मूल सिद्धान्त ट्रस्टीशिप का है। मजदूर, कर्मचारी, व्यवस्थापक, मालिक, शेयर होल्डर सभी अपने को ट्रस्टी मानें। मजदूर भी मात्र वेतनभोगी नहीं हैं। वे भी ट्रस्टी हैं। अपनी श्रम-शक्ति, कुशलता आदि का उन्हें भी समाज के हित में उपयोग करना है। मैं मजदूरों से यह कहना चाहता हूँ कि आप अपना काम पेट के लिए करते हैं, ऐसा क्यों मानते हैं? आप तो समाज की सेवा कर रहे हैं। आप जो कुछ लोहा, कपड़ा आदि पैदा करते हैं, वह अपने स्वयं के लिए पैदा नहीं करते, समाज के लिए पैदा करते हैं। इस तरह आप समाज के सेवक हैं। आप पूरा-पूरा काम करें, स्वेच्छा से करें। आज तो मजदूर-आन्दोलन में सभी कहते हैं कि काम कम लो, सुविधाएँ और वेतन अधिक दो आदि। इस तरह संगठन स्वार्थ के लिए बनते हैं। यह बुनियाद गलत है।

यों दुनिया देखें तो दुनिया में मजदूर-आन्दोलन आज से नहीं, डेढ़ सौ वर्ष पूर्व से ही चल रहा है। उसे मजदूरी की दर बढ़ाने में या दूसरी तरह से मजदूरों की

दशा सुधारने में थोड़ी-बहुत सफलता तो जरूर मिली है, फिर भी मजदूर तो मजदूर ही रहे हैं। कुछ देशों में मजदूर-संघों ने अपनी ताकत बहुत बढ़ायी है। उनके सुझाव वहाँ की सरकारों को भी मानना पड़ता है। कुछ मजदूर-संघों ने तो ऐसी परम्परा बना ली है कि उनकी स्वीकृति के बिना कारखाने का मालिक किसी भी आदमी को नौकरी पर नहीं रख सकता। इतना होने पर भी मजदूर मजदूर ही है और मालिक मालिक ही है। जहाँ मजदूरों के नाम पर क्रान्ति हुई, वहाँ भी मजदूर मजदूर ही रहे, मात्र मालिक बदल गये। तो सोचने की बात यह है कि मजदूर-आन्दोलन की दिशा निर्धारित करने में जरूर कुछ भूल हुई होगी।

स्वार्थों के टकराव से क्या मिलेगा ?

भूल यह हुई है कि स्वार्थों की टक्कर में उलटी दिशा पकड़ी गयी है। वास्तव में देखें तो स्वार्थ का प्रतिकार स्वार्थ-त्याग-आन्दोलन द्वारा करने की दिशा में विचार होना चाहिए। आज पूँजीवादी समाज एक विभिन्न स्तरोंवाला पिरामिड बन गया है। उसमें शिखर पर बैठा करोड़पति कहता है, 'करोड़ रुपये मेरे हैं' और धरती पर बैठा मजदूर भी कहता है कि 'ये सौ रुपये मेरे हैं'। मजदूर ज्यादा-से-ज्यादा यह कहता है कि ऊपर बैठे मालिक के पास अधिक है, उसमें से मुझे हिस्सा मिलना चाहिए।

अब, मजदूर अपना छोड़ने को तैयार न हो और मात्र दूसरों से छीनना चाहे, तो यह गलत बात होगी। दूसरों से मजदूर जो चाहता है, वह स्वयं करने को तैयार नहीं। वह चाहता है कि कारखाने, रेलवे आदि सारी सम्पत्ति समाज की हो, सबको सबकी सम्पत्ति में समान हिस्सा मिले। किन्तु इस पर वह स्वयं अमल नहीं करता। मजदूर कहता है कि कारखानेवालों की जो सम्पत्ति है, वह हमारी है, सभी मजदूरों की है। किन्तु स्वयं उसको जो सौ-दो सौ-तीन सौ रुपये मिलते हैं, उसे वह केवल अपना मानता है, उसमें किसी दूसरे का कोई हिस्सा नहीं मानता। मजदूरों में रुपये-दो रुपये के लिए भीतर-भीतर झगड़े होते हैं। दो वेतनमानों के बीच यदि मात्र दो रुपयों का भी अन्तर हो, तो उतना अन्तर भी छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं होते। अपने से कम पानेवाले दूसरे मजदूर भाइयों के लिए अपने में से कुछ हिस्सा देने को वे तैयार नहीं होते।

मूलतः जीवन-दृष्टि बदलनी है

इसलिए जब तक मजदूर यह नहीं कहेंगे कि जो कुछ भी हमारे पास है वह सबका है, तब तक उनका आन्दोलन आगे नहीं बढ़ेगा। अपनी कमाई का एक

हिस्सा समाज को समर्पित करने की तैयारी मजदूरों की भी होनी चाहिए । आज तो पूँजीवादी मजदूरों को लूटते हैं और मजदूर मालिकों का धन छीन लेना चाहते हैं । यही रस्साकशी है, दंगल है । राष्ट्रीयकरण में भी मालिक और मजदूर के बदले अधिकारी और मजदूर के बीच दंगल जमता है । यह सब तभी बदल सकता है, जब जीवन की दृष्टि बदले । स्वार्थ की स्वार्थ से टक्कर होती रहे, तब तो उसका जहरीलापन बना ही रहेगा । इसलिए आज की स्वार्थभावना की जगह हमें सर्वोदय की भावना लानी है । और वह यह है कि सबने मिलकर पैदा किया है, तो सबको मिलकर खाना चाहिए। 'सब समाज का है' इस विचार को सर्वप्रथम समाजव्यापी बनाना आवश्यक है । हरएक को समाज का ऋण चुकाना है ।

इस ट्रस्टीशिप के विचार के आधार पर ही गांधीजी नये समाज की रचना करना चाहते थे । जहाँ हरएक अपने लिए ही सबसे अधिक कमाने का प्रयत्न करता है, वहाँ उस जीवन-संघर्ष में ९० की हार और १० की जीत होती है । लेकिन जब सभी दूसरे की चिन्ता करेंगे, तो एक की भी हार नहीं होगी । कोई नंगा या भूखा नहीं रहेगा । पुराने जमाने में ऐसी प्रथा थी, ऐसा लगता है । मैं त्रावणकोर-कोचीन गया था, तब मैंने देखा कि नम्बूदरी ब्राह्मणों में अभी भी ऐसा औपचारिक रिवाज है कि खाने से पहले खड़े होकर, 'कोई भूखा है क्या ?' ऐसा पूछ लेते हैं । इसलिए मनुष्य में जो लोभ, मोह, स्वार्थ है, उसकी जड़ें उखाड़ डालें, तभी असली क्रान्ति होगी । गांधीजी हमेशा इस बात पर जोर देते थे कि क्रान्ति दुहरी होनी चाहिए और उसका आरम्भ अन्तर-क्रान्ति से होना चाहिए ।

मनुष्य का पूर्ण विकास ही मुख्य ध्येय हो सकता है

आज देश-दुनिया को इस चीज की बहुत जरूरत है । क्योंकि आज तक के अनुभव से समझदार लोग इस विषय में एकमत हैं कि मात्र स्वार्थ का संघर्ष, नैतिक और भौतिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त हानिकर है । और यदि सरकार के हाथ सब कुछ सौंप देते हैं तो उससे राज्यवाद फैलता है, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का हनन होता है, व्यक्तिगत अभिक्रम कुण्ठित होता है और एक नये प्रकार की तानाशाही खड़ी होती है । इसलिए जरा बारीकी से देखें, तो यह सवाल मूलतः नैतिक एवं सांस्कृतिक है । असल में हमारी जीवन-दृष्टि क्या है और किस तरह का समाज हम बनाना चाहते हैं, यह विषय उससे अनुबन्धित है । व्यापार-उद्योग ही कोई अन्तिम ध्येय नहीं है । वह तो मात्र एक साधन है । अन्तिम ध्येय तो मनुष्य है । व्यापार-उद्योग को मनुष्य के सुख में, स्वतन्त्रता में, उसके भौतिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास में सहयोग देना है ।

इसलिए व्यापार-उद्योग में पूंजी का खूब लाभ मिले और हर तरह से वह पूरी दक्षता से चले, इतना ही यथेष्ट नहीं, इसके अलावा न्याय और मानवीय दृष्टि भी उसके पीछे होनी चाहिए। व्यापार-उद्योग इस सन्दर्भ में योग्य भूमिका अदा कर सके और मनुष्य के पूर्ण विकास में अपना योगदान कर सके, इसके लिए एक नयी भावना और नयी दृष्टि की जरूरत है। इसके अलावा व्यापार-उद्योग को अपनी सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति जागरूक रहना पड़ेगा।

संक्षप में, आर्थिक विकास तथा सामाजिक और मानवीय विकास एक साथ कैसे सिद्ध हो, यह सवाल है। मुझे लगता हैं कि गांधीजी के ट्रस्टीशिप के विचार में यही चीज है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि ट्रस्टीशिप का यह विचार दुनिया को भारत की एक बड़ी देन है। इसलिए ट्रस्टीशिप की भावना समाज में फैले और व्यापार-उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में इस भावना के अनुसार नयी व्यवस्था हो, इसके लिए हमें सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। ट्रस्टीशिप की बात को अव्यावहारिक कहकर टालते रहने का कोई अर्थ नहीं। इस विषय में बारीकी से विचार कर उस दिशा में एक-एक कदम बढ़ाना चाहिए।

चम्बल के बागियों का आत्मसमर्पण २०

चम्बल-घाटी के तथा बुन्देलखण्ड के चार-पाँच सौ बागियों ने मेरी उपस्थिति में महात्मा गांधी के चित्र के सामने स्वेच्छा से आत्मसमर्पण कर दिया, यह एक अद्भुत घटना है। यह याद कर मेरा हृदय भर आता है। कुछ लोग 'चमत्कार' आदि शब्दों से इसका अभिगौरव करते हैं और कहते हैं कि इस चमत्कार में मेरा हाथ है। किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मैं तो यह मानता हूँ कि इसके पीछे किसी अदृश्य शक्ति ने काम किया है। मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि यह घटना कैसे घटी। मुझे तो इसमें ईश्वर की ही लीला दीखती है। उसीकी अगम्य योजना देखता हूँ, जिसके द्वारा उसने इन गुमराह भाइयों को सही राह पर आने की प्रेरणा दी और मैं इस ईश्वरीय चमत्कार का निमित्त बना। इस तरह के काम के लिए मैं अपने को नितान्त अयोग्य पाता हूँ। मैं इसके लिए कोई नैतिक अथवा आध्यात्मिक गुण का दावा नहीं करता। इस घटना के पीछे मेरी कोई शक्ति है, मेरा कोई तप है, त्याग है, यह भी मैं नहीं मानता। मैं कोई संत या महात्मा नहीं हूँ। एक छोटा-सा सेवक हूँ इस देश का!

अनुभूति के अलौकिक क्षण

यह मैं विनम्रता के कारण नहीं, बल्कि उस सचाई के आधार पर कह रहा हूँ, जो मैंने जौरा, पगारा और ग्वालियर में महसूस किया। अनुभूति के इन अलौकिक और अद्भुत क्षणों में मुझे इसकी बड़ी तीव्र प्रतीति हुई है कि मेरे निमित्त जो भी यह अद्भुत घटित हुआ है, उसे घटाने में कितने स्तरों पर बहुत कुछ ईश्वर की लीला ने काम किया है। एक आस्तिक के नाते मैं पूरी श्रद्धा से कहता हूँ कि यह सब ईश्वर की ही लीला है। जो कुछ हुआ, वह उसीकी कृपा से, उसीकी प्रेरणा से हुआ। यह एक असाधारण घटना है, ऐतिहासिक घटना है और शायद भारत के सिवा दुनिया के दूसरे किसी देश में ऐसी घटना सम्भव नहीं। इस देश की मिट्टी और हवा में ही कोई ऐसी बात है कि यहाँ ऐसी अद्भुत घटनाएँ हो सकती हैं। इसलिए यह सब इस देश की मिट्टी और ईश्वर की कृपा से हुआ है।

यह काम आसमान से मेरे सिर आ पड़ा !

इस सम्पूर्ण नाटक में मेरा 'पार्ट' किस कारण है, यह मैं नहीं जानता। यदि मेरा बस चला होता, तो मैं इस कार्य में पड़ता ही नहीं। किन्तु यह काम आसमान से मेरे सिर आ पड़ा। अक्तूबर १९७१ की बात है। पटना में एक लम्बे से व्यक्ति मुझसे मिलने आये। अपना नाम उन्होंने रामसिंह बताया और कहा कि वह चम्बल-घाटी में जंगल के ठीकेदार हैं और वहाँ से बागियों की ओर से सन्देश लेकर आये हैं। उनका कहना यह था कि यदि मैं इस सवाल को हाथ में लूँ तो इस बार दस-बीस नहीं, सबके सब बागी आत्मसमर्पण कर देंगे और इस क्षेत्र में डाकू-समस्या का अन्त हो जायगा। उसकी बात पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। इधर अपने ऊपर जिन कामों की पहले से ही जिम्मेदारियाँ थीं, मैं उन्हें छोड़ रहा था और इस प्रकार की नयी जिम्मेदारी लेने की मेरी तैयारी नहीं थी। इसलिए मैंने उसे विनोबाजी के पास जाने को कहा।

रामसिंह ने कहा कि बागियों का एक प्रतिनिधि विनोबाजी से उनके आश्रम पवनार में मिल चुका है और उन्होंने भी मुझसे ही मिलने को कहा है। फिर भी मैंने अपना पीछा छुड़ाने की बहुत कोशिश की।

रामसिंह फिर मुझसे मिले। वे मुझे समझाते रहे कि यह भी एक सर्वोदय का ही काम है। मैं फिर भी इनकार करता रहा। अन्त में अकस्मात् उन्होंने कहा : "बाबूजी, मैं ही माधोसिंह हूँ।" जिस ड्रेमेटिक ढंग से माधोसिंह ने अपना असली व्यक्तित्व प्रकट किया, उससे मैं स्तम्भित रह गया। मैंने सिर्फ यही पूछा : "आप पर डेढ़ लाख रुपये का इनाम है, मेरे पास आने की जोखिम आपने उठायी कैसे?"

"आप पर हम लोगों को पूरा विश्वास है, इसलिए आया।" माधोसिंह ने कहा।

मैंने एकदम एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी का बोझ अपने ऊपर महसूस किया। आनाकानी करना असम्भव हो गया ! मैंने स्वीकृति दी और उसी क्षण माधोसिंह ने अपने को मेरे सामने समर्पित कर दिया। उन्हें अपने पास ही मैंने टिका लिया। मेरी पत्नी प्रभावती के सिवा किसीको भी मालूम नहीं होने दिया कि रामसिंह कौन है।

माधोसिंह ने कहा था

माधोसिंह ने मुझे यह भी बताया कि पिछले छह वर्षों से वे इसके लिए कोशिश कर रहे थे। उन्होंने मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री सहित अन्य मन्त्रियों तथा दूसरे

कई नेताओं को चिट्ठियाँ लिखी थीं, लेकिन कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने कहा कि राजनेताओं से उनका अनुभव कोई उत्साहजनक नहीं था और वे किसी ऐसे आदमी की तलाश में थे, जो राजनीति से दूर हो, जिसकी बात का भरोसा हो और जो बागियों के आत्मसमर्पण में अपना स्वार्थ न देखता हो।

इस तरह यह काम मुझे अपने हाथ में लेना पड़ा। विनोबा तो संत हैं। १२ वर्ष पहले बिना शर्त आत्मसमर्पण कराने का भारी बोझ उन्होंने लिया था। मैं तो एक अदना सेवक हूँ। इसलिए इतना भार नहीं उठा सकता। इसलिए मैंने माधोसिंह से कहा कि आपकी जो माँगें हों, उन्हें बतायें। उन्होंने कहा कि 'समर्पण करनेवाले को चाहे जितनी सजा दी जाय, पर फाँसी न हो, हम यही चाहते हैं।' मैंने कहा कि 'यह बहुत उचित शर्त है। कम-से-कम मैं तो किसीकी फाँसी की जिम्मेदारी नहीं ले सकता।' उनकी और माँगें थीं कि 'पहले लोकमन आदि के साथ जो हुआ, वह हमारे साथ न हो। मुकदमे एक जगह चलें, पुलिस सब मुकदमे छह महीने के अन्दर चालान कर दे और न्यायालय अधिक-से-अधिक तीन वर्षों में सब मुकदमों का फैसला कर दे। जेल में हमारे साथ अच्छा व्यवहार हो, गाली-गलौज न हो, हथकड़ी-बेड़ी किसीको न लगे, जब तक हम जेल में रहें, तब तक हमारे बाल-बच्चों की देख-रेख हो।'

इसके बाद माधोसिंह के लिए गया जिले के अपने आश्रम में छिपाने की मैंने व्यवस्था की और केन्द्रीय गृहमन्त्री तथा मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के मुख्यमन्त्रियों से पत्राचार और प्रत्यक्ष मिलकर चर्चा शुरू की। इन सभी महानुभावों के उत्तर अत्यन्त उत्साहवर्धक थे और इस काम में उन्होंने सरकार की ओर से पूरे सहयोग का आश्वासन दिया।

मेरा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

चूंकि, मेरा दृष्टिकोण शुरू से ही समाजशास्त्रीय था, इसलिए इस सम्पूर्ण बागी-समस्या का शास्त्रीय अध्ययन करने का काम वाराणसी स्थित गांधी विद्या संस्थान के एक वरिष्ठ शोधकर्ता को सौंपा। उन्होंने चम्बल-घाटी जाकर अध्ययन किया और एक योग्य शोधपत्र तैयार किया। इससे मुझे बड़ी मदद मिली। इस दृष्टिकोण के अनुसार कार्य की योजना भी मैंने बनायी।

'चम्बल-घाटी शान्ति-मिशन' की स्थापना करके हमने काम की शुरुआत की। १५ दिसम्बर को मैंने बागियों के नाम एक अपील जारी की। उसमें उनसे गलत रास्ता छोड़कर समाज के सामने आत्मसमर्पण करने का अनुरोध किया तथा आत्मसमर्पण करनेवालों के प्रति उदारता और सहानुभूतिभरा व्यवहार

रखने के लिए सामाज तथा सरकार से प्रार्थना की। शान्ति-मिशन ने इस अपील की हजारों प्रतियाँ छपवाकर चम्बल-घाटी में वितरित कीं। धीरे-धीरे साधन जुटे। मध्यप्रदेश पुलिस ने भी बहुत सहयोग दिया। 'पहाड़गढ़ थाना जिला मुरैना' क्षेत्र को उसने अघोषित शान्ति-क्षेत्र बना दिया। इस शान्ति-क्षेत्र में बागियों से मिलने-जुलने, उन्हें समझाने और उनके आने-जाने में बहुत सुविधा रही। सरकार से इस काम के लिए दो जीपें भी मिली थीं। माधोसिंह ने भी जंगलों में घूम-घूमकर बागियों को समझाने का काम शुरू किया।

कार्यकर्ताओं का कहना था कि प्रख्यात बागी मानसिंह के पुत्र तहसीलदार सिंह अभी जेल में हैं। यदि वे जेल से रिहा हो सकें, तो इस काम में उनका बहुत सहयोग मिल सकता है। १९६० में तहसीलदार सिंह की प्रार्थना पर ही विनोबाजी ने चम्बल-घाटी की पदयात्रा की थी। इसलिए मैंने उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री कमलापति त्रिपाठी को इस सम्बन्ध में दो पत्र लिखे, जिसके फलस्वरूप फरवरी १९७२ में तहसीलदार सिंह को जेल से रिहा कर दिया गया। इनके अलावा १९६० में जिन्होंने विनोबाजी के सामने आत्मसमर्पण किया था और फिर जेल की सजा काटी थी तथा अपने सद्-व्यवहार के कारण सजा की अवधि से पहले ही रिहा होकर अब शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के इच्छुक थे, वे पण्डित लोकमन (प्रख्यात बागी लुक्का) भी इस काम में लग गये। तहसीलदार सिंह और लोकमन बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए। बागियों पर उनका बड़ा असर था। इन दोनों के शान्तिमय व्यवहार, वस्तुवादिता और गहरी समझदारी बहुत असर डालती थी।

ईश्वर की ही लीला

इस तरह मार्च के अन्त तक चम्बल-घाटी के सभी बड़े दलों और बागियों से सम्पर्क हो गया तथा उन सबने आत्मसमर्पण की तैयारी कर ली। इस बीच प्रधानमन्त्री इन्दिराजी से भी मैं मिला। उनका रुख भी बहुत अच्छा था। और इस तरह आखिर १४ अप्रैल, १६ अप्रैल तथा उसके बाद भी कुल मिलाकर चार-पाँच सौ बागियों ने महात्मा गांधी के चित्र के सामने अपने शस्त्र डालकर आत्म-समर्पण कर दिया और अपना नया जीवन शुरू किया। ईश्वर की प्रेरणा से एक नया रास्ता, अपनी आत्मशुद्धि का रास्ता, उन्होंने पकड़ा।

ईश्वर हम सबके हृदय में बैठा है और वह हम सबको प्रेरणा देता है। उसने ही इन बागी भाइयों को प्रेरणा दी। इन लोगों को जो प्रेरणा हुई, उन्हें जो यह एक नया प्रकाश मिला, वह अन्दर से मिला। हम सबको यह विश्वास रखना चाहिए कि हमारे सामाजिक जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में ऐसे अवसर आते हैं, जब

प्रत्यक्ष ईश्वर हमें प्रेरणा देता है तथा सन्मार्ग पर ले जाता है। इसके सिवा मैं अपनी छोटी बुद्धि से समझ नहीं पाता कि यह घटना किस तरह घटी! जो कुछ हुआ है, वह ईश्वर की लीला ही है। मैं तो इस पूरे काम में निमित्तमात्र बना हूँ। इससे अधिक इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं है।

विनोबाजी के बोये बीज का पौधा

मैं समझता हूँ कि दुनिया के इतिहास में इस प्रकार के आत्मसमर्पण की कोई मिसाल नहीं है। बारह साल पहले १९६० में विनोबाजी ने जो बीज बोया था, उसीका यह पौधा निकला है। उस समय उन्होंने बीस बागियों का हृदय-परिवर्तन किया। वाल्मीकि-युग के बाद विनोबा के सामने हुए इस आत्मसमर्पण को ही स्थान मिलेगा। ऊपर-ऊपर से तो ऐसा लगता था कि काम वहीं अटक गया था। किन्तु वास्तव में उस घटना का प्रभाव बराबर अपना काम करता रहा। उन्होंने उस समय एक छोटा-सा बीज बोया था, जो तब से अब तक बागियों के, आम लोगों के और अगर मैं गलती नहीं करता होऊँ तो हुकूमत में काम कर रहे लोगों के दिलों में भी, अपना काम करता आ रहा है। इन वर्षों के दरम्यान चम्बल-घाटी शान्ति-समिति ने इस क्षेत्र में शान्ति और पुनर्वास का जो काम किया तथा आत्मसमर्पण करनेवाले सभी बागियों ने जेल से छूटकर साधारण नागरिकों जैसा शान्तिमय जीवन शुरू किया, उसके कारण भी एक अनुकूल वातावरण बना। विनोबाजी ने बड़े साहस से प्रेम का एक प्रयोग किया था। चाहे थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो, फिर भी विनोबा अमली तौर पर यह साबित कर सके थे कि अपराधों के मामले में काम करने की एक मानवीय और अधिक सभ्य रीति भी है। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक अपराध-शास्त्र और दण्ड-शास्त्र के क्षेत्र में पश्चिम के देशों ने इस दृष्टिकोण को पूरी तरह अपनाया है।

इन्सान कोई न जन्म से बुरा होता है, न अच्छा होता है। हम सबमें अच्छाई और बुराई है। जो साधु हैं, संत हैं, उनके अन्दर भी उसका अवशेष बचा है। एक परम परमात्मा ईश्वर है, जो पूर्ण रूप से शुद्ध है, सच्चा है। हम सब तो एक-से ही हैं। हम सबमें अच्छाई भी है और बुराई भी है। जैसा कि विनोबाजी ने कहा, 'हमारे बागी भाई गलत पटरी पर चले गये थे, ईश्वर की कृपा से पुनः सही पटरी पर आ गये हैं।'

बच्चों जैसी सरलता

बच्चों जैसी सरलता, निश्छलता और प्रेम मैंने प्रायः सभी बागियों में पाया। उनमें से अधिकतर स्नान-संध्या और पूजा-पाठ भी करते हैं। उनसे हम लोगों

के द्वारा पूछा गया कि कौन-सा धर्म-ग्रन्थ ग्रापको ग्रच्छा लगता है ? तो सबने रामायण की बात कही । ग्रात्मसमर्पण करनेवाले हरएक बागी भाई को हमने 'रामायण' तथा विनोबाजी की 'गीता-प्रवचन' की एक-एक प्रति दी है । इन लोगों की भावना तो देखिये ! मोहरसिंह एकदम ग्रनपढ़ ग्रादमी हैं । उन्होंने मुझसे कहा है कि "मैं जेल से बाहर ग्राऊँगा, तब ग्रापके द्वारा दी गयी रामायण पढ़कर सुनाऊँगा ।"

इन बागियों ने समर्पण करते वक्त समाज से क्षमा-याचना भी की । उन्होंने कहा : "हम चम्बल-घाटी के निवासी, जिनके रास्ते से दुनिया को दुःख हो रहा था, ग्राज ग्रपने-ग्रापको समाज की सेवा के लिए समर्पित करते हैं । बाबा विनोबा ग्रौर बाबू जयप्रकाशजी के ग्राशीर्वाद से हम ग्रपनी नयी जिन्दगी शुरू कर रहे हैं । हमसे बहुत-सी गलतियाँ हुई हैं, उनके लिए हमें हार्दिक पश्चात्ताप है । हमारी वजह से जिनको भी दुःख-तकलीफ हुई है, उनसे हम माफी माँगते हैं । भगवान् से हमारी यही प्रार्थना है कि हमें सच्ची राह पर चलने की ताकत दे ग्रौर इस जीवन में समाज के लायक बनाये ।"

उनका मानस साधारण अपराधियों का नहीं

इन बागियों ने क्यों ग्रात्मसमर्पण किया ? क्या उन्हें पुलिस का भय था ? क्या वे थक गये थे ? उनके निर्णय में कोई चाहे तो कई इरादे देख सकता है ग्रौर कई कारण उसके बताये जा सकते हैं । किन्तु मैं तो सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि इन बागियों का मानस साधारण ग्रपराधियों का मानस नहीं है । उनमें से ग्रधिकांश हमारे समाज में व्याप्त सामाजिक ग्रन्याय के शिकार हैं । ग्रन्याय को सहने की शक्ति न होने के कारण एक बार वे हताश या रोष में कुछ कर बैठे । कोई ग्रौर रास्ता उन्हें नहीं मिला, ग्रौर बीहड़ की पगडंडी उन्होंने पकड़ ली । उनसे हुई बातचीत से मुझे लगा कि इनमें से कोई भी बागी ऐसा जीवन पसन्द नहीं करता था । उन्हें तो ग्रपने ग्रपराधों का प्रायश्चित्त करना था ।

जेल में जाने के बाद उन्होंने मुझे एक पत्र भेजा । उसमें उन्होंने लिखा कि हमारे जो दुश्मन कहलाते हैं, ग्रब हम तो दुश्मन मानते ही नहीं, क्योंकि हमने ग्रपना जीवन-परिवर्तन कर दिया, लेकिन वे ग्राज हमें दुश्मन मानते होंगे, तो प्रशासन उन लोगों को ले ग्राये हमारी जेल में, हम उन्हें गले से लगायेंगे ग्रौर हम सारी बात दुश्मनी की भूल जायेंगे ग्रौर उनसे भी भुलाने की प्रार्थना करेंगे ।

सजा के लिए ये तैयार हैं !

ग्रब देखिये, कैसा परिवर्तन होता है । इन सबने कुछ यह मानकर ग्रात्म-

समर्पण नहीं किया है कि इन्हें माफी मिल जायगी। इन्हें अच्छी तरह पता है कि वे जेल जायेंगे, इन पर मुकदमे चलेंगे, इन्हें सजाएँ होंगी। ये कहते हैं कि हमने जो किया है, उसका फल हम ही भोगेंगे। ये अपना गुनाह कबूल करेंगे, जेल में अपने अपराधों का प्रायश्चित्त करेंगे और रिहा होकर समाज-सेवक बनेंगे।

उन्हें दूसरा कोई आश्वासन नहीं दिया गया है। मात्र अपनी तरफ से मैंने उन्हें इतना आश्वासन दिया है कि अदालत की तरफ से उन्हें फाँसी की सजा होगी, तो बाद में उन्हें क्षमा किया जायगा और किसीको फाँसी नहीं दी जायगी। क्योंकि समर्पण करनेवाले को अन्त में फाँसी ही मिलनेवाली हो, तो वह समर्पण ही क्यों करेगा? इसलिए मैंने सरकार से आग्रह रखा है कि समर्पण करनेवालों को फाँसी की सजा हो तो भी उन्हें माफी मिलनी चाहिए। मैंने बागियों से कहा है कि आपकी जान और अपनी जान मैंने एक तराजू पर रख दी है। फिर भी यदि किसीको फाँसी होगी तो मैं उपवास कर मर जाऊँगा। मुझे विश्वास है कि राज्य के मुख्यमन्त्री, केन्द्रीय गृहमन्त्री और अन्त में प्रधानमन्त्री मेरे इस आश्वासन की लाज रखेंगी।

सबसे ज्यादा शंका मोहरसिंह के बारे में प्रकट की जा रही थी। उसका दल सबसे बड़ा था और उन पर इनाम भी सबसे ज्यादा, दो लाख रुपये का था। मध्य-प्रदेश के मुख्यमन्त्री तथा पुलिस अधिकारियों को विश्वास ही नहीं था कि मोहर-सिंह आत्मसमर्पण करेंगे। किन्तु १४ अप्रैल को सबसे पहले आत्मसमर्पण उन्होंने ही किया। मैंने बहुत पूछा कि उनकी कोई शर्त हो, माँग हो तो बतायें। मोहर-सिंह ने भरे गले से यही कहा: "हमारी न कोई माँग है, न कोई शर्त। हमने तो यह सिर आपके चरणों में रख दिया है। आप इसे चाहे फाँसी पर चढ़वा दें, चाहे बचा लें। हम कुछ नहीं करेंगे।" इसी तरह नाथूसिंह ने भी कहा: "आज तक पकड़नेवाले मिले या मरवानेवाले। बचानेवाले तो आप ही मिले। आपने प्रेम से बुलाया और हम चले आये। अब चाहे फाँसी हो या और कुछ।"

ऐसे लोगों को जेल में बंद करने से क्या लाभ?

इस तरह बिना किसी लिखित पूर्व शर्त के इतनी बड़ी संख्या में इन लोगों ने आत्मसमर्पण किया, यह कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। जिन लोगों ने अपने अन्तर की आवाज से अपना अपराध स्वीकार कर ऐसा क्रान्तिकारी कदम उठाया है, ऐसे लोगों को जेल में बन्द कर समाज या सरकार को क्या लाभ होगा? मेरी तो ऐसी इच्छा है कि सरकार उन्हें जमीन दे। इसे स्पष्ट रूप से खुली जेल माना जा सकता है। सर्वोदय-कार्यकर्ताओं को भी उनके साथ रखा जाय और वहाँ

पुलिस का प्रबन्ध भी रहे। उन्हें उनके बाल-बच्चों के साथ रहने दिया जाय। विकास-योजनाओं में उनका सहयोग लिया जाय। नेतृत्व का गुण तो उन लोगों के पास है ही। बहुत सुन्दर काम होगा। सरकार से मैंने यह माँग की है।

उन्हें हमने 'हीरो' नहीं, 'भाई' बनाया है

बहुत दफा यह बात कही जाती है कि सर्वोदयवालों ने डाकुओं को 'हीरो' बना दिया है, 'ग्लेमराइज' किया है। विनोबाजी के सामने १९६० में हुए समर्पण से लेकर आज तक कुछ लोग इसी दृष्टि से देखा करते हैं। किन्तु मैं इसका बिलकुल विरोध करता हूँ। मैं यह कहना चाहता हूँ कि हमने उन्हें 'हीरो' नहीं बनाया है, 'भाई' बनाया है, 'मनुष्य' बनाया है। हाँ, समर्पण के बाद वह हमारे लिए डाकू नहीं रहे। 'आप डाकू हैं, डाकू हैं!' ऐसा कहते रहने से कोई आदमी बनेगा क्या? इसलिए इसमें हीरो बनाने का सवाल ही नहीं है। हमने तो उन्हें गले लगाकर भाई बनाया है, मनुष्य बनाया है, गांधी-परिवार में शामिल किया है।

मैंने बागी भाइयों से कहा है : "हमारा एक छोटा-सा परिवार है—ईश्वर में विश्वास रखनेवाले, प्रेम और अहिंसा में विश्वास रखनेवाले, गांधी और विनोबा के रास्ते चलनेवाले लोगों का सर्वोदय-परिवार! हमने आपको आज अपने इस परिवार में सम्मिलित किया है। आपसे मेरा इतना ही निवेदन है कि आज आपने जो रास्ता स्वीकार किया है, उसे अब कभी न छोड़ें। बहुत-से विघ्न आयें, तो भी इस रास्ते से न हटें। जेल को अपने नैतिक तथा आन्तरिक विकास का अवसर मानें और जेल से छूटकर समाज के अच्छे सेवक बनें। अब से आप और आपके घर के सभी सदस्य हमारे परिवार के सदस्य हैं। हमारा यह विशाल सर्वोदय-परिवार देशभर में ही नहीं, बल्कि दुनियाभर में फैला है। इस परिवार की लाज रखने की जिम्मेदारी आपकी है। यह आपका कर्तव्य है।"

अपराधियों के साथ व्यवहार में परिवर्तन हो

सार यह कि वे गलत रास्ते चले गये थे और अब वह रास्ता छोड़कर लौटे हैं तो उन्हें समाज के अच्छे नागरिक बनने का अवसर देना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि इस आत्मसमर्पण की घटना के परिप्रेक्ष्य में समाज में अपराध और सजा-सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रश्नों के बारे में भी नये सिरे से विचार होना चाहिए। समाज की करुणावृत्ति अपराधियों के प्रति जाग्रत हो और वह उनसे बदले की भावना के बजाय उनके सुधार और उन सामाजिक परिस्थितियों को सोचें, जिनके कारण सामान्य मानव अपराधी बनने के लिए मजबूर होता है।

इन बागियों के साथ हुई बातचीत के बाद कुछ और गहराई में जाकर मैं इस

निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अपराधियों के साथ आज की जो व्यवहार-पद्धति है, उस पद्धति में जड़मूल से परिवर्तन होना चाहिए। आज की पद्धति ऐसी है, जिसमें हजारों नहीं, लाखों अपराधियों को सजा दी जाती है, सैकड़ों को फाँसी दी जाती है और फिर भी अपराध बढ़ते ही जाते हैं, घटते नहीं ! आज जिस तरह की समाज-व्यवस्था है, इसमें केवल न्यायालय का, कानून और व्यवस्था का ही दोष नहीं, आपका और हमारा भी दोष है। समाज-व्यवस्था ही ऐसी है, जिसके कारण अपराध होते रहते हैं। अतः समाज की मूल रचना में ही परिवर्तन करना होगा। किन्तु इस समाज-व्यवस्था के बावजूद अपराधियों के प्रति हमारे व्यवहार में तो तत्काल परिवर्तन हो सकता है। अपराध को तो जड़मूल से तभी समाप्त किया जा सकता है, जब समाज-रचना में बुनियादी परिवर्तन हो। लेकिन आज के समाज में भी अपराधियों के साथ हमारा व्यवहार बदले, तो अपराध बहुत कम हो सकते हैं। इस दिशा में यदि विचार होगा तो चम्बल-घाटी का यह ईश्वरीय कार्य हम सबको तारनेवाला सिद्ध होगा। यह तो एक हकीकत है कि इस काम को करने के लिए मध्यप्रदेश पुलिस-विभाग के कम-से-कम पाँच से सात करोड़ रुपये खर्च हुए थे। फिर भी पुलिस-विभाग को सफलता नहीं मिली। सरकार की तरफ से कई समितियाँ भी बनायी गयीं, रिपोर्टें तैयार हुईं और उन्हें ताक पर रख दिया गया। इसलिए अब इस घटना का लाभ लेकर इस बागी-समस्या को इस क्षेत्र से बिलकुल समाप्त कर देने का प्रयत्न होना चाहिए।

हम सब कहते तो हैं कि ऐसी घटना भारत के सिवा दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं घट सकती। इस पुण्यभूमि की महिमा हम बहुत गाते हैं, तो हम ऐसा क्यों न सोचें कि भारत की पुलिस दुनिया की पुलिस की अपेक्षा कुछ भिन्न रूप में व्यवहार करेगी ? जो इंग्लैण्ड की पुलिस करती है, यहाँ की पुलिस भी वही क्यों करे ? अहिंसा का काम, मानस-परिवर्तन का, हृदय-परिवर्तन का काम यहाँ की पुलिस क्या नहीं कर सकेगी ?

बागी-समस्या की जड़ें बहुत गहरी हैं

बागी-समस्या की जड़ें बहुत गहरी हैं, इतिहास में हैं, भूगोल में हैं, मनोविज्ञान में हैं, समाज की और राज्यतन्त्र की रचना में हैं, राजनीति में हैं। इस समस्या को सुलझाने का काम अकेले जयप्रकाश या सर्वोदयवालों की शक्ति के बाहर का है। सारा समाज इस समस्या का अन्त लाना चाहे और उसके लिए ईमानदारी से पूरा प्रयत्न करे, तभी यह हो सकता है। ये डाकू अपने को डाकू नहीं, बागी मानते हैं। और चम्बल-घाटी की आम जनता भी उन्हें इसी रूप में देखती है। सामन्ती समाज-

व्यवस्था, दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था, राजस्व और पुलिस के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के पक्षपात, धाँधली, भ्रष्टाचार आदि उन्हें डाकू बनाने के लिए जिम्मेदार हैं।

आठ-नौ सौ साल पुरानी इस समस्या का हल न होने देने में कई निहित स्वार्थ भी जिम्मेदार हैं। निचले स्तर के पुलिस तथा प्रशासन के कर्मचारी सिद्धान्तहीन राजनीतिज्ञ, शस्त्रों के व्यापारी, करों की चोरी करनेवाले जंगलों के ठीकेदार आदि अपने निहित स्वार्थ के लिए इस समस्या को बनाये रखने में दिलचस्पी रखते हैं। बागियों को हथियार देनेवालों में पुलिस और सेना के लोग थे। यह समस्या हल हो जाय, तो इन सब लोगों का तो धंधा ही बन्द हो जाय।

स्थापित स्वार्थ वातावरण को कलुषित करते रहते हैं

१९६० में विनोबाजी के सामने हुए आत्मसमर्पण के समय उन सब लोगों ने मिलकर होहल्ला मचाया। दुनियाभर में इस घटना का भारी असर हुआ। लेकिन हमारे यहाँ उसका महत्त्व घटाने का ही प्रयत्न हुआ। हमारे बुद्धिजीवियों और प्रशासन ने कितने ही अर्थहीन विवाद भी खड़े किये। उस समय मध्यप्रदेश के बड़े पुलिस-अधिकारी रुस्तमजी ने जो बयान दिया था, वह विनोबाजी के उस अद्भुत काम की शान के अनुकूल हरगिज नहीं था। ये रुस्तमजी अभी सीमा-सुरक्षा-दल के अधिकारी हैं। इस बार के आत्मसमर्पण के बाद हमारा एक कार्यकर्ता उनसे मिलने दिल्ली गया था। तब रुस्तमजी ने कहा कि इतनी बड़ी संख्या में बागियों का आत्मसमर्पण कराकर आप लोगों ने एक बहुत ही सुन्दर काम किया है। रुस्तमजी ने यह भी कहा कि कुछ गलत रिपोर्टों के कारण उस समय मैं गलतफहमी में पड़ गया था।

इस बार भी बाद में वातावरण कुछ कलुषित हुआ था। और आगे का काम ठीक होगा या नहीं, इस विषय में शंका खड़ी हुई थी। लेकिन अब सब कुछ ठीक हो गया है और आगे का काम अच्छी तरह से होगा, ऐसा लगता है। अब तक राज्य-सरकारों तथा केन्द्र-सरकार का सतत सहयोग इस काम में मिलता रहा है और उनकी तरफ से पूरी समझदारी बरती जा रही है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। अभी भी सरकार का और जनता का यदि खुले दिल से पूरा-पूरा सहयोग मिलता रहा तो इस क्षेत्र से बागी-समस्या जड़ से समाप्त की जा सकती है। फिर तो चम्बल-घाटी का उद्धार हो सकता है। इस क्षेत्र ने बहुत कष्ट उठाये हैं, बहुत तकलीफें भोगी हैं। अब इसका अन्त होना चाहिए। बागियों के आत्म-समर्पण के कारण इस प्रदेश की जनता आज राहत की साँस ले रही है। पहले इस

क्षेत्र के लोग साँझ ढलने के बाद बाहर निकलने की हिम्मत नहीं करते थे। वे अब निर्भय होकर घूम-फिर सकते हैं।

अभी बहुत-कुछ करना बाकी

किन्तु ४००-५०० बागियों के आत्मसमर्पण मात्र से इस समस्या का अन्त नहीं आ जायगा। अभी बहुत-कुछ करना बाकी है। और आत्मसमर्पण के काम की तरह इसमें भी सरकार तथा सर्वोदय-आन्दोलन का संयुक्त प्रयत्न आवश्यक है। इस क्षेत्र के सामाजिक और आर्थिक विकास की जिम्मेदारी मुख्य रूप से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की है। इसमें शान्ति-मिशन और अन्य सेवा-संस्थाएँ सहयोग दे सकती हैं। इसके अतिरिक्त निम्न तात्कालिक काम मुख्य रूप से शान्ति-मिशन द्वारा सरकार की सहायता से करना है :

१. बाकी बचे बागियों से सम्पर्क स्थापित करना और आत्मसमर्पण के लिए उन्हें तैयार करना।
२. जो समर्पण कर चुके हैं, उनके लिए कानूनी कार्यवाही की व्यवस्था करना।
३. जो जेल में हैं, उनके साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखकर उनके सुसंस्कारों को मजबूत बनाते रहने का प्रयत्न करना।
४. बागियों के परिवारों तथा उनके द्वारा उजाड़े गये परिवारों के पुनर्वास और राहत की व्यवस्था करना।
५. बागी-परिवारों और उनके दुश्मनों के बीच समाधान कराकर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कराना।
६. सम्बद्ध गाँवों में शान्ति और सहकार का वातावरण खड़ा करना।
७. बागियों से रक्षा के लिए चम्बल-घाटी के काफी नागरिकों के पास हथियार हैं। ग्वालियर-संभाग में ऐसी डेढ़ लाख लाइसेंसवाली बन्दूकें हैं। जिस भावना से बागियों ने अपनी बन्दूकें समर्पित कर दीं, उसी भावना से ये नागरिक भी अपने हथियार समर्पित कर दें, इसके लिए उन्हें समझाना है। ऐसा होगा तो इस क्षेत्र में आपस के झगड़े नहीं बढ़ेंगे और शान्ति का वातावरण बनाये रखने में भी मदद मिलेगी।

मुझे आशा है कि आत्मसमर्पण की इस घटना की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनेवाले तथा इसमें दैवी प्रेरणा का अनुभव करनेवाले सब लोगों का पूरा-पूरा सहयोग इस काम में मिलेगा।

२१ कुछ सवाल

प्रश्न : ग्राध्यात्मिक परिभाषा इस्तेमाल करने की ग्रापकी वृत्ति नहीं रही है। पर बापू-परिवार के ग्राध्यात्मिक मण्डल में ग्रापका जीवन सहज समा जायगा। ग्रापके खयालात के ग्रनुसार ग्रापने ग्रपने जीवन का ग्रन्तिम लक्ष्य क्या माना ग्रौर जीवन को वैसा मोड़ देने के लिए क्या प्रयत्न किये ?

जे० पी० : ग्राध्यात्मिक भाषा इस्तेमाल करने की वृत्ति का सवाल नहीं है। वह मैं योग्यता या क्षमता का सवाल मानता हूँ। जहाँ तक मेरे ग्रपने जीवन की बात है, मैं खुद भी उसके बारे में कम ही सोचता हूँ। क्या किया, कैसे किया, क्यों किया, इन सबके बारे में कभी सोचता हूँ, तो लगता है कि जीवन में सहजता ही है। ग्रब ग्रमुक परिस्थिति में सहजता से क्यों व्यवहार हुग्रा, इसका कारण पूछेंगे, तो समझना या समझाना कठिन है। मैं समझता हूँ कि छोटी उम्र में माता-पिता से ग्रौर समाज से ऐसे कुछ संस्कार प्राप्त हुए होंगे कि ग्रमुक परिस्थिति में सहज ही कुछ करने का सूझता है।

मैं जब स्कूल में पढ़ता था, तब स्वराज्य-ग्रान्दोलन चल रहा था। गांधी-युग तब ग्राया नहीं था। बापू उस समय दक्षिण ग्रफ्रीका में थे। वहाँ के उनके कार्य के बारे में कुछ जानकारी थी। लेकिन भारत में उनका कोई खास कार्य शुरू नहीं हुग्रा था। हमारा देश ग्राजाद कैसे होगा, गुलामी से मुक्त कैसे होगा, यह तीव्र भावना मन में रहती थी। एक बेचैनी-सी रहती थी। बंगाल के क्रान्तिकारी ग्रान्दोलनवालों से भी मुलाकात होती थी। देश को ग्राजाद करने के लिए उस वक्त कोई रास्ता स्पष्ट नहीं था सिवा हिंसा के। तो उन क्रान्तिकारियों का ग्रसर था। फिर बापू का पहला देशव्यापी ग्रान्दोलन चला, उसमें सहयोग दिया। पढ़ने की इच्छा थी, लेकिन यहाँ की पढ़ाई नहीं चाहता था। जब ग्रसहयोग-ग्रान्दोलन जरा ढीला हुग्रा, तब मैं पढ़ने के लिए ग्रमेरिका चला गया।

जब देश की ग्राजादी के लिए ग्रौर वह भी क्रान्तिकारियों के मार्ग से प्रयत्न करने का सोचा था, तब यह भी साफ था कि तरह-तरह की तकलीफें उठानी पड़ेंगी, तरह-तरह की यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी, जान भी खतरे में ग्रा सकती है। इस

सबके लिए खुद को तैयार करना था। उसके लिए मैं गीता का आश्रय लेता था। बहुत सबेरे उठकर, ठंडे पानी से नहाकर रोज नियमित गीता का पाठ करता था। यह भी लगता है कि इस गीता-पठन के पीछे भी बचपन के कोई संस्कार होंगे, कह नहीं सकता।

फिर यह भी विचार चलता था कि देश स्वतन्त्र होगा, तो गरीबों के लिए कुछ करना होगा, उनका शोषण खतम करना होगा। तो साम्यवाद-समाजवाद के विचारों ने आकर्षित किया। कम्युनिस्ट-साहित्य खूब पढ़ा। बचपन की और युवा अवस्था की जो प्रेरणा रही, अन्त तक यही रही, देश की आजादी और समाज का रूप बदलने की। इसमें इतना ही हुआ कि हिंसात्मक रीति से या कानून से समाज का परिवर्तन नहीं हो सकता है, इसका भान होता गया, तो सर्वोदय-विचार की ओर ध्यान गया।

मेरे जीवन में जो कुछ आध्यात्मिक दिखायी देता होगा, उसके मूल में यही सारा है। अब यह भी आध्यात्मिक हो सकता है कि दूसरों के दुःख से दुःखी हों, गरीबों के लिए कुछ करने की प्रेरणा हो। क्यों हो, इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। मैं खुद ज्यादातर राजनैतिक-सामाजिक स्तर पर ही सोचता रहा हूँ। माँ का और प्रभावती का भी कुछ आध्यात्मिक असर मुझ पर हुआ होगा, मगर उसका विश्लेषण या बयान मेरे पास नहीं है।

प्रश्न : ईश्वर को आप किस स्वरूप में देखते हैं ?

जे० पी० : इस पर भी मेरा चिन्तन-मनन तो नहीं है। लेकिन भगवद्गीता का रोज नियमित पाठ करता था, यह तो मैंने कहा ही। सादगी की तरफ भी ध्यान था। मार्क्स-विचार के परिचय के साथ-साथ मैं निरीश्वरवादी बना था। सर्वोदय-विचार में आने से पहले ही मेरे सामने सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों के सिलसिले में आचारनीति और धर्मनीति—एथिक्स का सवाल उठा था। स्तालिन के जमाने में रूस में जो मिथ्यावाद चला था, उद्देश्य अच्छा है तो चाहे जिस उपाय से उसकी प्राप्ति कर सकते हैं, उससे बहुत विचार-मंथन हुआ। जब मैंने पूना में उपवास किये थे, तब मन में यह चला कि राजनीति और एथिक्स (नीतिशास्त्र) इनका सम्बन्ध क्या ? इस प्रश्न पर सोचते हुए इस जगह पर आना पड़ा कि एथिक्स से भी पूरा-पूरा उत्तर मिलता नहीं, जब कि मानना होगा कि कोई ऐसा अस्तित्व-शक्ति है, जिसको संक्षेप में ईश्वर कहें। ईश्वर के स्वरूप के बारे में मेरी तो स्थिति ऐसी है कि इस प्रश्न के उत्तर में चुप ही रहना चाहिए। यह तो अनुभूति से ही पता चल सकता है। अगर कोई ऐसी आस्था न हो कि अन्तिम सत्य है, तो जीवन की

कोई धुरा रहेगी नहीं, आदमी को अच्छा होने की आवश्यकता है क्या, इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं मिलेगा।

प्रश्न : आपने कहा है, 'इन्सेन्टिव टु गुडनेस' (अच्छाई के लिए प्रेरणा)।

जे० पी० : हाँ, मैंने यही कहा है। उपवास-काल में मुझे यह अनुभव हुआ कि मटेरिअलिस्ट फिलासफी (भौतिकवाद) से 'इन्सेन्टिव टु गुडनेस' मिल नहीं सकती। किसी भी भौतिकवाद से अच्छाई के लिए कोई भी प्रेरणा मिल नहीं सकती। मैटर (जड़तत्व) क्या है? मैटर भी तो ईश्वर की तरह ही बनता जा रहा है। जिस स्थूल माने में मार्क्सवादी भौतिकवाद मानते हैं, उसमें अच्छाई की प्रेरणा नहीं। मार्क्सवादी ही क्यों, सभी पॉलिटिशियन्स (राजनीतिवाले) इसको मानते हैं, जो उद्देश्य है उसकी प्राप्ति में कुछ भी करने को हिचकिचाते नहीं। मार्क्सवादी कम-से-कम अपने तत्त्वज्ञान पर उसको जस्टिफाइ (प्रमाणित) तो करते हैं, कहते हैं कि हमने ऐसी बात की। लेकिन पॉलिटिशियन्स की ऐसी बात नहीं।

प्रश्न : आप ईश्वर की प्रार्थना करते हैं?

जे० पी० : प्रार्थना लाभदायी तो अवश्य है। पर रोज करता नहीं। आलस्य है, मान लीजिये। पर जब कभी प्रार्थना में बैठता हूँ, उसका स्पर्श जरूर होता है, उससे लाभ भी होता है। कोई साहित्य पढ़ता हूँ उस प्रकार का तब भी लाभ होता है हृदय को। मैं मानता हूँ, निरहंकार रूप से अपना कार्य कोई करे, तो वह प्रार्थना ही है।

प्रश्न : निरहंकार होने के लिए भी तो कुछ प्रयत्न करने पड़ते हैं?

जे० पी० : हाँ, वह तो है ही। निरहंकार होना भी सहज बात नहीं है। पर मैं अपना देखता हूँ कि शायद वह सहज ही था। उसके लिए कुछ किया हो, ऐसा नहीं लगता। बचपन से ही खास कोई आकांक्षा कि मुझे प्रसिद्धि मिले, सत्ता मिले, जिसको एंबिशन कहते हैं, ऐसी रही नहीं। मैंने यह कभी नहीं सोचा कि मैं ऐसा बनूंगा, या वैसा बनूंगा।

प्रश्न : काम करने के पीछे आपकी क्या दृष्टि रहती है?

जे० पी० : काम अच्छी तरह से करना है, यह भाव रहता है। सफल हो ऐसा भी लगता है। लेकिन उससे मुझे प्रसिद्धि मिले, ऐसा नहीं लगता।

प्रश्न : मृत्यु का सामना किस प्रकार से करने की आपकी कल्पना है?

जे० पी० : सामना-वामना क्या करना है, वह आया तो आयेगा, उसका खास भय नहीं। वह कोई दर्शनशास्त्र के कारण नहीं है, ऐसा नहीं। कारण

शायद यह हो कि क्रान्तिकारियों का आकर्षण था, तब मृत्यु का सामना करने की तैयारी थी।

प्रश्न : मरणोत्तर जीवन (लाइफ आफ्टर डेथ) के बारे में आपकी क्या मान्यता है ?

जे० पी० : मृत्यु के बाद, शरीर खतम होने के बाद भी कुछ बचता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न : सर्वोदय-प्रगत-समाज में अध्यात्म का क्या स्वरूप आप मानते हैं ?

जे० पी० : समाज-जीवन में, ग्रामीण जीवन में अध्यात्म का मुख्य प्रकट लक्षण यही हो सकता है, या होना चाहिए कि जो लोग इकट्ठा हैं, कम-से-कम गाँव के लोग, वे एक-दूसरे के लिए चिन्ता करें, एक-दूसरे की सहायता करें, एक-दूसरे के लिए त्याग करने की आवश्यकता हो, तो त्याग भी करें, मेरे सुख में दूसरों का भाग हो, दूसरे के दुःख में मेरा भी भाग हो। गाँव में कुआँ खोदना हो, तो गाँववाले खोदें, किसीका घर बाँधना है, तो गाँववाले मदद करें, बिजली की व्यवस्था करनी है, तो गाँववाले करें। फिर अलग-अलग इंश्युअरन्स होते हैं, वह फिक्र भी गाँववाले ही करें। सोशल सिक्युरिटी (समाज-सुरक्षा) का, वेलफेअर (समाज-कल्याण) का काम आज सरकार करती है, वह समाज स्वयं करे। व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, वह आध्यात्मिक-मानवीय मूल्य होगा।*

●

---

* ब्रह्म-विद्या-मन्दिर, पवनार की बहनों के साथ प्रश्नोत्तर १५-७-'७१।

२२ लोकनीति का विशाल सागर

मुझे ग्राशा है कि इतने विश्लेषण के बाद यह स्पष्ट हो गया होगा कि सत्ता ग्रौर पक्ष की प्रचलित राजनीति मैंने क्यों छोड़ी ग्रौर ग्राज उसकी ग्रपेक्षा कितनी विशाल जनता की राजनीति में मैंने ग्रपने-ग्रापको लगा दिया है । मुझे ऐसी प्रतीति हुई कि मेरे कल्पित ग्रादर्शों की सिद्धि इसी रास्ते ग्रधिक ग्रच्छी तरह हो सकती है । जहाँ हमें जाना है, मानव-कल्याण का जो ध्येय हमें सिद्ध करना है, जैसा मानवीय समाज हमें बनाना है, वह ग्राज की संकीर्ण राजनीति द्वारा सम्भव ही नहीं है ।

मेरी समझ में नहीं ग्राता कि सत्ता में चले जाने मात्र से ही कैसे राष्ट्र की सेवा हो जायगी ? क्या पार्लियामेण्ट में चले जाना या मन्त्री बन जाना ही राजनीति है ? वास्तव में जनता की विशाल राजनीति तो उसके बाहर पड़ी है । मैं ग्रदब के साथ कहना चाहता हूँ कि दूसरे लोग पक्ष ग्रौर सत्ता की राजनीति के कुँए में डुबकी लगा रहे हैं, जब कि मैं जनता की राजनीति–लोकनीति—के विशाल सागर में तैर रहा हूँ ।

···तो शायद जल्दी मेरी बात समझ में आये

प्रत्येक व्यक्ति ग्रपनी विशिष्ट पृष्ठभूमिका से ही चीजों का ग्रवलोकन करता है । मुझे जिन-जिन ग्रनुभवों से गुजरना पड़ा है; जो लोग न तो उन ग्रनुभवों से होकर गुजरे हैं, जिनसे मुझे गुजरना पड़ा है ग्रौर न उन ग्रादर्शों की खोज के पीछे पड़े हैं, जो मेरे ग्रादर्श रहे हैं; सम्भव है, वे मेरी दलीलों की कद्र न करें । समाजवाद या वर्ग-संघर्ष या राजनीतिक ग्रान्दोलन ग्रथवा संसदीय गणतन्त्र का जिन्हें नया-नया जोश है, सम्भव है, वे मेरे ग्राशय को ग्रभी न समझ पायें । ग्रपने विशेष जोश में जब उन्हें कुछ रुकावटों का सामना करना पड़ेगा ग्रौर उन रुकावटों का हल क्या होगा इसकी छानबीन वे करेंगे, तो शायद जल्दी मेरी बात उनकी समझ में ग्राये ।

यह राजनीति मैं देख चुका हूँ !

किन्तु मैं यह सब राजनीति देख चुका हूँ । सामाजिक जीवन में ग्राया तब से ही राजनीति में रहा हूँ । सर्वोदय के क्षेत्र में तो बाद में ग्राया । इसलिए यह

राजनीति मेरे लिए अपरिचित नहीं है। उसके दाँवपेंच tricks of the trade सब मैं जानता हूँ, समझता हूँ। इसलिए मुझे यदि ऐसा लगा होता कि इस देश का प्रधानमन्त्री बनकर मैं कुछ कर सकूँगा तो उसके लिए मुझे क्या करना चाहिए, यह नहीं जानने जितना मैं बुद्धू नहीं हूँ।

आचार्य द्रोण और उनके शिष्यों की बात सभी जानते हैं। वृक्ष पर बैठी चिड़िया की आँख का निशाना लगाना था। अर्जुन ने कहा, मुझे और कुछ नहीं दीखता, केवल चिड़िया ही दीखती है और अब तो मात्र चिड़िया की आँख ही दिखलायी देती है। उसी तरह यदि मेरे जीवन में पक्षी की आँख भारत का प्रधानमन्त्री-पद होता, तो मैं जरूर वह निशाना लगा सका होता। रावण ने कहा कि इन भुजाओं के बल से राज्य बढ़ाया है, वैसे मैं भी यह पद पा सका होता। मेरी नजर यदि पहले से ही उस पद पर होती तो मैं कांग्रेस को न छोड़ता। १६४८ में कांग्रेस छोड़कर अलग समाजवादी पक्ष न बनाता। प्रभावती के कारण गांधीजी से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। बापू के आश्रमवाले मुझे दामाद मानते थे। सन् १६४५ में जेल से छूटने के बाद गांधीजी ने मुझे कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने की बात कही। उनके शब्द अभी भी मुझे याद हैं। उन्होंने कहा कि 'तुम्हारी बहादुरी का लाभ ले लेना चाहता हूँ।'

इसी तरह जवाहरलालजी के साथ भी भाई का रिश्ता था। उन्हें मैं हमेशा 'भाई' ही कहता था। १६५३ में उन्होंने मुझे और मेरे समाजवादी साथियों को केन्द्रीय सरकार में शामिल होने का निमन्त्रण दिया था। इसलिए यदि मैं जवाहरलालजी के बाद इस देश का प्रधानमन्त्री बनना चाहता तो मेरे लिए यह असम्भव नहीं था। प्रधानमन्त्री बनने के लिए मैं भिन्न तरह से व्यवहार करता और इन सब चीजों का लाभ उठा सकता था।

प्रधानमन्त्री बनने से मेरे उद्देश्य पूरे न होते

किन्तु ऐसा कोई विचार ही मेरे मन में नहीं था। मेरी दृष्टि ही कभी वहाँ नहीं थी। इसीलिए, जैसा मैंने आरम्भ में कहा है, चुनाव लड़ने का विचार तक मेरे मन में न आया। किसी भी चुनाव में मैं आज तक कभी खड़ा नहीं हुआ। प्रधानमन्त्री बनने से मेरा उद्देश्य सिद्ध होगा, ऐसा मैंने माना ही नहीं। यह कोई त्याग नहीं है। जान-बूझकर और अपना उद्देश्य सामने रखकर मैंने ऐसा किया है।

संक्षेप में मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि आज मैं जो काम कर रहा हूँ, उसे मैं अपने अब तक के सभी कामों में सबसे अधिक महत्त्व का मानता हूँ। अच्छी

तरह सोचकर, दुनिया में जो सब चलता है, उसे समझ-बूझकर, जिसे राजनीति कहते हैं उसका भी पूरा अनुभव लेकर मैं इस काम में पड़ा हूँ। और यह कार्य मैं कर रहा हूँ, इसका मुझे संतोष है।

इस राजनीति से कुछ नहीं होगा

पक्ष और सत्ता की राजनीति मैंने छोड़ी है, क्योंकि मेरे ख्याल से उससे कुछ बननेवाला नहीं है। यदि कुछ बनेगा भी तो वह वानर बनेगा, विनायक नहीं। मुझे भरोसा है कि लोकनीति से विनायक बनेगा और जरूर बनेगा। उसे हम और आप बनायेंगे। इस देश की जनता बनायेगी, भारत के तरुण बनायेंगे।

लोकनीति पैदा होगी जनश-क्ति के गर्भ से

इस सत्ता और दलगत राजनीति से आज भी जो लोग आशा रखते हैं, वे तो सूखी हड्डियाँ चूस रहे हैं और अपने ही रक्त का आस्वादन कर तृप्त हो रहे हैं। यह राजनीति तो गिर रही है, आगे और भी गिरेगी। टूट रही है, आगे और भी टूटेगी, फूटेगी, छिन्न-भिन्न हो जायगी। तब इसके मलबे के ऊपर एक नयी बुनियाद से नयी राजनीति जनमेगी, जो इससे सर्वथा भिन्न होगी। नाम भी उसका भिन्न होगा। वह लोकनीति होगी, राजनीति नहीं। वह ऊपर से नहीं बनेगी, नीचे से बनेगी; दिल्ली से नहीं, गाँव-गाँव से, मुहल्ले-मुहल्ले से। उसके लिए नूतनतम पार्टी का साइनबोर्ड टाँग देना काफी नहीं होगा और न तो काफी होगा राजनीति के रंगमंच पर एक नूतनतम नेता का अवतरण! वह तो जनशक्ति के गर्भ से पैदा होगी। उस लोकनीति के बीज आज भारत की मिट्टी में घोर तप में लवलीन हैं। उन बीजों को पैदा किया था गांधी ने और भारत की धरती को अपनी पदयात्रा द्वारा बार-बार जोत करके उन्हें बोया है विनोबा ने। और हजारों अज्ञात सेवकों की सेवा उनका सिंचन कर रही है। काश! इस देश के वाणीपुत्र उन बीजों के गान गाते! पर गीत तो गाये जाते हैं पल्लवों के, फूलों के!

'सत्ता द्वारा सेवा' विचार की असारता

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जनता की सेवा के लिए उत्सुक व्यक्तियों का, देश की सेवा कर सकें, इस दृष्टि से सत्ता की ओर दौड़ना कदाचित् स्वाभाविक था; किन्तु मुझे आशा है कि गत वर्षों में 'सत्ता के द्वारा सेवा' की अयोग्यता और असारता का काफी अनुभव इकट्ठा हो गया है, इसलिए सेवा के लिए उत्सुक देश-भक्त व्यक्तियों को बड़ी-से-बड़ी संख्या में अब सर्वोदय के क्षेत्र में आ जाना चाहिए। आज ऐसे सैकड़ों, हजारों लोक-सेवकों की आवश्यकता है।

हमें सेवकों की एक ऐसी फौज खड़ी करनी होगी, जो भारत के लाखों गाँवों में जागृति का सन्देश लेकर फैल जाय। उन्हें लोक-सभा या विधान-सभा में जाने का मोह नहीं होगा। उन्हें कुर्सी की आवश्यकता नहीं होगी, न वे पंचायत में जाना चाहेंगे, न म्युनिसिपैलिटी में। वे जनता के पास वोट माँगने नहीं, बल्कि सेवा करने जायेंगे। बहुत मुसीबत है आज गाँव के लोगों की। शहर के लोगों को यों तो गाँवों में जाने की फुरसत कहाँ मिलती है? लेकिन वोट माँगने के लिए जरूर जाते हैं। जो जाता है, वह वोट ही माँगता है। भोली-भाली जनता समझ भी नहीं पाती कि किसे वोट दिया जाय, ऐसी हालत में इन लोक-सेवकों की सेना बिना वोट माँगे जनता की सेवा करेगी और राष्ट्र-निर्माण का सन्देश देगी। वह समझायेगी कि लोग स्वयं अपना भाग्य अपने हाथ में लें और अपनी इच्छानुसार गढ़ें।

क्या नवयुवक आराम की जिंदगी ही चाहते हैं ?

हमारे देश के युवकों पर यह एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि वे इस अहिंसक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए जी-जान से कोशिश करें। अंग्रेजी राज्य के जमाने में जोशीले नवयुवक सरकारी नौकरियों में जाने से इनकार कर देते थे। बड़ी-बड़ी तनख्वाहों और ऊँचे-ऊँचे अधिकार-पदों का मोह उन्हें नहीं होता था। किन्तु अब तो हमारे नवयुवकों के लिए नौकरी ही मुख्य आकर्षण है। इसमें कोई हर्ज भी नहीं है। लेकिन उनमें से जो अधिक भावनाशील और कम स्व-केन्द्रित हैं, उन्हें यह समझना चाहिए कि दैनन्दिन सरकारी काम जरूरी होने पर भी वे राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते। जिन लोगों के मन में राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाएँ हैं, उन्हें यह समझना चाहिए कि विधान-सभाएँ एवं सरकारें राष्ट्र-निर्माण नहीं कर सकतीं। इसके लिए जनता को जगाना ही पड़ेगा। लोगों के पास पहुँचना, उनके साथ रहना और स्वावलम्बी बनने में उनकी मदद करना सबसे अधिक महत्त्व का काम है।

५६ करोड़ की आबादीवाले इस देश में इस काम के लिए क्या अब कुछ हजार भाई-बहन भी ऐसे नहीं निकलेंगे, जो इतने निःस्वार्थ, इतने साहसी और इतने दूरदर्शी हों कि अपने-आपको इस ऐतिहासिक आन्दोलन में खपा दें? नवयुवक अपना हृदय टटोलें। क्या वे आराम की सुखद जिन्दगी ही चाहते हैं? क्या वे सामाजिक और राजनैतिक चढ़ा-ऊपरी की दौड़ में शामिल होना चाहते हैं? जो इस दौड़ में शामिल हुए हैं, वे आखिर जनता की पीठ पर ही सवार होते हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि इस देश में ऐसे काफी तरुण-तरुणियाँ हैं, जो एक उदात्त ध्येय के लिए कष्टमय और संकटमय जीवन का आलिंगन करेंगे। हमारे देश का आध्या-

त्मिक उत्तराधिकार भी आज ऐसी एक अभिनव क्रान्ति के लिए हमें आह्वान कर रहा है।

अध्यात्म तरुणाई की उत्तुंग उड़ान

इस आह्वान को कौन सुनेगा ? कौन आगे कदम बढ़ायेगा ? भारत का तरुण नहीं तो और कौन यह जिम्मेदारी निभायेगा ? इस देश का अध्यात्म बूढ़ों की वस्तु नहीं, जवानों की वस्तु रही है। जब हृषीकेश ने जीवन के कुरुक्षेत्र में अपूर्व अध्यात्म का पांचजन्य फूंका था, तब वह वृद्ध नहीं, युवा थे, और वह थे सारथी भारत की उत्कृष्ट तरुणाई के रथ के। जब अपनी प्रिया की गोद में नवजात राहुल को सोया हुआ छोड़ सिद्धार्थ अपनी अद्वितीय सांस्कृतिक क्रान्ति के पथ पर चल पड़े थे, तो वह वृद्ध नहीं, युवा थे। अद्वैत के अनन्यतम शोधक शंकर ने जब अपनी दिग्विजय-यात्रा की थी, तब वे वृद्ध नहीं, युवा ही थे। विवेकानन्द ने शिकागो के रंगमंच पर जब वेदान्त के सार्वभौम धर्म का उद्घोष किया था, तब वे वृद्ध नहीं, युवा थे। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के दावानल में कूदकर जब अध्यात्म का आग्नेय प्रयोग किया था, तब वे वृद्ध नहीं, युवा थे। अध्यात्म बुढ़ापे की बुढ़भस नहीं है, तरुणाई की उत्तुंगतम उड़ान है।

इसलिए जिस अभिनव सांस्कृतिक क्रान्ति की ओर मैंने इंगित किया है, उसके सैनिक और सेनापति तरुण ही हो सकते हैं। इस सांस्कृतिक क्रान्ति के बिना भारत का एवं भारतीयता का बचना दुष्कर प्रतीत हो रहा है। यह मानवीय क्रान्ति होगी, आन्तरिक क्रान्ति होगी—ऐसी क्रान्ति, जिसमें भारत का अध्यात्म व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में उतर जायगा। तब व्यक्ति अपने हितों का दर्शन समूह के हितों में करने लगेगा और वैसा ही जीवन जीने लगेगा। उस क्रान्ति के बिना न समाजवाद आ सकेगा, न साम्यवाद ! सर्वोदय तो उसी क्रान्ति का दूसरा नाम है।

यह आरोहण की एक प्रक्रिया

व्यक्ति समूह के लिए जीये और समूह व्यक्ति के लिए, यह एक दिन में नहीं होगा। कोई भी क्रान्ति एक दिन में नहीं होती। विध्वंस एक दिन में हो सकता है, नव-निर्माण नहीं। इसलिए हमारी यह अभिनव क्रान्ति आरोहण की एक प्रक्रिया होगी। इस कठिन चढ़ाई में तरुणों को ही तो आगे आना होगा।

सन्दर्भ-तालिका

(प्रकरणानुसार)

[प्रत्येक प्रकरण किन भाषणों, लेखों, पुस्तकों आदि से तैयार किया गया है, उसकी तालिका दी जा रही है। इसमें पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों अथवा स्थलों तथा दिनांकों का निर्देश है। तालिका में प्रयुक्त शब्दों की संक्षिप्त परिचय-सूची इस प्रकार है।]

प्र० = प्रस्तावना
भू० = 'भूमिपुत्र' (गुजराती दशवारिक)
मैत्री = 'मैत्री' (हिन्दी मासिक)
टाइम्स = 'The Times of India' (अंग्रेजी दैनिक)
हिन्दु० टा० = 'The Hindustan Times' (अंग्रेजी दैनिक)
थॉट = 'Thought' (अंग्रेजी साप्ताहिक)
ग्रा० अपील = ग्रामस्वराज कोष अपील
विदेश-यात्रा = 'मेरी विदेश-यात्रा'
समाजवाद = 'समाजवाद से सर्वोदय की ओर'
ग्रामदान = 'ग्रामदान और देश की समस्याएँ'
सा० हिंसा = 'साम्प्रदायिक हिंसा'
नागालैण्ड = 'नागालैण्ड का सवाल'
चम्बल की बन्दूकें = 'चम्बल की बन्दूकें गांधी के चरणों में'
टैंक = 'टैंक बनाम लोक'
गीता = 'Talks on the Gita'
न्यू फॉर्म्स = 'New Forms of Ownership in Industry'
ह्यूमन वेल्यूज = 'Human Values & Technological Change'
सोशियल रिस्पो० = 'Social Responsibilities of Business'

१

बोधगया १६-४-'५४
भू० १-७-'५४
वल्लभविद्यानगर २०-११-'५४
जीवनदान १९५५
समाजवाद···१९५७
यूरोप-यात्रा १९५८
ब्लूम्सबरी (इंग्लैण्ड) ७-६-'५८
थॉट, जुलाई १९५८
सेवाग्राम २७-३-'६०

वेड़छी २२-११-'६२
भू० १६-२-'६३
पटना ३०-१-'६५
बलिया १२-४-'६६
बारडोली ५-६-'६६
मैत्री, सितम्बर १९६६
वाराणसी ३१-१०-'६७
भू० १६-१-'७०
ग्रा० अपील, अप्रैल १९७०

२

समाजवाद·· १९५७

प्रिन्स्टन (अमेरिका) १९६८

३

समाजवाद·· १९५७
लन्दन १९५८
भू० १६-७-'६७
पटना २४-१-'६८
भू० १६-११-'६८

अहमदाबाद ८-४-'६९
अहमदाबाद ९-४-'६९
अहमदाबाद १०-४-'६९
भू० १६-१-'७०
भ्रान्ति अने क्रान्ति १९७०

४

जीवनदान १९५५
समाजवाद·· १९५७
भू० २६-४-'५९
वड़ोदरा २-१०-'५९
भू० २६-१०-'६६
भू० १६-७-'६७
पटना २४-१-'६८

भू० १६-११-'६८
अहमदाबाद ८-४-'६९
अहमदाबाद ९-४-'६९
अहमदाबाद १०-४-'६९
भू० १६-१-'७०
भ्रान्ति अने क्रान्ति १९७०

५

जीवनदान १६५५
चेब्रोलु १८-४-'६१
रायपुर २४-१२-'६३
कौग्राकोल ३०-१-'६४
ग्रामदान · · १६६५
मुजफ्फरपुर ४-६-'६५
सणोसरा १६-१०-'६५
बलिया १२, १५-४-'६६
बलिया १७-४-'६६
अहमदाबाद १०-४-'६६
राजगृही २४, २६-१०-'६६
भू० १६-१-'७०
ग्रा० अपील, अप्रैल १६७०
भ्रान्ति अने क्रान्ति १६७०
डुमरा १२-४-'७१

६

वल्लभविद्यानगर २०-११-'५४
जीवनदान १६५५
प्र० ह्युमन वेल्यूज · · १६५७
समाजवाद · · १६५७
विदेश-यात्रा १६६०
बम्बई २०-८-'६४
ग्रामदान · · १६६५
प्र० शाणो समाज १६६६
भाणगाँव ५-४-'५८
अजमेर २७-२-'५६
भू० १६-५-'५६
भू० १६-१-'७०
सेवाग्राम ४-१०-'७०

७

भू० १५-३-'५६
कांचीपुरम् २६-५-'५६
समाजवाद · · १६५७
विदेश-यात्रा १६६०
गया ११-६-'६३
प्र० शाणो समाज १६६६
भू० १६-११-'६८
अहमदाबाद ८-४-'६६
प्र० तीसरी शक्ति १६६६
भू० १६-१-'७०
भू० १६-५-'७०

८

जीवनदान १६५५
समाजवाद · · १६५७
अजमेर २७-२-'५६
विदेश-यात्रा १६६०
चेब्रोलु १८-४-'६१
भू० १६-२-'६३
रायपुर २४-१२-'६३
मुजफ्फरपुर ४-६-'६५

ग्रामदान·· १९६५	अहमदाबाद ९-४-'६९
सणोसरा १९-१०-'६५	अहमदाबाद १०-४-'६९
बारडोली ४-६-'६६ (१)	तिरुपति २४-४-'६९
बारडोली ४-६-'६६ (२)	भू० १६-१-'७०
वाराणसी ३१-१०-'६७	भू० १६-५-'७०

९

जीवनदान १९५५	गिरिडीह १९-७-'६८
समाजवाद·· १९५७	अहमदाबाद ८-४-'६९
बारां १९-११-'५७	अहमदाबाद ९-४-'६९
टाइम्स २०-३-'५८	अहमदाबाद १०-४-'६९
यूरोप-यात्रा १९५८	तिरुपति २४-४-'६९
थॉट, जुलाई १९५८	भू० १६-१-'७०
विदेश-यात्रा १९६०	भ्रान्ति अने क्रान्ति १९७०
लोकस्वराज्य १९६१	भू० २६-१-'७१
कौआकोल ३०-१-'६४	नरसिंहपुर १८, २२-३-'७१
बलिया १२, १५-४-'६६	नासिक ७-५-'७१
बलिया १७-४-'६६	नासिक ८-५-'७१
प्र० शाणो समाज १९६६	भोपाल २५-१०-'७१
शिवरामपल्ली २७-४-'६७	

१०

बारां १९-११-'५७	बारडोली २४-११-'६८
भू० २६-४-'५९	अहमदाबाद ८-४-'६९
भू० ६-५-'५९	अहमदाबाद ९-४-'६९
विदेश-यात्रा १९६०	तिरुपति २४-४-'६९
सेवाग्राम २७-३-'६०	साबरमती १७-११-'६९
भू० ६-२-'६३	भू० १६-१-'७०
गया ११-९-'६३	सलहा २४-६-'७०
ग्रामदान·· १९६५	पटना ६-८-'७०
भू० २६-१०-'६६	भ्रान्ति अने क्रान्ति १९७०
भू० १६-११-'६८	नरसिंहपुर १८, २२-३-'७१

११

अहमदाबाद ६-४-'६६
तिरुपति २४-४-'६६
भू० १६-१-'७०
फैजाबाद ४-५-'७०
सलहा २४-६-'७०
भू० २६-६-'७०
सेवाग्राम २-१०-'७०
सेवाग्राम ४-१०-'७०
भ्रान्ति अने क्रान्ति १६७०
शेरपुर २३-२-'७१
नासिक ८-५-'७१

१२

जीवनदान १६५५
सा० हिंसा १६६४
सणोसरा १६-१०-'६५
मैसूर २६-११-'६५
ग्रामदान·· १६६५
भू० १६-७-'६७
सेवाग्राम २-६-'६७
आबू ६-६-'६८
अहमदाबाद ८-४-'६६
अहमदाबाद १०-४-'६६
राजकोट २५-७-'६६
साबरमती १७-११-'६६
सेवाग्राम ४-१०-'७०
पटना १४-११-'७०
भ्रान्ति अने क्रान्ति १६७०

१३

भू० १६-३-'५६
भू० ६-४-'६०
भू० १६-४-'६०
पटना ११-४-'६२
मुजफ्फरपुर ४-६-'६५
बलिया १५-४-'६६
बलिया १७-४-'६६
बारडोली ४-६-'६६
सेवाग्राम २-६-'६७
गिरिडीह १६-७-'६८
तिरुपति २४-४-'६६
राजकोट २५-७-'६६
सेवाग्राम ४-१०-'७०
भ्रान्ति अने क्रान्ति १६७०
नरसिंहपुर १८, २२-३-'७१
नासिक ८-५-'७१

१४

भू० १६-४-'६०
बलिया १७-४-'६६
राजगृही २४-१०-'६६
ग्रा० अपील, अप्रैल १६७०
भू० २६-६-'७०
सलहा २४-६-'७०

पटना ६-८-'७०
सेवाग्राम २-१०-'७०
सेवाग्राम ४-१०-'७०
भ्रान्ति अने क्रान्ति १९७०
ग्रामसभाना ११ संकल्प १९७०
नरसिंहपुर १८, २२-३-'७१
रोहुआ १८-४-'७१
सिताबदियारा २४-४-'७१
सिताबदियारा २५-४-'७१
नासिक ७-५-'७१
नासिक ८-५-'७१
भोपाल ३०-१०-'७१
पटना २९-१२-'७१

१५

जीवनदान १९५५
भू० १५-६-'५६
बलिया १७-४-'६६
राजकोट २५-७-'६९
सिताबदियारा २४-४-'७१
भोपाल २८-१०-'७१
भोपाल ३०-१०-'७१

१६

मैसूर २९-११-'६५
बलिया १७-४-'६६
प्रिन्स्टन (अमेरिका) १९६८
आबू ६-६-'६८
अहमदाबाद १२, १८-११-'६९
नरसिंहपुर १८, २२-३-'७१

१७

भू० १-१२-'५४
बारां १९-११-'५७
समाजवाद··· १९५७
चेब्रोलु १८-४-'६१
मुजफ्फरपुर ४-६-'६५
सणोसरा १९-१०-'६५
मैत्री, सितम्बर १९६६
सेवाग्राम ४-९-'६७
अहमदाबाद १०-४-'६९
राजकोट २५-७-'६९
राजगृही २६-१०-'६९
भू० १६-१-'७०
ग्रा० अपील, अप्रैल १९७०
भोपाल ३०-१०-'७१
प्र० गीता १९५७

१८

समाजवाद··· १९५७
वडोदरा २-१०-'५९
वडोदरा ३-१०-'५९
गुजरात-यात्रा, जनवरी १९६३
कश्मीर-समस्या १९६४
गुजरात-यात्रा १५, १९-८-'६४

पूना २२-८-'६४
कलकत्ता १८-१०-'६४
वाईगाई १९-११-'६४
सा० हिंसा १९६४
कलकत्ता १८-१२-'६४
अहमदाबाद १८-६-'६५
निवेदन १९-७-'६५
ग्रामदान··· १९६५
नागालैण्ड·· १९६५
भू० ६-२-'६६
बारडोली ५-६-'६६
वाराणसी ३१-१०-'६७
प्र० टैंक···१३-२-'६९
अहमदाबाद १२, १८-११-'६९
नयी दिल्ली १६-३-'७१
सिताबदियारा २७-३-'७१
पटना २-४-'७१
रोहुआ १८-४-'७१
नासिक ८-५-'७१
नयी दिल्ली २९-६-'७१
बम्बई २०-७-'७१
भू० १६-८-'७१
हिन्दु० टा०, अक्तूबर १९७१
भू० १६-१२-'७१
पटना १७-१२-'७१

१९

भू० १-१२-'५४
विजयवाडा १९-१२-'५५
भू० १५-३-'५६
कलकत्ता १, ४-३-'५८
काशी २१, २४-३-'५८
हटुंडी २२-२-'५९
विदेश-यात्रा १९६०
प्र० न्यू फॉर्म्स··२१-१०-'६२
सोशियल रिस्पो०··· १९६६
कलकत्ता ३-३-'७०
भू० १६-५-'७०
बँगलोर ९-७-'७२

२०

चम्बल की बंदूकें·· १९७२
पगारा कैम्प १४-४-'७२
भू० १६-४-'७२
भू० २६-४-'७२
बम्बई २६-४-'७२
नयी दिल्ली १२-५-'७२
ग्वालियर १-६-'७२
ग्वालियर ३-६-'७२
भू० १६-६-'७२
बँगलोर ११-७-'७२
धर्मयुग २८-५-'७२

२१

पवनार १५-७-'७१

२२

जीवनदान १९५५	पटना २४-१-'६८
समाजवाद··· १९५७	सलहा २४-६-'७०
विदेश-यात्रा १९६०	कलकत्ता ८-११-'७०
लोकस्वराज्य १९६१	सिताबदियारा २४-४-'७१
बारडोली ५-६-'६६	नासिक ८-५-'७१

●

हमारा लोकनीति-साहित्य

लोकनीति (नवसम्पादित)	विनोबा	२.००
सर्वोदय और साम्यवाद	,,	२.००
सर्वोदय-विचार व स्वराज्य-शास्त्र	,,	१.२५
सर्वोदय-दर्शन	दादा धर्माधिकारी	५.००
अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया	,,	४.००
लोकनीति-विचार	,,	२.००
लोकतन्त्र : विकास और भविष्य	,,	२.००
लोक-स्वराज्य	जयप्रकाश नारायण	०.६०
आजादी खतरे में	,,	०.४०
आमने-सामने	,,	०.७५
सामुदायिक समाज : रूप और चिन्तन	,,	७.००
देश की समस्याएँ और ग्रामदान	,,	१.००
समाजवाद से सर्वोदय की ओर	,,	(प्रेस में)
तूफान-यात्रा (विनोबा-यात्रा डायरी)	सुरेशराम	३.००
आजादी की मंजिलें	मार्टिन लूथर किंग	४.००
विनोबा की पाकिस्तान-यात्रा	चारुचन्द्र चौधरी	२.००
आँखों देखा हाल		१.५०
समग्र ग्राम-सेवा की ओर (तीन खण्ड)	धीरेन्द्र मजूमदार	६.००
ग्रामदान : शंका-समाधान	,,	२.००
गाँव-आन्दोलन क्यों ?	जो० कॉ० कुमारप्पा	२.५०
स्थायी समाज-व्यवस्था	,,	२.५०
ऋषि विनोबा	श्रीमन्नारायण	७.००
विनोबा और सर्वोदय-क्रान्ति	काका कालेलकर	५.००
कुमारप्पा : जीवन, व्यक्तित्व और विचार		४.००
सोनार बांगला	नारायण देसाई	४.००
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्	,,	४.००
क्रान्ति का समग्र दर्शन	इन्दु टिकेकर	३.००
जहाँ चीनी सेना ने कब्जा किया था	कुसुम नारगोलकर	२.५०
क्रान्ति का अरुणोदय	हरिवल्लभ परीख	२.००
लोक-यात्रा	हरिश्चन्द्र	२.००
ट्रस्टीशिप : सिद्धान्त और व्यवहार	नरेन्द्र दुबे	(प्रेस में)
ग्रामीण हिंसा : एक अध्ययन	अवधप्रसाद	(प्रेस में)

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

सर्व सेवा संघ
प्रकाशन
राजघाट · वाराणसी

जयप्रकाशजी की अन्य रचनाएं

सामुदायिक समाज : रूप और चिन्तन

समाजवाद से सर्वोदय की ओर

देश की समस्याएँ और ग्रामदान

आमने सामने

आजादी खतरे में

लोक-स्वराज्य

मेरी विदेश-यात्रा

सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट · वाराणसी

मूल्य : चार रुपया

पुस्तकालय संस्करण : छह रुपया